आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० — मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्यमुनिना विरचितः

:o:

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

:o:

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००

मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

———:o:———

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

———:o:———

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

ओ३म्

॥ आर्य्यमन्तव्यप्रकाश की भूमिका ॥

"**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते**" इत्यादि वेद मंत्रों के आशयको भूलकर जिस समय भारतसन्तान अविद्या की उपासना करने लगी, उस आविद्यक समय में वह कौन वस्तु है जो भारतसन्तान का पूजनीय देव नहीं बना, वह कौन वस्तु है जिसके आगे धन जन की प्रार्थना भारतसन्तान ने नहीं की ? "**आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजा पशु वसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वन्नो देहि वनस्पते**" ॥ इत्यादि श्लोकों से आयु, बल, यश, ब्रह्म तेज, और प्रजा पशु धनादि की प्रार्थना वनस्पतियों से की जाती थी। "**वसुधे हेमगर्भासि शेषस्योपरिशायिनी । पूजार्थं देहि मे स्थानं**" इत्यादिकों से, जड़ पृथिवी से प्रार्थना एवं सब वस्तुओं की प्रार्थना आर्य्यसन्तान करती थी ।

वैदिक मंत्रार्थ की ऐसी अव्यवस्था थी कि पञ्चदेवों की गायत्री भिन्न २ थी । विष्णुगायत्री, गणेशगायत्री, शिवगायत्री, दुर्गागायत्री, सूर्य्यगायत्री, एवं एक ब्रह्मोपासना विधायक ब्रह्मगायत्री में सैकड़ों भेद करदिये गए थे । "**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" इस मंत्र से नारायणदेव की, "**गणानान्त्वागणपति०**" इस से गणेश की, "**त्र्यम्बकं यजामहे**" इस से शिव की, "**अम्बे अम्बालिके**" इससे दुर्गा की, "**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः**" इससे सूर्य्य की उपासना की जाती थी । उक्त पञ्च देवों की पूजाही

नहीं प्रत्युत " **नमः शम्भवाय च मयोभवाय च**" इत्यादि मंत्रों में वर्णित सर्व को सुख करनेवाले शङ्कर परमात्मा सबके कल्याण-कारी की वैदिक मंत्रों से मृण्मय पूजा विधान की जाती थी, "**अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरतरेभ्यः सर्वतः सर्व सर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः स्वाहा**" इत्यादि मन घड़त मंत्र बनाकर मिट्टीके शिवलिङ्ग बनाके पूजे जाते थे। "**ओ३म् तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्" ओम् महेश्वराय नमः** इत्यादि मंत्र बनाकर यजुर्वेदीय शिवपूजा विधान की जाती थी, "**शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः**" इत्यादि अथर्ववेदीय मंत्रों को (नः) हमारे पितरों को आप जलसे तृप्त करें, कोई पितृतर्पण में, कोई जड़ जल की उपासना में लगाता था, "**त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः**" इत्यादि सामवेदीय मंत्रों को अग्निपूजा में लगाया जाता था, एवं "**अग्निमीडे पुरोहितं**" इस मंत्र से लेकर सम्पूर्ण ऋग्वेद को अग्न्यादि जड़ देवताओं की पूजामें लगाया जाता था॥

इतना ही नहीं, "**त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्**" विष्णु व्यापक गोपा पृथिवी को पालन करने वाले व्यापक ईश्वर की त्रिपादरूप महिमा को बलि राजा को छलनेवाले पौराणिक ईश्वर में लापन किया जाताथा।

इस घोर मिथ्यार्थ के समय में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सोचा कि यह क्या? कहां "**तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" यह वैदिक उच्च सिद्धान्त, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि उस विष्णु परमात्मा के (पद) स्वरूप को सदसद् विवेकी विद्वान् ही देख सकते हैं, और कहां यह आधुनिक भारत सन्ता-

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

—:o:—

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

—:o:—

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००

मूल्यम् १)

ओ३म्

॥ आर्य्यमन्तव्यप्रकाश की भूमिका ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" इत्यादि वेद मंत्रों के आशयको भूलकर जिस समय भारतसन्तान अविद्या की उपासना करने लगी, उस आविद्यक समय में वह कौन वस्तु है जो भारतसन्तान का पूजनीय देव नहीं बना, वह कौन वस्तु है जिसके आगे धन जन की प्रार्थना भारतसन्तान ने नहीं की ? **"आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजा पशु वसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञाश्च मेधाश्च त्वन्नो देहि वनस्पते"** ॥ इत्यादि श्लोकों से आयु, बल, यश, ब्रह्म तेज, और प्रजा पशु धनादि की प्रार्थना वनस्पतियों से की जाती थी। **"वसुधे हेमगर्भासि शेषस्योपरिशायिनी। पूजार्थं देहि मे स्थानं"** इत्यादिकों से, जड़ पृथिवी से प्रार्थना एवं सब वस्तुओं की प्रार्थना आर्य्यसन्तान करती थी ।

वैदिक मंत्रार्थ की ऐसी अव्यवस्था थी कि पञ्चदेवों की गायत्री भिन्न २ थी । विष्णुगायत्री, गणेशगायत्री, शिवगायत्री, दुर्गागायत्री, सूर्य्यगायत्री, एवं एक ब्रह्मोपासना विधायक ब्रह्मगायत्री में सैकड़ों भेद करादिये गए थे । **"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"** इस मंत्र से नारायणदेव की, **"गणानान्त्वागणपति०"** इस से गणेश की, **"त्र्यम्बकं यजामहे"** इस से शिव की, **"अम्बे अम्बालिके"** इससे दुर्गा की, **"आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः"** इससे सूर्य्य की उपासना की जाती थी । उक्त पञ्च देवों की पूजाही

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

—:o:—

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

—:o:—

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशि[illegible]

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००
मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००

मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० } { मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः

अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः

पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना

पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

:o:

सोऽयं

ग्रन्थकर्त्रा

अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः

:o:

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

———:o:———

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

———:o:———

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००

मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

---:o:---

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

---:o:---

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० } { मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

—:o:—

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशि[illegible]

—:o:—

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५०० | मूल्यम् १)

आर्यमन्तव्यप्रकाशः

वेदादिसच्छास्त्रप्रमाणगर्भितः
अकाट्यप्रबलयुक्तिभिर्बृंहितः
पौराणिकाधुनिकमतसमीक्षासमन्वितः

पञ्जाबदेशान्तर्गतलाहौरनगरवासिना
पण्डितवर्य्यार्य्यमुनिना विरचितः

—:o:—

सोऽयं
ग्रन्थकर्त्रा
अजमेरस्थवैदिकयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः

—:o:—

संवत् १९५९ मार्गशीर्ष

प्रथमवारम् ५००

मूल्यम् १)

है "करणग्रामसाम्ये चाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्" "ईश्वरस्यापि किञ्चिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात् नच तद्वर्णयितुं शक्यते सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक् सृष्टेस्तदनुपपत्तेः" इत्यादि भाष्य में अति प्रबलता से ईश्वर के शरीरधारी होने का खण्डन किया गया है यही भाव दिग्विजय के अक्षर अक्षर से झलकता है। स्वामी शङ्कर में यह बल था कि वह पौराणिक पङ्क से पार हो जाते थे जैसे कि स्मृतिपाद प्रथमसूत्र में कपिल का खण्डन करते यह दर्शाया है कि वेद विरुद्ध वादकर्ता कोई भी क्यों न हो उसकी किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये इसी बल से स्वामी शङ्कर ने बौद्धमत का खण्डन किया अन्यथा कब सम्भव था कि पुराणों के ईश्वर बुद्ध का स्वामी शङ्कर खण्डन करते ॥ श्वेताश्वतर अ० ५ श्लो० २ में कपिल का नाम आया है "ऋषिंप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानञ्च पश्येत्" इस श्लोक में स्वामी शङ्कर ने कपिल को अवतार नहीं माना, और श्लोक का आशय भी यही है कि जिसने कपिल को ज्ञानी बनाया। पर स्वामी शङ्कर ने तो शारीरक भाष्य में इस बात को यहां तक स्पष्ट करदिया है कि धर्मानुष्ठान पूर्वक ही कपिलादिकों की सिद्धि थी फिर धर्म से विरुद्ध यदि कपिलादि कहें तो कैसे मन्तव्य हो सक्ता है? "न सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्" "धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः" इत्यादि भाष्य से यह सिद्ध कर दिया है कि धर्मानुष्ठान करने से कपिल सिद्ध था, हम यहां पौराणिक भ्राताओं से पूछते हैं कि अवतार भी धर्मानुष्ठान करने से सिद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं? कपिल और बुद्ध अवतार थे तो स्वा-

ओ३म्

॥ आर्य्यमन्तव्यप्रकाश की भूमिका ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" इत्यादि वेद मंत्रों के आशयको भूलकर जिस समय भारतसन्तान अविद्या की उपासना करने लगी, उस आविद्यक समय में वह कौन वस्तु है जो भारतसन्तान का पूजनीय देव नहीं बना, वह कौन वस्तु है जिसके आगे धन जन की प्रार्थना भारतसन्तान ने नहीं की ? "**आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजा पशु वसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वन्नो देहि वनस्पते**" ॥ इत्यादि श्लोकों से आयु, बल, यश, ब्रह्म तेज, और प्रजा पशु धनादि की प्रार्थना वनस्पतियों से की जाती थी। "**वसुधे हेमगर्भासि शेषस्योपरिशायिनी । पूजार्थं देहि मे स्थानं**" इत्यादिकों से, जड़ पृथिवी से प्रार्थना एवं सब वस्तुओं की प्रार्थना आर्य्यसन्तान करती थी ।

वैदिक मंत्रार्थ की ऐसी अव्यवस्था थी कि पञ्चदेवों की गायत्री भिन्न २ थीं । विष्णुगायत्री, गणेशगायत्री, शिवगायत्री, दुर्गागायत्री, सूर्य्यगायत्री, एवं एक ब्रह्मोपासना विधायक ब्रह्मगायत्री में सैकड़ों भेद करदिये गए थे । "**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" इस मंत्र से नारायणदेव की, "**गणानान्त्वागणपति०**" इस से गणेश की, "**त्र्यम्बकं यजामहे**" इस से शिव की, "**अम्बे अम्बालिके**" इससे दुर्गा की, "**आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः**" इससे सूर्य्य की उपासना की जाती थी । उक्त पञ्च देवों की पूजा ही

नहीं प्रत्युत " **नमः शम्भवाय च मयोभवाय च**" इत्यादि मंत्रों में वर्णित सर्व को सुख करनेवाले शङ्कर परमात्मा सबके कल्याण-कारी की वैदिक मंत्रों से मृण्मय पूजा विधान की जाती थी, "**अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरतरेभ्यः सर्वतः सर्व सर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः स्वाहा**" इत्यादि मन घड़त मंत्र बनाकर मिट्टीके शिवलिङ्ग बनाके पूजे जाते थे। "**ओ३म् तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्**" **ओम् महेश्वराय नमः** इत्यादि मंत्र बनाकर यजुर्वेदीय शिवपूजा विधान की जाती थी, "**शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः**" इत्यादि अथर्ववेदीय मंत्रों को (नः) हमारे पितरों को आप जलसे तृप्त करें, कोई पितृतर्पण में, कोई जड़ जल की उपासना में लगाता था, "**त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः**" इत्यादि सामवेदीय मंत्रों को अग्निपूजा में लगाया जाता था, एवं "**अग्निमीडे पुरोहितं**" इस मंत्र से लेकर सम्पूर्ण ऋग्वेद को अग्न्यादि जड़ देवताओं की पूजामें लगाया जाता था ॥

इतना ही नहीं, "**त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्**" विष्णु व्यापक गोपा पृथिवी को पालन करने वाले व्यापक ईश्वर की त्रिपादरूप महिमा को बलि राजा को छलनेवाले पौराणिक ईश्वर में लापन किया जाताथा।

इस घोर मिथ्यार्थ के समय में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सोचा कि यह क्या ? कहां "**तद्विष्णोःपरमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" यह वैदिक उच्च सिद्धान्त, जिसमें यह वर्णन किया गया है कि उस विष्णु परमात्मा के (पद) स्वरूप को सदसद् विवेकी विद्वान् ही देख सकते हैं, और कहां यह आधुनिक भारत सन्ता-

न की नीचगति कि कहीं मृण्मय शिव पूजे जाते हैं और "**सर्वाधारधरे देवी त्वद्रूपां मृत्तिकामिमाम् । ग्रहीष्यामि प्रसन्ना त्वं लिङ्गार्थं भवशोमना**" इत्यादि श्लोकों से शिवलिङ्ग निर्म्माण के लिये पृथिवी से मिट्टी लेते समय उक्त प्रार्थना की जाती है कि हे देवी सर्वाधार ! तू इस शिवलिङ्ग के लिये शोभावाली हो । इस महामिथ्यार्थ के समय में उक्त निराकार विष्णु के पद को हृदय में धारण कर के अन्तर्ध्यान होकर महर्षि ने जब सोचा तो ज्ञात हुआ कि भारतसन्तान की बुद्धिरूपी नौका मिथ्यार्थ सागर में डूब रही है, इस नौका के नेता ऐसे स्वार्थी हैं कि नौका डूबने पर भी यात्रीरूप भारत सन्तान को लूटने को ही तैयार हैं, इस अवस्था में स्वामी दयानन्द ने उन स्वार्थी नाविकों को ललकारा और हृदय में यह धारा कि इस मिथ्यार्थसागर से भारतसन्तान की नौका पार करें। सचमुच ऐसाही हुआ कि उक्त महर्षि के सत्यार्थ व्याख्यान करने पर मिथ्यार्थसागर के घुमड़घेर रूप भँवर से यह नौका तैर निकली, सब लोग अपनी २ जगह सत्यार्थ अनुसन्धान करने लगे, मिथ्या गपोड़े छोड़कर सच्छास्त्रों का मान करने लगे, व्यापक विष्णु के परमपद रूप स्वरूप का ध्यान करने लगे । इस अवस्था को जब मिथ्यार्थ सागर के मगर मच्छों ने देखा कि हमारे आहाररूपी भारतसन्तान की नौका मिथ्यार्थ सागर की लहरों से बच कर चल निकली है तो फिर पूर्ववत् मुख फैला दिये और फिर उस मिथ्यार्थ सागर की लहरों को द्विगुण करने की चेष्टा की गई, इनमें से किसी स्वार्थी ने "महताब दिवाकर" बनाकर महर्षि दयानन्दजी के सत्यार्थों को मिथ्या दोष लगाए, किसीने "सत्यार्थविवेक" नामक पुस्तक बनाकर उक्त मिथ्यार्थ सागर की लहरों को बढ़ाया, किसी ने नाम मात्र का "तिमिरभास्कर" बनाकर उक्त नौका को मिथ्यार्थ

रूप भार से ऐसा भारी किया कि कल डूबती आजही डूबे, किसी ने "अबोधध्वान्त" बनाकर लोगों की आंखों में ऐसी धूल डालने की चेष्टा की ताकि अपने लक्ष्य को नाविक लोग कदापि न देख सकें।

उक्त अज्ञानान्धकारावृत नौका के यात्रियों की इस दशा को देखकर कि "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ गीता० ४। ४०॥

अज्ञानी और श्रद्धारहित लोग नाश को प्राप्त होते हैं और संशयात्मा के लिये तो न यह लोक है और नाहीं परलोक अर्थात् दोनों लोकों से विभ्रष्ट होकर संशयात्मा नाश को प्राप्त हो जाता है। इस तीन प्रकार की भारतसन्तान की दशा को देखकर किसको कष्ट नहीं होता, पर क्या किया जाय, आज कल तो भारत उक्त संशय सागर में ऐसे गोते खा रहा है कि कोई अपने आचार में संशय करता है, कोई व्यवहार में, कहां तक कहा जाय जो एक मात्र संशयान्धतम का उच्छेदक वेद भगवान् सूर्य्य के समान स्वतःप्रकाश था उस वेद को भी, "त्वाराब्धिमथने येन धृतः पृष्ठे महीधरः। देवैरत्नानि लब्धानि तस्मै कूर्म्मात्मनेनमः" ॥ अर्थ-दूध के समुद्र मथन के समय में जिसने मन्दराचल पर्वत को अपनी पीठ पर उठाया और देवताओं ने समुद्र मथन से रत्न लाभ किये ऐसे कूर्म्म भगवान् को नमस्कार है। ऐसे मन्तव्यों का भण्डार उस वेद को बनाया जाता है, फिर वह वेद संशय सागर क्यों न हो, दूध दधि के समुद्र की बुद्धि हमारे पौराणिक भाइयों को स्यात् संशय उत्पन्न न कर सके, पर और कौन सारग्राही ऐसा हो सकता है जो उक्त दूध दही के समुद्रादिकों में प्रकृतिविरुद्ध होने का संशय न करे।

अस्तु, मिथ्यार्थसागर के मगर मच्छों को क्या, यदि भारत सं-

तान की नौका इस मिथ्यार्थ सागर में डूबी तो लाभ ही लाभ है इसी अभिप्राय से वेदों पर ऐसा लिटरेचर लिखते जाते हैं। कोई सहस्रबाहु शब्द वेद में आजाने से उसके शत्रु परशुराम की सिद्धि वेदों से कर लेता है, कोई आकर्षक अर्थ में अथवा धूमार्थ में कृष्ण शब्द वेदों में आजाने से कृष्णावतार सिद्ध कर बैठता है, कोई बराह शब्द आजाने से बराह पुराण का आशय वेदों से निकालता है, कोई कूर्म शब्द से कूर्मावतार पर समुद्र मथन का भार देता है, और उस समय **"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०"** इत्यादि निराकार ईश्वर का सर्वाधार होने का विचार चित्त से सर्वथा उठा देता है। एवं सहस्रों अनर्थ करके वेदों को पौराणिक पहनावा पहराया जाता है, इस मिथ्यार्थतिमिरतिरोहित भारत नौका के यात्रियों के अज्ञानतिमिरविनाशार्थ **"आर्य्य मन्तव्य प्रकाश"** निर्म्माण किया जाता है। जिस के निम्नलिखित आठ समुल्लास हैं:—

प्रथम में—आर्य्यमन्तव्य प्रदर्शन किया गया है कि प्राचीन आर्य्यों के क्या २ मन्तव्य थे।

दूसरे में—अर्थाभास दिखलाया गया है, कि किन२ अर्थाभासों से स्वार्थी लोगों ने स्वार्थ सिद्ध किया है और सायण महीधर के समय में उन मंत्रों के क्या २ अर्थ किये जाते थे।

तीसरे में—मिथ्यार्थ समीक्षण किया है, जिसमें आधुनिक पौराणिक भावों का भली भांति समीक्षण किया गया है।

चौथे में—तर्क का निरीक्षण किया है, इस में जो आजकल पौराणिक भावों के मण्डनार्थ तर्क दिये जाते हैं उनका निरीक्षण किया है और जिन२ तर्कों से निर्विकार ईश्वर को रासलीला विहारलीलादि के दोष लगाए जाते हैं उन मिथ्यातर्कों का खण्डन किया है।

पांचवें में-पौराणिक मन्तव्यों का निरास किया गया है, जिस में आधुनिक सनातनधर्म्मसंस्कारकर्त्ता पण्डित ज्वालाप्रसाद लिखित उन सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है जिनको उन्होंने तिमिर भास्कर में वैदिक सिद्धान्त के नाम से लिखा है। इस समुल्लास में पौराणिक मिथ्यार्थों को सम्यक् दर्शाया गया है और वेद मंत्रों से मिलान करके उनका मिथ्यात्व दिखलाया गया है।

छठे में-स्वमन्तव्यों का प्रकाश किया गया है अर्थात् आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों का वेदार्थ से मिलान किया गया है।

सातवें में-उन सब वेदमंत्रों का संग्रह किया गया है, जिनको सनातन धर्म्मी आर्य्यसमाज के प्रतिपक्ष में प्रमाण दिया करते हैं।

अष्टम में-सगुण निर्गुण उपासनाओं का अविरोध निरूपण किया गया है।

एवं आठ समुल्लास उक्त पुस्तक के हैं, जिन में वादीमत के आचार्य्यों के विरोध से, वेद विरुद्धार्थों का खण्डन, परस्पर पौराणिक विरोध से सम्भव असम्भव निर्णायक प्रमाणों से, वेद मंत्रों से सम्यक् रीति से विरुद्ध वादों का खण्डन किया गया है।

उद्देश उक्त मन्तव्यप्रकाश पुस्तक का यह है कि आधुनिक लिटरेचर जो मिथ्यार्थ निशारूपी तिमिर को पैदा कर रहा है, जिस में भारतसन्तान की नौका इस भवसागर के भँवर में है उसके यात्रियों के मन्तव्यरूपी नेत्रों को आच्छादित मिथ्यार्थरूप तिमिर को हटाकर प्राचीन मन्तव्यरूपी प्रकाश से प्रकाशित कर दिया जाय, ताकि—

"**वैवस्वतस्य नौकां यः समुद्रे समधारयत्।
वेदोद्धारञ्च कृतवान् तस्मै मत्स्यात्मने नमः॥**" जिसने

वैवस्वत मनु की नौका को समुद्र में धारण किया और वेदों का उद्धार किया, उस मत्स्य भगवान् को नमस्कार है। इस पौराणिक भाव को वेदानुकूल सिद्ध करने वालों के अर्थों का मिथ्यात्व दृष्टिगत होनेलगे। जैसा कि ज्वालाप्रसाद भार्गव ने साम भूमिका में "**सक्रन्दनोऽनिमिष एक वीरः। शतं सेना अजयत् साकमिद्रः**" इस मन्त्र से मत्स्यावतार सिद्ध किया है। इस मन्त्र में मत्स्य का नाम तक नहीं, फिर मच्छ भगवान् की महिमा की असम्भव कथा वेद में कैसे?

वामनं रूपमास्थाय त्रैलोक्यं विक्रमैःस्वकैः। बलेर्गृहीतं तं बध्वा तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ वामनरूप होकर बली को बांधकर अपने तीन पैर से तीन लोक माप लिये उस ब्राह्मण रूप के लिये नमस्कार है। यह पौराणिक भाव "**इदं विष्णुर्विचक्रमे०**" इस मंत्र से निकाला जाता है जिस में उसी पद का वर्णनहै कि जिस का वर्णन "**तद्विष्णोः परमं पदं**"०इस मन्त्र में आचुकाहै। जिस में पद के अर्थ सब आचार्य्यों ने विष्णु के स्वरूप के माने हैं, फिर इस में वामनावतार के अद्भुत पाद की क्या कथा!।

उक्त वेदविरुद्धभावों के खण्डन का चित्र इस पुस्तक में साफ़२ दर्शादिया गया है। सार यह है कि सत्यार्थ विवेक के कर्त्ता पं० साधुसिंह, अबोधध्वान्तकार स्वामी बालराम, अवतारमीमांसाकार पं० अम्बिकादत्त व्यास भारतरत्न, तिमिरभास्करकार पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र तथा मृतकश्राद्धमण्डन के भण्डार और संशयात्मा के एक मात्र आगार पं० भीमसेन इत्यादि पौराणिक मतवादी वादियों के आक्षेपों के उत्तर इस पुस्तक में दिये गए हैं। अपूर्वता इस पुस्तक में यह है कि सिद्धान्त विषय का अवलम्बन करके इस पुस्तक का लेख है। किसी के जातित्व पर आक्षेप वा किसी के हृदय दुखाने की बात

इस पुस्तक में नहीं। सब सम्प्रदायों के आचार्य्यों तथा पण्डितों के नाम बड़ी प्रतिष्ठा से लिये गए हैं।

अतएव सब सदसद्विवेकियों से प्रार्थना है कि इस आर्य्यमन्तव्य-प्रकाश ग्रंथ को निष्पक्ष होकर प्राचीन आर्य्यमन्तव्यों के विवेक के लिये अवश्य पढ़ें॥

आर्य्यमुनिः

ओ३म्

अथ आर्य्यमन्तव्यप्रदर्शनं नाम प्रथमः समुल्लासः प्रारभ्यते ।

(१) ईश्वर विषयक मन्तव्य ।

वेद

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषीपरिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० ४० । ८

अर्थ—वह परमेश्वर सर्व स्थान में प्राप्त है अर्थात् सर्व व्यापक है, बल स्वरूप है, अकाय है, शरीरधारण नहीं करता, अतएव अव्रण विस्फोटक रोग विशेष, और नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है, अतएव शुद्ध है, पापस्पर्शादि से रहित है, कवि सर्वज्ञ है, मनीषी मनका नियमन करने वाला है, परिभूः सर्वोपरि है, स्वयम्भूः परसत्ता से रहित स्वयं सबका अधिकरण स्वरूप है, उक्त कूटस्थ नित्य परमात्मा नियत समय में सब संसार को रचता है ॥

यह वैदिक सिद्धान्त प्राचीन आर्य्यों का अटल मन्तव्य था जिस से पतित होकर आजकल की कलियुगी बुद्धिएं "निराकार परमात्मा कैसे संसार रच सकता है" इस संशयरूपी आवर्त्त में पड़कर गोते खा रही हैं यद्यपि उपनिषत्कार ऋषियों ने उक्त संशयरूपी भंवर से भारत-सन्तान की नौका पार करदीथी तथापि प्राचीन आर्य्यमन्तव्यों के प्र

ज्ञानरूपी वायुचक्र ने फिर उसी भंवर में डालदी अन्यथा ऐसा कब संभव था कि "**एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः**" इत्यादि वाक्यों से निराकार नियन्ता पाए जाने पर भी निराकार के नियन्ता होने में फिर शङ्का करते। वेद के पश्चात् केवल उपनिषत्कार महर्षियों ने ही इस अर्थ को संग्रह नहीं किया किन्तु सूत्रकार भी मुक्त कण्ठ से कहते हैं "**अक्षरमम्बरान्तधृतेः**" वेदान्त अ० १ पा० ३ सू० ६ अक्षर ब्रह्म है, "अम्बर" आकाशादिकों का आधार वर्णन किये जाने से, इस अर्थ को स्मृतिकार भगवान् मनु ने भी इसी प्रकार ग्रन्थन किया है:-

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥१२। १२२

अर्थ—सर्व संसार का नियन्ता "अणीयांसमणोरपि" जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और "रुक्माभं" स्वतः प्रकाश है, रुक्म की उपमा से साकार का सन्देह होता था अतएव स्मृतिकार ने कहा है कि "स्वप्नधीगम्यं" अर्थात् जैसे स्वप्न के पदार्थ चक्षुरादि इन्द्रिय ग्राह्य नहीं एवं परमात्मा निराकार होने से मनका विषय है चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं, ऐसे पुरुष को "विद्यात्" जाने॥

इस प्रकार वेदोपनिषत् स्मृति सूत्र एक मत होकर ईश्वर के शरीर धारण का निषेध कर रहे हैं फिर भी स्वार्थ साधन तत्पर लोगोंने वेदार्थ के अनर्थ करके प्रयोजन सिद्धि में न्यूनता नहीं की, "सपर्य्यगात्" इस मन्त्र में "स्वयम्भू" शब्द के अर्थ **स्वयं ब्रह्माविष्णुरुद्रादिरूपेण भवतीति स्वयम्भूः**" के किये हैं सत्यार्थ विवेक पृ० (०• इसी का अनुकरण मिश्र ज्वालाप्रसाद ने अपने तिमिर० १८२ पृ० में किया है उक्त ग्रन्थकारों ने सनातन भाष्यकारों की मर्यादा भंग कर-

ने में भय न करके मनमाने अर्थ किये हैं। स्वामी शङ्कराचार्य्य इस मन्त्र को अध्यात्मवाद में लगाते हैं और महीधर भी ऐसा ही कहता है। यथा—

परिभूःपरिसर्वेषामुपर्य्युपरिभवतिइतिपरिभूः।स्वयम्भूः स्वयमेवभवतीतियेषामुपरिभवतियश्चोपरिभवतिसः स्वयमेवभवतीति स्वयम्भूः ॥

अर्थ—जो सब के ऊपर विराजमान हो वह परिभूः और जो अपने आपही जिनके ऊपर हो और जो ऊपर हो वह सब स्वयं ही हो वह स्वयम्भू कहलाता है। उक्त आचार्य्यों के अर्थों को छोड़कर आधुनिक अर्थ करना यह सूचित करता है कि वेद दूषित होतो हों पर अवतार सिद्धि की असिद्धि न हो। तिमिरभास्करकार तो इस मन्त्र के अर्थ करने में ऐसे भयभीत हुए हैं कि ईश्वर की निराकारता को ही निरास कर बैठे हैं, आप प्रश्न करके स्वयं यह उत्तर देते हैं कि यह मन्त्र साकार को प्रतिपादन करता है,प्रश्न— "**सपर्य्यगात्**" इस मन्त्र में तो निराकार परमेश्वर का वर्णन है ? उत्तर में उक्त मंत्र से ब्रह्मा विष्णु आदि के अवतार सिद्ध किये हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है "स्वार्थी दोषं न पश्यति" यदि यह मंत्र निराकार का बोध नहीं करता है तो फिर वेद में निराकार बोधक मंत्र कौन है ? क्योंकि निराकार तो आप को भी अभिमत है आपभी तो निराकार से ही साकार बनाते हैं परइस प्रतिज्ञा का ध्यान कहां ? इन आधुनिक "सनातनधर्मियों" ने वेदार्थ करने में ऐसा नैपुण्य दर्शाया है कि कलियुग में एक नया वेदाशय रच लिया जहां ऋग्वेद अ०१ अ० ५ व० ७ म० ९ में कृष्णंत एम शब्द आया है उसके अर्थ कृष्णावतार के किये। साम उत्तरार्चिक अ०१५खं०२ सू० १ मं० ३ में रामशब्द जो अंधकार का वाचक था उस के अर्थ

रामावतार के किये । उक्त दोनों मंत्रों में सायणाचार्य्य अंधेरे के और कालेपन के अर्थ करता है " रामं शार्वरं तमः" " कृष्णंतएम "(हे अग्ने ते तव एमन् कृष्णं भवति) इन आधुनिक भाष्यकारों को ऐसे अगम की सूझी है कि अंधेरे से और कालेपन से रामावतार और कृष्णावतार निकाल लिये, इसी प्रकार यजु० अ० १८। मं० ७१ में "**मृगोनभीमः**" इस से नृसिंहावतार निकाला है सायण तथा महीधर दोनों ने ही इस के अर्थ नृसिंहावतार के नहीं किये हैं किन्तु महीधर ने तो मृग शब्द से शुद्ध करने वाले का अभिप्राय लिया है इस से सिद्ध होता है कि नृसिंहावतार ने वेदभाष्य में महीधर के पश्चात् ही जन्म लिया है, एवं "**वराहोऽस्यैतिरेमन्**" ऋ० अ० ७ अ० ४ सू० १२ इस में बराहावतार और जो अवतार शेष रहे वे "**प्रजापतिश्चरतिगर्भे**" यजु० अ० ३१ मं० १९ इस मंत्र मे सिद्ध कर लिये हैं । महीधर इस मंत्र से अद्वैतवाद सिद्ध करता है कि ब्रह्म उत्पन्न होता हुआ भी सर्वरूप में स्थिर है इस लिये जीव अपने आप को ब्रह्मरूप से कथन कर सकता है अर्थात् " **अहंब्रह्मास्मीति**" मैं ब्रह्म हूं इसरूप से ब्रह्म का ध्यान कर सकता है इस विषय में उक्तमंत्र को महीधर ने लगाया है ॥

मच्छ कच्छादि अवतारों का यही मंत्र भण्डार है । यह बात महीधर को नहीं सूझी थी जो आजकल के सनातन धर्म संस्कार कर्त्ताओं ने निकाली है । जो न्यूनता अवतार सिद्धि में पाई जाती है वह इसी मंत्र से पूरी करली जाती है क्यों न की जाय जहां स्वयम्भू शब्द के अर्थ यह कर लिये जाते हैं कि ईश्वर स्वयं ब्रह्मा, रुद्र, शिव, शक्तिरूप अवतार धारण करता है वहां मनमाने अर्थ करना कौन बड़ी

बात है

इस कथा को कहां तक कथें, सारांश यह है कि महीधर सायण के समय में वेदों में ईश्वर के मच्छ कच्छादि जन्म की चर्चा न थी। मच्छ कच्छादि कथा की पूर्त्ति के लिये पुराण ही पर्य्याप्त समझे जाते थे पर समय के परिवर्तन ने आर्य्य सन्तान को वेदार्थ से यहां तक गिरा दिया है कि अब ईश्वर का तिर्यक् योनियों में जन्म निरूपण करने की फ़िलासफ़ी भी वेदों में सूझती है और इस बात की भी लज्जा नहीं आती कि श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य एक ब्रह्मवाद का नाद ही वेदों का सार मानते थे फिर हम क्यों उत्पत्ति विनाशशाली पदार्थों को ईश्वर मानकर वेदों को कलङ्कित करते हैं। यह बात शङ्कर दिग्विजय पृ० ८४ गद्य गणपति खण्डन में स्पष्ट करदी गई है।

भो गाणपत्य ! सत्यमुक्तं भवता गणपतेः सर्वोत्तमत्वं, तन्मायाबलाद्रुद्राद्युत्पत्तिश्चेति भवद्भिः प्रतिपादितं किल तदसमञ्जसम् प्रतिभाति, कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः रुद्रगणैःसह लयानुगस्य जगत्कारणत्वं कल्पयितुमुचितम् । किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति, तस्य ब्रह्मत्वे कल्पिते पित्रादि कारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्" इत्यादिवाक्यात् ॥

अर्थ—हे गणपतिमतावलम्बिन्! जो तुमने यह कहा है कि गणपति सब से उत्तम है उसी की माया से रुद्रादिकों की उत्पत्ति है यह ठीक नहीं, सगुण गणेश हस्तिके मुख वाला जिसका रुद्र के गणों के साथ ही उत्पत्तिलय होता है वह कैसे जगत् का कारण हो सक्ता है? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है यह लोक में प्रसिद्ध है यदि उसको ब्रह्म मानोगे तो वह पुत्र होने से रुद्रादिकों का कारण नहीं बन सकेगा इसलिये

ब्रह्म ही रुद्रादि सब का कारण है "वही सत्यरूप सृष्टि से प्रथम था" ब्रह्म ही पहले था। इत्यादि उपनिषत्प्रमाणों से ब्रह्म ही जगत् का कारण है इस कथन ने स्वामी शङ्कराचार्य्य के आशय को स्पष्ट कर दिया है फिर क्या कारण है? कि आधुनिक लोग उक्त मन्तव्य को न मान, भटक कर भूल में पड़ते हैं॥

कारण यही अनुमित होता है कि जो धुन आजकल के लोगों को अवतार सिद्धि की लगी है वह पहले नथी, इस विषय में कई एक लोग यह शङ्का करते हैं कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने भी उभय प्रकार माने हैं कहीं अवतार का खण्डन और कहीं मण्डन, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने गीतादि भाष्यों में कहीं२ अवतार के भाव का मण्डन किया है तथापि परिणाम यह नहीं निकलता कि स्वामी शङ्कर पौराणिकों के सम अवतार वादी थे, क्योंकि वह अद्वैतवाद के भाव में आकर अवतार कथा को ऐसे सन्देह में डाल जाते हैं जिस प्रकार के अवतार होने का प्रत्येक अद्वैतवादी दम भर सक्ता है। ठीक है जब उनके मत में प्रत्येक मनुष्य ब्रह्म बन सक्ता है तो अवतार की क्या कथा है? ॥

कुछ ही क्यों न हो, स्वामी शङ्कराचार्य्य के उभय प्रकार के विचार से अवतार का सार नहीं निकलता किन्तु एक ब्रह्मवाद का ही नाद निकलता है। देखो तर्कपाद सूत्र ४०। यहां भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य्य ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि शरीरधारी कदापि जगदाधार नहीं हो सकता, यदि देहेन्द्रियादि संघात वाला ईश्वर माना जाय तो संसारी जीव की तरह भोक्ता मानना पड़ेगा और शरीरधारी सृष्टि के पश्चात् ही हो सकता है, फिर वह सृष्टिकर्ता कैसे हो सकता

है "**करणग्रामसाम्ये चाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्**" "**ईश्वरस्यापि किञ्चिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात् नच तद्वर्णयितुं शक्यते सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक् सृष्टेस्तदनुपपत्तेः**" इत्यादि भाष्य में अति प्रबलता से ईश्वर के शरीरधारी होने का खण्डन किया गया है यही भाव दिग्विजय के अक्षर अक्षर से झलकता है। स्वामी शङ्कर में यह बल था कि वह पौराणिक पङ्क से पार हो जाते थे जैसे कि स्मृतिपाद प्रथमसूत्र में कपिल का खण्डन करते यह दर्शाया है कि वेद विरुद्ध वादकर्ता कोई भी क्यों न हो उसकी किञ्चिन्मात्र भी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये इसी बल से स्वामी शङ्कर ने बौद्धमत का खण्डन किया अन्यथा कब सम्भव था कि पुराणों के ईश्वर बुद्ध का स्वामी शङ्कर खण्डन करते ॥ श्वेताश्वतर अ० ५ श्लो० २ में कपिल का नाम आया है "**ऋषिंप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानञ्च पश्येत्**" इस श्लोक में स्वामी शङ्कर ने कपिल को अवतार नहीं माना, और श्लोक का आशय भी यही है कि जिसने कपिल को ज्ञानी बनाया। पर स्वामी शङ्कर ने तो शारीरक भाष्य में इस बात को यहां तक स्पष्ट करदिया है कि धर्मानुष्ठान पूर्वक ही कपिलादिकों की सिद्धि थी फिर धर्म से विरुद्ध यदि कपिलादि कहें तो कैसे मन्तव्य हो सक्ता है? "**न सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्**" "**धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः**" इत्यादि भाष्य से यह सिद्ध कर दिया है कि धर्मानुष्ठान करने से कपिल सिद्ध था, हम यहां पौराणिक भ्राताओं से पूछते हैं कि अवतार भी धर्मानुष्ठान करने से सिद्धि को प्राप्त हुआ करते हैं ? कपिल और बुद्ध अवतार थे तो स्वा-

भी शङ्कराचार्य्य ने उनके मतका खण्डन क्यों किया ? जब अवतार का बीज यह है कि वह अधर्म के उखाड़ने के लिये और धर्म की वृद्धि के लिये धारण किया जाता है तो बुद्धावतार ने इससे विपरीत क्यों किया ? । यदि वैदिक धर्म का खण्डन ही उसका धर्म था तो वह अवतार कैसे ? इत्यादि सैकड़ों प्रश्न हैं जिनका उत्तर पौराणिक वर्ग में कुछ नहीं । फिर भी पौराणिक मत की झोक में ऐसे झुके जाते हैं कि कुशकाशावलम्बन न्याय से कहीं नाम मात्र का सहारा मिलना चाहिये फिर अर्थ के अनर्थ हों तो भले ही हों पर पौराणिक कपिलादि अवतारों की कल्पना कम न हो ॥ "**भद्रोभद्रया सचमान आगात्**" इस मन्त्र में जार शब्द के अर्थ जो अंधकारादिकों के दूर करने वाले के हैं, उसके अर्थ सीता माता के जार के किये जाने में हानि नहीं पर रामावतार की सिद्धि में बाधा न पड़े जहां ऐसे कुलकलङ्क विद्यमान हों वहां कल्याण की क्या आशा है ॥

ऐसे अनर्थ साधारण पुरुषों के ही किये हुए नहीं मिलते प्रत्युत निखिलशास्त्रनिष्णात स्वामी बालराम, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यासादि सबने ऐसा ही किया है विशेषकर स्वामी बालराम ने तो ऐसी बाललीला की है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् से कपिलावतार सिद्ध किया है जिसके अवतार वाद का शङ्करभाष्य में गन्ध भी नहीं था प्रत्युत खण्डन था एवं जिसके मत का शङ्कराचार्य्य ने पूर्ण रीति से खण्डन किया था फिर उस के मत का प्रचार और उसी कपिल को भागवतकारने अवतार माना । इसी भागवतकार की छाया लेकर आज "**दशानामेकं कपिलं समानं**" ऋ० मं० १० सू० २७ मं० १६ इस मंत्र से कपिलावतार सिद्ध किया है जिस को सायणभाष्य में ऋषि माना गया था वह आज वैदिक अवतार बनता है ।

इस से और अनर्थ क्या हो सक्ता है, एवं वराहावतार जिस मन्त्र से निकाला है वहां गंध मात्र भी अवतार कथा नहीं पाई जाती किन्तु "वरञ्च तदहश्च वराहः" वर श्रेष्ठ जो दिन हो उस को वराह कहते हैं। ऐसे दिन वाले सोम का नाम वराह है। यह अर्थ सायण ने किये हैं इस दृश्य के दर्शन के लिये उन सब मन्त्रों को हम यहां लिखते हैं जिनके मिथ्यार्थ करके आज अवतारसिद्धि की जाती है। आजतक जितने मन्त्र अवतारसिद्धि में लिखे गए उन सब को लिख कर और उन मिथ्यार्थ लेखकों के अर्थ भी साथ२ प्रकाशित करते हैं जिस से पाठकों को यह विषय सम्पूर्ण रीति से ज्ञात हो जाय। और अपूर्वता इस अर्थाभासनिदर्शनात्मक द्वितीय समुल्लास में यह है कि सायण महीधरादि भाष्य भी उन मिथ्यार्थों के नीचे दिये जायंगे जिससे कि उक्त भाष्य मिथ्यार्थ कलङ्कित मुखों का आदर्शवत् प्रकाश करें ॥

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशे १ समुल्लासः समाप्तः ॥

ओ३म्

अथार्य्यमन्तव्यप्रकाशे अर्थाभास-निदर्शनं नाम द्वितीयः समुल्लासः प्रारभ्यते

भद्रोभद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अभ्येति पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नु शद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥ सा० उ० अ० १५ खं० २ सू० १।३

सायणभाष्यम्—

(भद्रः) भजनीयः कल्याणः (भद्रया) भजनीयया दीप्त्या उषसा वा (सचमानः) सेव्यमानः संगच्छमानोवा (अग्निः) (आगात्) आजगाम गार्हपत्यादाहवनीयमागच्छति । ततः पश्चात् (जारः) जरयिता शत्रूणां सोग्निः स्वसारं स्वयं सारिणींभागिनीं वाऽऽगतामुषसं अभ्येति अभिगच्छति (तथा) (सुप्रकेतैः) सुप्रज्ञानैः (द्युभिः) दीप्तिभिःश्वेतैः (वर्णैः) वारकैरात्मीयैः तेजोभिः(रामं)कृष्णं शार्वरं तमः अभ्यस्थात् सायं होमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ १ ॥

भावार्थः—

(भद्रः) कल्याणरूप अग्नि (भद्रया) दीप्ति से शोभावाला अग्नि गार्हपत्याग्निस्थान से आहवनीयाग्नि स्थान में आता है तत्पश्चात् (जारः) शत्रुओं के नाश करने वाला अग्नि अपनी भगिनी रूप उषा को प्राप्त होता है (रामं) रात्रि के तम को तिरस्कार करके स्थिर होता है ॥

भाषार्थ पं० बालकराम—

(भद्रः) कल्याणकर पूजनीय रामचन्द्र जी जब (भद्रया) कल्याणकारी जानकी जी के सहित वन में गमन करते भये तब जारवत् लम्पट जो रावण है सो (पश्चात्) रामचन्द्र के न होने समय में अर्थात् मारीच मारणार्थ जाने के समय में स्वपित्रादि ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने से भगिनी के तुल्य जो सीता उस के समीप गमनकर हरण करता भया, तदनन्तर अग्निवत् प्रज्वलित हुआ २ शोभनध्वज विशिष्ट दिव्य कमनीय रथों के सहित और कुम्भकर्णादि के सहित युद्धार्थ सन्नद्ध होकर (राममस्थात्) रामचन्द्र के सम्मुख आता भया। एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् के अ० ५ द्वितीय मंत्र से कपिलावतार भी कहा है।

भाषार्थ पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र—

भद्र रामचन्द्र भद्रा सीता जी के साथ प्रकट हुए, तब जार रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण अपनी भगिनी समान जानकी को हरण किया, पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सम्मुख होकर कुम्भकर्ण आदि के जीवात्माओं के साथ श्रीराम के सामीप्य को पाया।

कृष्णंत एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्। यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसी दूतः॥ ऋ० मं० ४ सू० ७ अ० १ मं० ९॥

सायणभाष्यम्—

हे अग्ने! रुशतः रोचमानस्य ते तव सम्बन्धि अत्रेम एमन् शब्देन गमनमार्ग उच्यते एमवर्त्म कृष्णं कृष्णवर्णं भवति भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति चरिष्णुः संचरणशी-

त्पमर्चिः त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः । एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यंत्वां अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु सत्वं सद्यश्चित् सद्य एव जातः उत्पन्नः सन् दूतो भवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव ॥ २ ॥

भाषार्थः-

हे अग्ने ! रोचमान देदीप्यमान जो तुम हो, तुम्हारा (एमन्) मार्ग (कृष्णं) काला होता है और तुम्हारी (भाः) दीप्ति प्रथम होती है। तुम्हारा तेज तेजस्वियों के लिये मुख्य ही है तुम को प्राप्त न होते हुए यजमान तुम्हारी उत्पत्ति के हेतु अरणि को ग्रहण करते हैं ऐसे तुम तत्काल में उत्पन्न होते हुए उन यजमानों के दूत के समान होते हो ।

भाषार्थ साधुसिंह—

वामदेवादि जीवन्मुक्त कैवल्यपति भगवान् की प्रार्थना करते हैं हे भूमन् ! आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्र रूप है और रुद्ररूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्मकारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्ण भारूप को हम प्राप्त होवें, जिस आपके स्वरूप की एकही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृरूपकर वर्तमान हैं और जो कृष्ण भा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ में ग्रस्तदेवकी गर्भरूप से धारण करती भई इसी वास्ते छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में "कृष्णाय देवकीपुत्राय" ऐसे श्रीकृष्ण की देवीकी माता सुनी जाती है। हे भूमन्! आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर तत्काल ही वियोग जन्य दुःख देने वाले हुए । इस कथन से यह निश्चय कराया जो देवकीपति वसुदेव के गृह में

जन्म धारण किया और महेश्वरावतार भी इसी मन्त्र से बोधन किया तथा जीव को पूर्व निरूपित चिदंशत्व बोधन किया जानना।स०वि०पृ० ६४।

सद्योजातस्य ददृशानमोजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः। वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिरा चिदन्नादयते विजम्भैः॥ ऋ०अ०५व०७अ०३।१०

सायणभाष्यम्—

सद्योजातस्य अरणिनिर्मन्थनादनन्तरमेवोत्पन्नस्याग्नेः ओजस्तेजःददृशानं ऋत्विगादिभिर्दृश्यमानं भवतीति शेषः वातो वायुः यद्यदास्याग्नेःशोचिर्दीप्तिः अन्वनु लक्ष्यीकृत्य वाति गच्छति तदा सोऽयमाग्निः अतसेषु वृक्षसंघेषु तिग्मां तीक्ष्णां जिह्वां ज्वालां वृणक्ति संयोजयति स्थिराचित् स्थिराण्यपि अन्ना अन्नरूपाणि काष्ठादीनि जंभैस्तेजोभिः विदयते विखंडयति भक्षयतीत्यर्थः॥

भाषार्थः—

अरणी निर्मथन के अनन्तर तत्काल उत्पन्न होने वाला अग्नि का तेज ऋत्विगादिकों से देखा जाता है, जब वायु इस अग्नि की दीप्ति को लक्ष्य करके चलता है तब यह अग्नि तीक्ष्ण ज्वालारूप जिह्वा से काष्ठों को भक्षण करता है।

भाषार्थ पं० बालकराम—

(सद्योजातस्य) कुमारावस्थापन्न भगवान् के (ओजः) सामर्थ्य को (ददृशानं) हम देखते भए, अर्थात् इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि कथन करे हैं कि हम संपूर्ण ऋषियों ने इस भगवान् का बल पराक्रम दयालुता प्रभृति अपूर्व कर्म जब यह बालक ही रहे तब ही देखा था, यथा

सामर्थ्य देखा सो कहे हैं (यत्शोचिः) अर्थात् जो वन्हि की ज्वाला वन में शुष्क तृणों पर निक्षिप्त हुई अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त भई थी सो प्रचण्ड अग्नि की ज्वाला इस भगवान् की जिह्वा को प्राप्त होकर नाशको प्राप्त होती भई, उसमें दृष्टान्त कहे हैं (स्थिराअन्नाचिद्) चिद् इस निपात का अर्थ तुल्य है अर्थात् जैसे स्थिर पायस मोदक प्रभृति अन्न जिह्वा को प्राप्त होकर नष्ट होवे हैं तैसे अग्नि भी नष्ट होगया, तात्पर्य्य यह है कि पायसवत् अनायास से ही अग्नि को भक्षण कर गये किञ्च यही परमात्मा ही भजनीय है क्योंकि (दयते जम्भैः) अर्थात् अत्यन्त हिंसक क्रूर अग्निभक्षण कालियनागदमन प्रभृति कर्म्मों करके संसार का पालन करते हैं अब ऐसे दयानिधि का पूजन न करना सहजात् दयानन्दीय भ्रान्ति के पूजनार्थ ही है ।

भाषार्थ साधुसिंह—

इस द्वितीय मंत्रकर श्रीकृष्ण को शरणीयत्व ही प्रकट करते हैं जोकि तात्कालिक जान श्रीकृष्ण के सामर्थ्य को हमने देखा है कदाचित् किसी असुर कर शुष्क तृणों में अग्नि की ज्वाला वृद्ध भयो, और वायुकर प्रौढ़ हुई पश्चात् वो ज्वाला श्रीकृष्ण की जिह्वा को प्राप्त होकर नाश हो जाती भई। उस अग्नि ज्वाला के पान में दृष्टान्त कहते हैं जैसे पायसादि स्थिर अन्न को शीघ्र ही भक्षण करलेते हैं वैसे ही असुर प्रज्वलित अग्नि ज्वाला को पान कर गए। इससे हिंसक हनुओं से यह श्रीकृष्ण रूप साक्षात् भगवान् पीडित लोककी अपनी शक्ति रूप विशेषणों कर रक्षा करते हैं इससे महाकृपालु यहही शरण करने को योग्य हैं ।

ऋतस्याहि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्तद्युभक्ताः । परावतः सुमतिं भिक्षमाणा विसिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् ॥ ऋ० अ० १ व० २० अ० ५ ।६ ॥

सायणभाष्यम्—

ऋतस्य हि ऋतं देवयजनदेशंप्राप्तमग्निमेव धेनवः अग्निहोत्रादि हविषां दोग्ध्र्योगावः पीपयन्त क्षीरादि लक्षणं गव्यं अपाययन् । कीदृश्यो गावः वावशानाः अग्नि पुनः पुनः कामयमानाः स्मदूध्नीः स्मच्छब्दो नित्यशब्दसमानार्थः नित्यमूधसायुक्ताः सर्वदा पयसः प्रदात्र्य इत्यर्थः द्युभक्ताः दिवाप्रकाशेन सम्भक्ताः संश्लिष्टास्तेजस्विन्य इत्यर्थः । अपिच सिन्धवः स्यन्दनशीलाः नद्यः सुमतिं अस्याग्नेः शोभनामनुग्रहात्मिकां बुद्धिं भिक्षमाणाः याचमानाः सत्यः अद्रिं समया अद्रेः पर्वतस्य समीपे परावतो दूरदेशाद्विसस्रुः विशेषेण गच्छन्ति प्रवहन्ति अग्नये दातव्यानां हविषां निस्पत्तये प्रवहन्तीत्यर्थः ॥

ऋतस्य क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । वावशानाः वशकान्तौ यङन्ताच्छानच्,नवश इति सम्प्रसारणप्रतिषेधः, बहुलं छन्दसीति शपोलुक्, छन्दस्युभयथेति शानच आर्धधातुकत्वात् अतोलोपयलोपौ अतएव लः सार्वधातुकानुदात्तत्वाभावे चित्स्वर एवशिष्यते स्मदूध्नीः स्मत् नित्यानि ऊधांसि यासां ताः ऊधसोनङित्यनङादेशः समासान्तः संख्याव्ययादेर्ङीबितिङीप् भसंज्ञायामल्लोपो न इत्यल्लोपः ङीपः पित्वादनुदात्तत्वे बहुव्रीहिस्वर एव शिष्यते । पीपयन्त पा पाने अस्माद्धेतुमति णिच् शाच्छासाह्वेतियुक् णयन्ताल्लुङि च्लेश्चङादेशादि चङ्यन्यतरस्यामिति, चङः पूर्वस्योदात्तत्वम् हिचेति निघातप्रतिषेधः । परावतः परागतात् दूरं हि परागतं भवति अस्मिन् धात्वर्थे गम्यमाने उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे इति वातिः ॥

भाषार्थ—

यज्ञदेश को प्राप्त अग्नि ही धेनुरूप है, वे अग्निरुप धेनुएं कैसी हैं? प्रकाशरूप हैं। फिर कैसी हैं? सिन्धुरूप हैं। इसप्रकार सायण ने यहां अग्नि में ही धेनुरूप का आरोप किया है।

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास—

दूधवती धेनुएं भगवान् कृष्ण के साथ थीं और वे दूध को पिलाती थीं, गोवर्धन पहाड़ के निकट कृष्णदेव की इच्छा करती हुई तृणों को भक्षण करती थीं और फिर कैसी थीं? कि सिन्धु के समान दुग्ध को बहाती थीं।

इस मंत्र से कृष्ण की गौएं और गोवर्धन निकाला गया है॥

अवतारमीमांसा

यस्मिन् विश्वानि काव्याचक्रे नाभिरिव श्रिता त्रितं जूतीसपर्यत। व्रजे गावो न संयुजे युजेऽश्वां अयुक्षत नभन्तामन्यकेसमे ॥ ऋ० अ० ६ अ० ३ व० २७। १

सायणभाष्यम्—

यस्मिन् वरुणे विश्वानि सर्वाणि काव्या काव्यानि कविकर्माणि चक्रे नाभिरिव यथा रथस्य चक्रे नाभिस्तथा श्रिता श्रितानि तंत्रितं त्रिस्थानं वरुणं जूती जूत्या क्षिप्रं सपर्यत हे मदीयाजनाः परिचरत। किमर्थमित्यत आह व्रजे गोष्ठे गावो न यथा गाः संयुजे संयोगार्थं सहस्थापयितुं युजे युञ्जन्ति तथास्माकमभियोगायाश्वानयुक्षत सपत्नायुञ्जन्ति अतस्तदुपद्रवपरिहाराय वरुणं परिचरेतेत्यर्थः॥

भाषार्थः—

जिस वरुण में (सम्पूर्णकाव्य) कवियों के कर्म्म नाभि के समान समर्पित हैं जैसे रथ के चक्र के आश्रित नाभि होती है, इस प्रकार हैं। हे पुरुषो! तुम ऐसे वरुण की पूजा करो ताकि वह तुम्हारे लिये न केवल व्रज * में गौओं को ही दे अपितु युद्ध में अश्वों को भी दे इसलिये उस की मन से उपासना करो।

अर्थ अम्बिकादत्तव्यास—

जिस परमात्माने व्रज में केवल गौओं का ही योग नहीं किया अपितु अर्जुन के सारथि बनने की अवस्था में घोड़ों को भी अर्जुन के रथ में जोड़ा, उस परमात्मा की तुम लोग मन से पूजा करो। (अवतार मीमांसा)

—:-*-::-*—

अपिवत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे। तत्रादेदिष्ट पौंस्यम् ॥ साम० अर्द्ध० छ० अ० २ खं०२ प्र० १ ॥

सायणभाष्यम्—

इन्द्रः कद्रुवःकद्रुनामकस्यऋषेः सम्बन्धिनं सुतमाभिषुतं सोममपिबत् पीतवान्। सहस्रबाह्वे सहस्रबाहोः शत्रूंश्चाहमिति शेषः। अत्रास्मिन्नवसरे पौंस्यं इन्द्रस्य वीर्य्यमदेदिष्टादीप्यत ॥

भाषार्थः—

इन्द्र ने बल के लिये कद्रु सम्बन्धि सोम को पिया और फिर सहस्रबाहु शत्रु को मारा। इस समय इन्द्र का बल प्रकाशित हुआ।

---

* व्रज नाम गौओं के एकत्र करने के स्थानका है। इसी कारण से पौराणीक लोग मथुरा वृन्दावन आदि को भी व्रज कहते हैं ॥

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव—

परशुरामरूप परमेश्वर ने सहस्रबाहु के लिये क्रोध को धारण किया, उस समय उनका पराक्रम प्रदीप्त हुआ ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमो ऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥य० अ० १६ मं० २१ ॥

महीधरभाष्यम्—

वञ्चति प्रतारयति वञ्चन् परि सर्वतो वञ्चति परिवञ्चन् तस्मैनमः । स्वामिन आप्तो भूत्वा व्यवहारे कुत्रचित्तदीयं धन मपन्हुते तद्वञ्चनम् । सर्वव्यवहारे धनापन्हवः परिवञ्चनम् ।- गुप्तचोरास्त्रिविधाः रात्रौगृहे खातादिना द्रव्यहर्तारः । स्तेया एवाहर्निशमज्ञाता हर्तारश्च । पूर्वे स्तेनाः उत्तरेस्तायवः तेषां पतयेनमः । निषङ्गः खड्गो बाणो वा सोऽस्यास्तीति निषङ्गी इषुधिर्बाणाधारोऽस्यास्तीतीषुधिमान् तदुभयरूपाय नमः । तस्कराः प्रकटचोरास्तेषां पतयेनमः । सृक इति वज्रनाम (निघ० २ । २० । ६) सृकेन वज्रेण सह यन्ति गच्छन्तीत्येवंशीलाः सृकायिणः अतएव शत्रून् हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति जिघांसन्तीति जिघांसन्तः हन्तेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः ॥ क्षेत्रादिषु धान्यापहर्तारो मुष्णन्तस्तेषां पालकाय नमः । असयः खड्गाः सन्ति येषांतेऽसिमन्तः नक्तं रात्रौ चरन्ति ते नक्तं चरन्तः खड्गं धृत्वा रात्रौ वीथीनिर्गतप्राणिघातकास्तेभ्यो रुद्रेभ्योनमः । विकृन्तन्ति छिन्दन्ति ते विकृन्ताः छित्वापहरन्तस्तेषां पतये नमः ।

भावार्थः—

जो वञ्चन करने वाला है उसको नमस्कार है, और जो सर्व प्रकार से वञ्चन करने वाला है उसको नमस्कार है। चोरों के पति को नमस्कार है और खड्गधारी को नमस्कार है जो शत्रुओं के हनन की इच्छा करते हैं ऐसे रुद्रों को नमस्कार है और जो रात्रि के समय गली से निकलते हुओं को खड्गधारण करके हनन करते हैं उनको नमस्कार है ॥

अर्थ बालकराम—

वञ्चन करने वाले जो आपहो तिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, और परिवञ्चन करने हारे जो आपहो जिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, अर्थात् *बुद्धरूप को धारणकर असुरों को वञ्चनकर तिन्हों से वेद के परित्याग करावने हारे और मोहिनी रूप धारणकर दैत्यों को परिवञ्चनकर तिन्होंसे अमृतपान परित्याग करावने वाले जो आपहो जिसके प्रति हमारा नमस्कार होय, आप कैसे हो कि (स्तायूनांपतये) अर्थात् तस्करों के ईश्वर, जो पञ्चयज्ञ का अनुष्ठान न कर भोजन करते हैं सो तस्कर कहे जाते हैं जैसे गीता में कहा है (तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एवसः) अर्थात् देवता गण को न देकर जो भोजन करता है सो चौर है, इससे असुरों और बौद्धों का नाम चौर भया उन के आप पति हो ईश्वर हो । बुद्धरूप से व मोहिनी रूप से माननीय हो एवं निषङ्गधारी जो आप हो तथा इषु-धारी जो आप हो जिस के प्रति हमारा नमस्कार होय, निषंग नाम धनुष का है और इषुधि नाम बाणके रहने वाले तर्कश का है इस से रामावतार सिद्धभया फिर कैसे राम हैं कि (तस्कराणाम्पतये) अर्थात्

नोट *इस में बुद्धावतार का गन्ध मात्र भी नहीं पाया जाता ।

सीता को चुराने वाला जो रावण जिस के पति हैं,, जैसे विघ्नों को नाश करने हारे गणेशजी को विघ्नपति जाता है तैसे तस्कर रावण का नाश करने से रामचन्द्र जी को तस्कर पति कहा है। सामवेद में तो स्पष्ट ही रामचन्द्रजी का वृतान्त है ॥

प्रतद्विष्णुः स्तवतेवीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षिपन्ति भुवनानि विश्वा ॥ ऋ०अ०२अ०२व०२४। २

सायणभाष्यम्-

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात्सइत्यवगम्यते। समहानुभावो विष्णुः धीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण प्रस्तवते प्रकर्षेणस्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येणस्तूयमानत्वेदृष्टान्तः— मृगोन सिंहादिरिव यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्त्ता दुर्गमप्रदेशगन्तावा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते। अस्मिन्नर्थे निरुक्तम्- मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः मृगइवभीमः कुचरो गिरिष्ठाः मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमोबिभेत्यस्माद्भीष्मोप्येतस्मादेव कुचरइति चरतिकर्म कुत्सितमथचेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान्पर्वतः पर्वपुनः पृणातेः प्रीणातेर्वेति। तद्वद्यमपि मृगः अन्वेष्टा शत्रूणां भीमः भयानकः सर्वेषां भीत्यपादानभूतः परमेश्वराद्भीतिः भीषास्माद्वातः पवते इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धः किञ्च कुचरः शत्रुबधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासुभूमिषु लोक-

त्रयेषु संचारी वा तथा गिरिष्ठाः गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी यद्वा-गिरि मंत्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः ईदृशोयं स्वमहि-म्ना स्तूयते किंच यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु त्रिसंख्या-केषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजा-तानि आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते ॥

भाषार्थः—

यह बड़े आशयवाला विष्णु अपने वीर्यरूपी कर्म से पूर्वोक्त रूप से स्तुति किया जाता है और वीर्य से स्तुति किये जाने में यह दृ-ष्टान्त है कि वह मृग है पर भयानक मृग नहीं, अर्थात् जैसे मृग (सिं-ह) अपने से हीन जन्तुओं के लिये भयप्रद है वह ऐसा नहीं। फिर वह कैसा है ? कि कुचर (कुत्सित) हिंसादि करने वाला मृग नहीं, किन्तु गिरिष्ठ है उच्चस्वभाववाला है । अथवा कु जो पृथ्वी है उस में विचरनेवाला होकर भी गिरिष्ठा अर्थात् गिरिके शिखर पर र-हने वाला है । पृथ्वी पर रहकर गिरि शिखर पर रहने का विरोध आताथा उक्त प्रकार से वह विरोध परिहार किया गया है और नि-रुक्त में इस के यह अर्थ किये गए हैं कि वह परमात्मा मृग की न्या-ईं भयानक है अर्थात् अपने न्याय विरुद्ध शत्रुओं को मृग की न्याईं ढूंढ़कर मारता है। और उससे सब डरते हैं इसीलिये वह भीम है और इसीलिये वह कुचर है शत्रुवधादि कुत्सित कर्म करता है अथवा कु नाम पृथ्वी के तीनों लोकों में विचरता है (व्यापक) है इसलिये कुचर कहा गया है । और गिरि की तरह उच्चलोकों में स्थिर है इसलिये गिरिष्ठा कहा गया अथवा गिरि जो मन्त्रादिरूप वाणी है उस में स-र्वदा वर्त्तमान है इसलिये गिरिष्ठा कहा गया है । जिस विष्णु की तीन

प्रकार की गति में यह सब भुवन स्थिर हैं उस विष्णु की स्तुति इस मन्त्र में वर्णन की गई है ॥

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र–

मृगवत् नृसिंहरूपधारी परमेश्वर अपने पराक्रम कर स्तुति को प्राप्त होता है पृथिवी में विचरता है नृसिंहादिरूप से और कैलास में शिवरूप से निवास करता हुआ त्रिविक्रम अवतार में तीनपादन्यास से चतुर्दश भुवनों को कंपायमान करता है ।

अर्थ अम्बिकादत्तव्यास—

नृसिंहरूपधारी भगवान् अपने पराक्रम से भयङ्कर अवतार रूप से विचरता हुआ स्तुति को प्राप्त होता है जिस के विष्णु रुद्रात्मक तीनों रुपों में तीनों भुवन निवास करते हैं अथवा जिस के वामनावतार सम्बन्धि तीन पैर से संसार नापने में सब भुवन आगये उस का वर्णन इस मन्त्र में है ॥ (अवतारमीमांसा)

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय । गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति ॥ ऋ० अ०७ अ०७ व०२८

सायणभाष्यम्—

दशानां दशसंख्याकानां पूर्वोक्तानामेवाङ्गिरसां मध्ये एकं मुख्यं कपिलं एतन्नामानं तं प्रसिद्धमृषिं कीदृशं समानं सदृशंकेन सामर्थ्यात्प्रजापतिना, हिन्वन्ति अवशिष्टा अङ्गिरसः प्रेरयन्ति । किमर्थं क्रतवे यज्ञादिजगत्प्रवर्त्तनकर्मणे यद्वा सम्यग्ज्ञान-लक्षणप्रज्ञानाय । कीदृशाय पार्याय परि समापयितव्याय प्र-णेतव्याय वा यज्ञादिकर्मणोपदेशनायेत्यर्थः माता प्रकृत्याख्या च वक्षणासु वक्षणाइति नद्य उच्यन्ते ताभिश्चात्रापो लक्ष्यन्ते प्र-

क्रातिस्थासु सूक्ष्मास्वप्सु सुधितं सुहितं प्रजापतिनास्थापितमित्यर्थः।
अवेनन्तं वेनतिः कान्तिकर्मा गतिनिवासमकामयमानं तादृशं प्रजा-
पतेः गर्भं तुषयन्ती तुष्यंती सम्यक् ज्ञानान्युपदेष्टुं योग्योयमिति
प्रीता सती बिभर्ति प्रजापतेर्नियोगाद्धारयति ॥

भाषार्थः-

दश संख्यावाले जो पूर्वोक्त अङ्गिरा हैं उनमें से कपिल नाम वाले प्रसिद्ध ऋषिको जो सामर्थ्य से प्रजापति के सदृश था शेष अङ्गिरसों ने प्रेरणा किया। यज्ञादि कर्म प्रवर्तना करने के लिये, अथवा यज्ञादि कर्मों के उपदेशक करने के लिये।

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव--

दश अवतारों के समान अद्वैत कपिल जी को परिसमाप्ति योग्य ब्रह्मयज्ञ के लिये प्रेरणा करते हैं और माता जी प्रजापति द्वारा गर्भ में स्थापित निवास चाहने वाले बाल को अपना उपदेशक जानकर प्र-सन्न होती धारण करती है।

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास-

दश अवतारों में से मुख्य यह कपिलावतार है अर्थात् अवतार विशेष है और प्रजापति के अंशों ने इस से ब्रह्म बोधन करने के लिये प्रार्थना किया जिस से यह अवतार हुआ। (अवतार मीमांसा)

**प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा वि-
वक्ति। महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदावराहो
अभ्येति रेभन् ॥ ऋ०अ० ७ अ० ४ व० १२ ॥**

सायणभाष्यम्—

उशनेव एतन्नामक ऋषिरिव काव्यं कविकर्मस्तोत्रंब्रुवाण उच्चार-
यन् देवःस्तोता अयमृषिः वृषगणोनाम देवानामिन्द्रादीनां जनिम

जन्मानि प्रविवक्ति प्रकर्षेण ब्रवीति (वच परिभाषणे) व्यत्ययेन विकरणस्यश्लुः बहुलंछन्दसीति अभ्यासस्येत्वं माहिव्रतः प्रभूत-कर्मा शुचिबन्धुः बध्नन्ति शत्रूनिति बन्धूनि तेजांसि बलानि वा दीप्ततेजस्कः पावकः पापानां शोधकः वराहः वरंच तदहः वराहः राजाहः सखिभ्यष्टजिति टच् समासान्तः। तस्मिन्नहनि अभिषू-यमाणत्वेन तद्वान् अर्शआदित्वान्मत्वर्थीय अच् तादृशः सोमः रेभन् शब्दं कुर्वन् पदा पदानि स्थानानि पात्राणि अभ्येति अभि गच्छति। यद्वा यथा कश्चन वराहः पदा पादेन भूमिं विक्रम-माणः शब्दं करोति तद्वत् ॥

भावार्थ—

उशना इस नाम वाले ऋषि के समान काव्यं कविता के कर्म रूपी स्तोत्र को कथन करता हुआ यह स्तोता ऋषि इन्द्रादिकों के जन्म प्रकर्ष करके कथन करता है। वह कैसा स्तोता है महीव्रत है, और बड़े कर्म्म वाला है, शुचिबन्धु है, दीप्ततेज वाला है, ऐसा जो सोम है वह शब्द करता हुआ यज्ञ पात्रों को प्राप्त होता है, अथवा जैसे कोई वराह पैर से भूमि का आक्रमण करता हुआ शब्द करता है वैसे यह भी शब्द करता है ॥

अर्थ अम्बिकादत्त व्यास—

(उशनेव) शुक्र के समान काव्य का कथन करता हुआ देव-ताओं में देव परमेश्वर अवतार प्रकट करता है वह कैसा देव है ? माहिव्रत है अर्थात् हिरण्यकशिपु से हरी हुई पृथ्वी उद्धारकी प्रतिज्ञावा-ला है, शुचिबन्धु जो सदाचारी भक्तों पर दयालु है (वराह) धारण कियाहै शूकररूप जिसने ऐसा भगवान् शब्द करता हुआ पैरोंसे चलता है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ य० अ० ३१ । १९ ॥

महीधरभाष्यम्—

यः सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्य्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीराः ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनिं स्थानं स्वरूपं (परि) पश्यन्ति अहं ब्रह्मास्मीति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥

भाषार्थः—

जो परमात्मा प्रजापतिरूप है, हृदय के अन्तर स्थिर होकर गर्भ के मध्य में प्रवेश करता है अर्थात् जो गर्भ के भीतर उत्पन्न न होता हुआ मायावश बहुत प्रकार के कार्य्यकारणरूप से प्रपञ्चरूप उत्पन्न होता है, धीर ब्रह्मवेत्ता लोग उस प्रजापति परमात्मा के (योनि) स्वरूप को "अहं ब्रह्मास्मि" इस रूप से जानते हैं । और सब भूत उसी कारणरूप परमात्मा में स्थित हैं। सब कुछ उसका आत्माही है यह अर्थ है ।

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र—

(प्रजापतिः) परमेश्वर (गर्भेअन्तः) गर्भ के मध्य में (चरति) प्राप्त होता है (जायमानः) जन्म धारण करता हुआ (बहुधा) देवता मनुष्य रामकृष्णादि रूपों से (विजायते) उत्पन्न होता है (धीराः) ज्ञानी महात्मा सतोगुण प्रधान पुरुष (तस्य) उस परमा-

त्मा के (योनिम्) जन्म कारण को (परिपश्यन्ति) ज्ञान से सब ओर से देखते हैं (अज्ञानियों को उस का जन्म नहीं विदित होता) (यस्मिन्) जिस परमेश्वर में ही (ह, विश्वा, भुवनानि) सब ब्रह्माण्ड (तस्थुः) स्थित हैं ।। दयानन्दतिमिरभास्कर प्रथमावृत्ति पृष्ठ १६९

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ।। य० अ० ५ मं० १५ ।।

महीधरभाष्यम्—

का० (८, ३, ३१) दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो हिरण्यं निधायाभिजुहोतीदं विष्णुरिति । दक्षिणशकटसम्बन्धिदक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय तत्रैव होमः ।। विष्णुदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा ।। विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमतेस्म । तदेवाह । त्रेधापदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्निवायुसूर्य्यरूपेणेत्यर्थः । पांसवो भूम्यादि लोकरूपा विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदे समूढं सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिति शेषः ।। यद्वायमर्थः । अस्यविष्णोः पदं पद्यते ज्ञायत इति पदमद्वैताख्यं स्वरूपं समूढमन्तर्हितमज्ञातमकृतात्मभिः । कस्मिन्निव । पांसुरे इव लुप्तोपमानं पांसुलेरजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न ज्ञायते तद्वत् ।। तदुक्तं (अ० ६ । ५ क०) तद्विष्णोः परमं पदꣳसदा पश्यन्ति सूरय इति ।। स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ।।

भाषार्थः—

विष्णुने त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके इस सब विश्व का विभाग किया, इस बात को इस मंत्र में कहते हैं । एक पैर

भूमिपर रक्खा, दूसरा अन्तरिक्ष में तीसरा द्युलोक में, इस प्रकार क्रम से अग्नि वायु और सूर्य्य रूप से विभाग किया, और जैसे धूलियुक्त प्रदेश में अर्थात् गहरी आंधी में सब वस्तुएं छिप जाती हैं इस प्रकार विष्णु के पद में सब लोक लोकान्तर छिपगए ।

अथवा इस मंत्र के यह भी अर्थ है– इस विष्णु का पद वह कहलाता है जो ज्ञान द्वारा जाना जाय और वह अद्वैत स्वरूप है अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान है और उस ज्ञान को अविवेकी असंस्कारी नहीं जान सकते जिस प्रकार कि धूलि युक्त प्रदेश में और वस्तुएं नहीं जानी जातीं, इस बात को अध्याय ६ मं० ५ में भले प्रकार स्पष्ट करदिया है कि विद्वान् लोग ही उस के ज्ञान को लाभ कर सकते हैं, अज्ञानी स्थूलदर्शी नहीं । ※

अर्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र—

अमरेश त्रिविक्रमावतारी वामन जी इस विश्व को उल्लंघनकरते हैं तीन पग धरते हैं । एक भूमि दूसरा अन्तरिक्ष तीसरा स्वर्ग में, इन के चरण में चतुर्दशभुवन ब्रह्माण्ड सम्यक् अन्तर्भूतहोता है ।

※ नोट—इसी पर पं० सत्यव्रत सामश्रमी का वह नोट है जिस में उन्हों ने लिखा है कि यह सायण का व्याख्यान वेद के आशय से विरुद्ध है जिस में वामनावतार निकाला गया है । और एक अंश में तो महीधर ने भी इस बात को मान लिया कि जब पिछले अर्थ में अद्वैतवाद को समर्थन किया और छठें अध्याय के उस मंत्र का उदाहरण दिया जिस में लिखा है "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" कि विष्णु के (पदम्) स्वरूप को ज्ञानी लोगही अवगत कर सकते हैं । इस से स्पष्ट प्रतीत होगया कि वेद का आशय वह नहीं जिस को अवतार वाद की ओर आग्रह से महीधर और सायण ने खींचा है ।

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव-

अमरेश त्रिविक्रमावतार बामन जी इस विश्व को उल्लंघन करते हैं तीन पग रखते हैं एक भूमिपर दूसरा अन्तरिक्ष में तीसरा स्वर्ग में इस का चरण चतुर्दश भुवनमय ब्रह्माण्ड में सम्यक् अन्तर्भूत होता है

रूपंरूपंप्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥ ऋ० अ०४ अ० ७ व० ३३ मं० १८॥

सायणभाष्यम्—

अयमिन्द्रः प्रतिरूपो रूपाणां प्रतिनिधिः सन् रूपंरूपं तत्तदग्न्यादिदेवतास्वरूपं बभूव प्राप्नोति भूप्राप्ताविति धातुः इन्द्रः स्वमाहात्म्येनतत्तद्देवतारूपो भवतीत्यर्थः ।अस्यचेन्द्रस्य तत्प्राप्तमग्न्यादिदेवतास्वरूपं प्रतिचक्षणाय प्रति नियत दर्शनाय अयमग्निरयं विष्णुरयं रुद्रइत्येवमसंकीर्णदर्शनाय भवति अपिचायमिन्द्रोमायाभिः ज्ञाननामैतत् ज्ञानैरात्मीयैः संकल्पैः पुरुरूपो बहुविधशरीरः सन् ईयते बहून्यजमानान् गच्छति ननुद्वावेवास्याश्वौ एकश्च रथः कथमनेन युगपद्बहून् गच्छतीत्यत आह—अस्येन्द्रस्य हरयोश्वाः युक्ता रथे योजिताः शतादश सहस्रसंख्याकाः अपरिमिताः सन्ति हि यस्मादेवं तस्माद्बहुशरीराणिस्वीकृत्य युगपद्विष्मतो यजमानान् गच्छतीत्यर्थः अन्ये मन्यन्ते इदि परमैश्वर्ये इत्यस्यधातोऽर्थानुगमादिन्द्रः परमात्मा सचाकाशवत् सर्वगतः सदानन्दरूपः स एवोपाधिभिरन्तःकरणैः प्रतिशरीरमवच्छिन्नः सन् जीवात्मेति व्यपदिश्यते स एव अनादिमायाशक्तिभिः

वियदादि जगदात्मना विवर्त्तते शब्दादिविषयहरणशीलाःइन्द्रियवृत्तयश्चतेनैवसंबद्धाः एतत्सर्वं तस्य परमात्मनो यद्वास्तवं रूपं तस्य दर्शनायेति। अयमर्थोऽनया प्रतिपाद्यते रूपं रूपं रूप्यत इति रूपं शरीरादि प्रतिशरीरं चिद्रूपः सर्वगतः परमात्मा प्रतिरूपः प्रतिबिम्बरूपः सन् सर्वाणि शरीराणि बभूव प्राप्नोति तच्चप्राप्तं प्रतिबिम्बरूपं अस्य परमात्मनः प्रतिचक्षणाय प्रतिनियताकारस्य दर्शनाय भवति सचेन्द्रः परमेश्वरः मायाभिर्याशक्तिभिः पुरुरूपः वियदादिभिर्बहुविधरूपैरुपेत सन्नीयतेचेष्टते एतदपि अस्य परमात्मनः प्रतिचक्षणाय भवति अस्य च दशशता सहस्रसंख्याका हरयः इन्द्रियवृत्तयः युक्ताः विषयग्रहणायोद्युक्ताः सन्ति तदपि अस्य वास्तवरूपस्य दर्शनाय भवतीति एवंस्थूलसूक्ष्मशरीरयोर्वियदादि महाप्रपंचस्य चतत्वज्ञानहेतुत्वमनयाप्रत्यपादीति।१८।

भाषार्थ—

इन्द्र सब रूपों का प्रतिनिधि होकर प्रत्येक रूप के लिये अग्न्यदि देवतास्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र ही अपने महत्त्व के प्रभाव से सब देवतास्वरूप होजाता है और इस इन्द्र के अग्न्यादि देवता स्वरूप के दर्शाने के लिये यह अग्नि है यह विष्णु है यह रुद्र है इत्यादि रूप होजाते हैं और बात यह है कि यह इन्द्र अपनी (माया) अपने ज्ञानों से बहुत प्रकार के शरीर धारण कर लेता है, इस में प्रश्न यह होता है कि उस के तो दो ही घोड़े हैं फिर एक ही समय में बहुत स्थानों में कैसे जासक्ता है ? इस का उत्तर यह है कि इस इन्द्र के रथ में जुते हुए घोड़े सहस्रों हैं इसलिये बहुत शरीरों को धारण करके विषम स्थानों में स्थित यजमानों के पास जासकता है।

कई लोग इस के यह अर्थ भी मानते हैं कि "इदि" परमैश्वर्ये इस धातु से इन्द्र शब्द बनता है और वह परमात्मा है आकाश के

समान सर्व व्यापक है और सदाआनन्द स्वरूप है और वही अन्तः-करण की उपाधि से प्रति शरीर में परिच्छिन्न होकर जीवात्मा कहाजाता है और वही अनादि माया शक्ति से आकाशादि जगत् रूप से सब जगत् स्वयं बन जाता है और यह जो उस परमात्मा का वास्तव स्वरूप है उस के दर्शाने के लिये ऐसा होता है यह अर्थ इस ऋचा से प्रति-पादन किया गया है कि सब शरीरों में चिद्रूप सर्वव्यापक परमात्मा प्रतिबिम्ब होकर सब शरीरों को प्राप्त होता है। और यह प्रतिबिम्ब रूप उस परमात्मा के नियत स्वरूप दिखलाने के लिये उपयोगी है। और इस परमात्मा के सहस्र संख्या वाले (हरिः) इन्द्रियों की वृत्तियें विषय ग्रहण के लिये नियुक्त हैं, और वे भी इसके वास्तव स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये ही हैं इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म शरीरों का और आकाशादि महा प्रपंच का तत्त्व इस मंत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है ॥ *

भाषार्थ ज्वालाप्रसाद मिश्र-

परमात्मा अपनी शक्ति से अनन्त अवतारादिरूप होकर प्रतीत होता है, अपने प्रभाव को प्रत्यक्ष कराने वाले जैसे २ रूप को माया प्रादुर्भाव करती है तत्सदृश होकर आप भी प्रतीत होता है और पर-मात्मा के जगत् रक्षक अनंत ही रूप जगद्रक्षा में हैं और दशरूप तो अति प्रसिद्ध हैं ॥

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ ऋ० अ० २ अ० २ व० २४ मं० ॥ १ ॥

---

* नोट-यहां सायण भी इस दूसरे अर्थ से अवतार वादियों के अर्थ को मिटागया और पहले अर्थ में अपनी अरुचि दर्शागया ।

सायणभाष्यम्—

हे नराः विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नुकं अतिशीघ्रंप्रवोचं प्रब्रवीमि अत्र यद्यपि नुकामिति पदद्वयं तथापि यास्केन नवोत्तराणि पदानीत्युक्तत्वात् शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्चनु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नुकामिति पदद्वयम् कानि तानीति तत्राह—यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रंजनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीनि अग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे अत्र त्रयोलोकाअपि पृथिवी शब्दवाच्याः तथाच मन्त्रान्तरम्—"यदिन्द्राग्नि अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुतस्थइति"--तैत्तिरीयेपि "योस्यांपृथिव्यां अस्यायुषेत्युपक्रम्य योद्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामिति" । तस्माल्लोकत्रयस्यपृथिवीशब्दवाच्यत्वम् । किंच यश्च विष्णुरुत्तरं उद्गततरं अतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतं अन्तरिक्षं अस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्कंभितवान् निर्मितवानित्यर्थः अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपिसृष्टवानित्युक्तंभवति । यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान रजः शब्दो लोकवाची लोका रजांस्युच्यन्त इति यास्केनोक्तत्वात् किंच यश्च उत्तरं उद्गततरं उत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकं अस्कभायत् स्कंभितवान् सृष्टवानित्यर्थः स्कंभे स्तंभुस्तुंभ्विति विहितस्यश्नः छन्दसि शायजपीति व्यत्ययेन शायजादेशः अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानिरजांसि लोकान्विममे भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां

तत्कारणत्वं किंच यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम् अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वं सधस्थं उपासकानां सहस्थानंसत्य-लोकं अस्कभायत् स्कंभितवान् ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणः त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान्त्रिविधं क्रममाणः विष्णोस्त्रेधा क्रमणं इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धं अतएवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः अति प्रभूतं गीयमानो वा यएवं कृतवान तादृशस्य विष्णोर्वीर्य्याणिप्रवोचम्।

भाषार्थ-

हे पुरुषो! विष्णु व्यापनशील देव के कर्मों को मैं कथन करता हूं जो विष्णु पृथ्वी आदि लोकों का स्वामी है और जिस विष्णु ने अग्नि वायु आदित्य लोकों को निर्माण किया, और जो विष्णु अति विस्तार वाला है और तीनों लोकों का आश्रय है तथा अन्तरिक्ष को जिसने बनाया है। अथवा जिस विष्णु ने सप्त लोकों को रचा है, और जो पुण्यात्मा का निवास स्थान है, भूरादि सातलोक जिसने रचे हैं और जो उपासकों के लिये सत्य लोक है, उसको जिस ने दृढ़ किया है, क्या करते हुए? तीन प्रकार से अपने बनाए हुए लोकों को आक्रमण करते हुए यह बात "इदंविष्णुर्विचक्रमे" इसमें प्रसिद्ध है। ऐसा विष्णु जो महात्मा पुरुषों से गान किया गया है उस के वीर्य्य को मैं कथन करता हूं।

महीधरभाष्यम्-

का० (८।४।९) उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति दक्षिणशकटस्याग्रं वोढुमाधारभूतं-काष्ठं स्थापयेदित्यर्थः ॥ तिस्रो वैष्णव्यास्त्रिष्टुभः आद्ये यजुरन्ते। विष्णवेत्वेति यजुः ॥ नुकमित्यव्ययमवधारणार्थम्। विष्णोरेव

वीर्याणि कर्माण्यहं प्रवोचं प्रब्रवीमि । प्रपूर्वस्य वचेर्लुङि रूपम् वचेरुम् अङभावः ॥ कानि कर्माणीत्याह । यो विष्णुः पार्थिवानि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि विममे निर्ममे । लोका रजांस्युच्यन्त इति यास्कोक्तेः (निरु० नै० ४, १९) रजः शब्दो लोकवाचकः यद्वा यः पार्थिवानि रजांसि पार्थिवपरमाणून् विममे परिगणितवान् । यश्च विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपमस्कभायत् यथाऽधो न पतति तथा स्तम्भितवान् । सहदेवा तिष्ठन्तियस्मिन तत्सधस्थम् । सधमादस्थयोश्छन्दसीति (पा० ६, ६, ९६) सहस्य सधादेशः स्कम्भरोधने । क्र्यादिभ्यः श्ना । हलः श्नः शानज्झाविति (पा० ३ । १ । ८३) हेरनुवृत्तौ । छन्दसिशायजपीति (पा० ३ । १ । ८४) यद्यपि हौ परे श्ना प्रत्ययस्यशायजादेशो विहितस्तथाप्यत्रव्यत्ययो बहुलमिति (पा० ३ । १ । ८५) लङ्यपिश्नः शायजादेशे अस्कभायदितिरूपम् ॥ कीदृशो विष्णुः ? त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिषु लोकेष्वग्निवायुसूर्य्यरूपेण पदत्रयं निदधानः । विपूर्वस्य क्रमतेर्लिटः कानज्वेति (पा० ३ । २ । १०६) कानचिरूपम् । तथा उरुगायः उरुगायोगमनं यस्य उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इतिवा ॥ (का० ८ । ४ । ७) दक्षिणतः स्थूणा मुपनिहन्ति विष्णवेत्वेति ॥ हेस्थूणे काष्ठ! विष्णवे हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निहन्मि निखनामीति शेषः ॥ १८ ॥

भाषार्थः—

मैं विष्णु के वीर्य्य को कथन करता हूं जिस विष्णु ने पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोक स्थानों को रचा है ।

अथवा जिस के ज्ञान में पृथ्वी आदि के परमाणु हैं जो विष्णु द्युलोक का आधार है फिर वह विष्णु कैसा है! जिसने त्रेधा विक्रमण किया है अर्थात् अग्नि वायु सूर्य्य रूप से जिसने पदत्रय को रक्खा है।

नोट---यहां महीधर ने भी इस बात को साफ़ कर दिया कि पदत्रय अग्नि वायु सूर्य्य रूप ही थे जो परमात्मा की शक्ति से तीन प्रकार के हैं ॥

अर्थ बालकराम—

यह यजुर्वेद के अ० ५ का १८ मंत्र है और ऋग्वेद के प्रथम मंडल अष्टक २ अध्याय २ वर्ग २४ अनुवाक २१ सूक्त १५४ का १ मन्त्र है, विष्णु अर्थात् सर्वत्र व्यापक जो परमात्मा है, उस के किस वीर्य्य पराक्रम को मैं उपासक कथन करूं, अर्थात् अनन्त वीर्य्य ज्ञानैश्वर्य्य वैराग्यशाली परमेश्वर के गुण पराक्रमों को मैं कैसे कथन करूं! क्योंकि विना गुण ज्ञान पराक्रम कथन करना असंभव है सो पराक्रम ज्ञान पराक्रमोंके अनन्त और अचिन्त्य होने से दुर्घट है इस से परमात्मा की महिमा अनन्त और अपार है यह सिद्ध भया, सो परमात्मा कीदृश है?—जोपरमात्मा तीन प्रकार से पादों का न्यास करता हुआ प्रथम पादन्यास से इस पृथ्वी लोक को मापता-भया, और दूसरे पादन्यास से अन्तरिक्ष लोक को मापताभया, और तृतीय पादन्यास से स्वर्गादि लोकों को मापताभया, फिर कीदृश है! कि (उरुगायः) कृष्णादिरूपों से अनेक प्रकार जिस परमात्मा को ऋषिमुनि कीर्तन करें हैं ॥

एवं अन्य भी यजुर्वेद का एक मन्त्र वामनावतार का प्रति पादक है ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे । य० अ० ५ मं० १५

तद्विष्णोः परमंपदꣳसदापश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्॥ य०अ० ६ मं० ५

महीधरभाष्यम्—

का० (६, ३, १३) तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणमिति । यूपकटकं प्रेक्षमाणो यजमानं वाचयेदिति सूत्रार्थः ॥ सूरयो विद्वांसो वेदान्तपारगा विष्णोः तत्परमंपदं स्वरूपं सदा पश्यन्ति । कीदृशम् ? दिवि आकाशे निरावरणे चक्षुरिवाततं व्याप्तम् । यद्वा यत् दिवि आकाशे चक्षुरादित्यमण्डलमाततं विस्तारितम् इवोऽनर्थकः चक्षुः शब्देनान्यत्रापिमंडलमुच्यते चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य (७, अध्या० ४२ मं०, तच्चक्षुर्देवहितम् (अध्या० ३६ मं० २४)

भावार्थ—

(सूरयः) विद्वान् लोग वेदान्तपारग उस विष्णुके परमपद को अर्थात् स्वरूप को सदा देखते हैं, वह कैसापद है ? जो कि निरावरण आकाश में चक्षु की तरह व्याप्त है । अथवा जो पद आकाश में चक्षुरूप आदित्य मंडल से विस्तार किया गया है

नोट—यह मंत्र यहां इस अभिप्राय से दिया गया है कि यहां विष्णु के पद के अर्थ सब ने स्वरूप के ही माने हैं, सायण भाष्य यहां विस्तार के भय से नहीं दिया, सायण में भी यही आशय है इस से स्पष्ट हो गया कि " इदं विष्णुर्विचक्रमे " इस मन्त्र में भी पद के अर्थ पैर के कदापिनहीं हो सकते।

समुद्रोसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसिं ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्रमातिरस्स्वस्तिमेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात् । यजु०अ०५मं०३३

महीधर भाष्यम्-

ब्रह्मासनम् हेब्रह्मासन ! त्वं समुद्रः विश्वव्यचाश्चासि सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्त्यवेति समुद्रः समुद्र इवागाधो ज्ञानेन ब्रह्मा यत्र तिष्ठतीतिवा । विश्वंसर्वंयज्ञं व्यचति गच्छति कृताकृतप्रत्यवेक्षणार्थेति विश्वव्यचाः । शालाद्वार्य्यम् हेप्राचीनवंश शालाद्वारवर्त्तिन्नग्ने ! त्वमजोऽसि अजति आहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशे गच्छतीत्यजः यद्वा परब्रह्मत्वमुपचर्य्यते नजायत इत्यजः । एकः पातीत्येकपात् यद्वा एकः पादः सर्वाणि भूतानि यस्येत्येकपात् पादोऽस्यविश्वा भूतानीतिश्रुते ।"प्राजहितम्" पत्नी.शालापश्चिमभागवर्त्ती पुरातनो गार्हपत्योग्निःप्राजाहित उच्यते हे प्राजहित !त्वमहिरसि न हीयत इत्यहिः शालाद्वारीये नूतने गार्हपत्य उत्पन्नेपि अयमग्निः स्वरूपेण न हीयते । बुध्नो मूलं तत्र भवो बुध्न्यः आधानकाले प्रथममाहितत्वान्मूलभावित्वम् स हि प्रथमं मथ्यते ॥ नामभिरेवात्रधिष्ण्यानां स्तुतिः । उक्तंच । स्तुतिः स्वनाम्ना कर्म्मणा वाथरूपैरिति ॥ का० (९. ८, २२) वागसीति सदोऽभिमर्शनमिति ॥ हे सदः ! त्वं वागसि वाचास्मिन् कर्म कुर्वन्तीति वाक् शब्देनाभेदोपचारेण सद उच्यते । ऐन्द्र मिन्द्रदेवताकं चासि । सीदन्त्यस्मिन इतिमदः ॥ (का०६,८,२३) ऋतस्यद्वारावितिद्वार्यं इति । द्वार्ये सदो द्वारशाखे अभिमृशतीति सूत्रार्थः ॥ हे ऋतस्य यज्ञस्य द्वारोद्वार देशस्थायिन्यौशाखे!युवां मा मां मा सन्ताप्त मा सन्तापयितं प्रवेशनिष्क्रमणे खलनादिना । तपतेर्लुङि मध्यमैकवचने झलोझलीति (पा०८,२,२६) सिज्लोपेरूपम् ॥ (का०९. ८,२४-२९) अभिमंत्रणमुत्तरैरध्वनामध्वपतइति सूर्य्यम् । उत्तरैस्त्रिभिर्मंत्रैस्त्रयाणामभिमंत्रणं

दर्शनमित्यर्थः तत्राध्वनामिति सूर्यमभिमन्त्रयत इति सूत्रार्थः॥ अध्वपते मार्गपालक रवे! अध्वनां मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मा मां त्वं प्रतिर प्रवर्धय तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। किञ्च अस्मिन् देवयाने देवयान-प्रापके पथि यज्ञमार्गे मे मम स्वस्ति कल्याणं भूयात् ॥

भाषार्थः—

हेब्रह्मासन! तू समुद्र है और विश्वव्यचा है जिसको सब विश्व प्राप्तहो उसको विश्वव्यचा कहते हैं सबदेव उत्कर्ष करके जहां द्रवणकरें उसको समुद्र कहते हैं समुद्र के सम गम्भीर ब्रह्मा उस आसन पर बैठता है इ-सलिये उसको समुद्र कहागया है और हे प्राचीन बांस की शाला के द्वार पर रहनेवाले अग्ने! तुम अज हो, अज इसलिये हो कि आहवनीय रूप से यज्ञप्रदेश को प्राप्त होते हो। अथवा यहां अग्नि में परब्रह्म का उपचार किया गया है कि "न जायतइत्यजः" फिर तुम कैसे हो? एकपाद् हो अर्थात् एकही सबको पवित्र करते हो अथवा एकपाद स्थानी हैं सबभूत जिसके उसको एकपाद कहते हैं फिर तुम कैसे हो? प्राजहित हो, प्राचीन गार्हपत्याग्निका नाम प्राजहित है, और फिरतुम अहि हो अर्थात् तुम्हारा नाश नहीं होता, शालाके द्वारके नूतन गार्ह-पत्यमें तुम उत्पन्न होकर भी स्वरूप से नाश नहीं होते इसलिये तुम अहि हो तुम वाक् हो और ऐन्द्र हो, तुम सद हो, हे(ऋत) यज्ञ के द्वारदेशमें रहनेवाली शाखो! तुम मुझको संतप्त मत करो, और हे अध्वपते मार्गके पालक सूर्य्य! मार्गोंके मध्य में मेरी तुम वृद्धि करो। किंच इस देवयान को प्राप्त करने वाले मार्ग में मेराकल्याण हो॥

अर्थज्वालाप्रसादमिश्र -

हे भगवन्! आप(विश्वव्यचाः)"विश्वं बहुरूपं व्यनक्तीति विश्व-व्यचाः" अपने में बहुरूपोंको प्रगट करनेवाले समुद्रवत् विस्तृत हो जैसे

समुद्र अपने में तरंग बुदबुद अपने से अनन्य स्वाभाविक प्रगट करता है तद्वत् आपभी अपने बहुरूप अवतार प्रगट करते हैं [प्रश्न] यदि अनेक अवतार हुए तो परमात्मा को जन्मवत्व होना चाहिये (उत्तर) "अजोसि एकपात्" एकपादरूप हे भगवन्! आप यद्यपि माया सहित हैं तथापि त्रिपाद आपका रूप (अज) सर्वथा जन्म प्रतीति शून्य है सोई श्रुत्यन्तर में कहाभी है ॥

त्वंस्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमारो उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः । अथर्व० कां० १० अ० ४ मं० २७

इस मंत्रपर सायण का भाष्य नहीं है पर स्वामी शंकराचार्य का भाष्य है और वह भी हमारे सनातन भाइयों केलिये सायण से न्यून नहीं है वह इसप्रकार है । अंशाधिकरण में जहां स्वामीजी ने सब वस्तुओं को ब्रह्म सिद्ध किया है वहां यह कहा है कि कैवर्त्त (मछलीपकड़नेवाले) और दास जो स्वामी के लिये अपना आत्मा अर्पण करते हैं और कितव (जुएकी वृत्ति से निर्वाह करनेवाले) ये सब ब्रह्म ही हैं । यहां नीच जन्तुओं के दृष्टान्त से यह सिद्ध किया गया है कि सब जीव जो नाम रूपकी उपाधि से ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होते हैं उन सब को ब्रह्म कथन किया गया है, इसी प्रकार और जगह भी ब्रह्म के प्रकरण में सब जीवों को ब्रह्म बतलाया गया है कि जैसे कि त्वं स्त्री त्वं पुमानसि इत्यादिकों में । यहां स्वामीजीने सर्वात्मवाद में इस मंत्र की व्याख्या की है नकि अवतार वाद में इस को मिथ्यार्थ समीक्षण में विस्तार पूर्वक लिखा है इसलिये यहां विस्तार नहीं किया जाता । केवल उस

सनातनी भाई का भाष्य लिखकर इस मन्त्र का दृश्य दिखलाया जाता है जिस ने सब अवतारों का भण्डार इस मंत्र को समझा है।

अर्थ ज्वालाप्रसाद भार्गव—

हे भगवन्! आप ही भारती भवानी श्रीरूप वा मोहिनी रूपअवतारों से स्त्री रूप हैं तथा परशुरामादि अवतारों से पुमान् हैं वामन अवतार से कुमार हैं वा सनत्कुमारादिरूप से और कन्यारूप वैष्णवी दुर्गादिरूपसे कुमारी हैं और आप ही वृद्ध ब्राह्मण हो कर दण्ड करके वंचसि गमन करते हो आप ही कृष्णावतार में विश्वरूप होके प्रतीत होते हो।

इस मन्त्र में सब ही इतिहास पुराण प्रतिपाद्य अवतारोंकी सूचना की है इस कारण यह मंत्र ही सब का मूल है।

उक्त मंत्रों के सायणाचार्य्यादिकों के अर्थों से यह शङ्का होगी कि वेदों में अग्न्यादि जड़ पदार्थों की उपासना है। जैसे—"भद्रो भद्रया सचमानः" इत्यादि मंत्रों के अर्थों में सायणाचार्य्य ने स्पष्ट कर दिया है कि यहां अग्नि देवता का वर्णन है। एवं राम कृष्णादि अवतार यदि सिद्ध न हुए तो वेदों में जड़ वस्तुओंकी उपासना पाए जाने का दोष लगा, यदि वैदिक लोग प्राचीन आर्य्य अग्न्यादिकों को ईश्वर मानते थे तो आधुनिक जो रामकृष्णादिकों को कोई ईश्वर मानते हैं उन से आर्य्यमन्तव्यों की क्या उच्चता हुई?।

इस शङ्का का उत्तर यह है कि इस अर्थाभास निदर्शन प्रकरण में सायणादि आचार्य्यों के भाष्य इस अभिप्राय से नहीं दिये गये कि यह भाष्य हमें सर्वथा मन्तव्य हैं किन्तु इस अभिप्राय से दिये गये हैं कि वादी लोगों के अर्थों को उन के सायणादि सनातन आचार्य्य

भी नहीं मानते, सायणादि भाष्यकारों का आशय हमने स्पष्ट बतलाना था कि सायणादि राम कृष्णादि अवतारों के पक्षपाती न थे।

रही यह बात कि हमारे मन्तव्यों में उक्त मंत्रों के क्या २ अर्थ हुए जिन से मंत्रों का आशय स्पष्ट ज्ञात हो कि उक्त मंत्र किन २ मन्तव्यों को वर्णन करते हैं और इन में जड़ अग्न्यादिकों की उपासना है वा नहीं ? इस संदेह की निवृत्ति के लिये हम "भद्रो भद्रया" इत्यादि मंत्रों का आशय वर्णन कर देते हैं।

इस से प्रथम यहां हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि हमारा यह मन्तव्य नहीं कि वेदों में अग्न्यादि जड पदार्थों का वर्णन नहीं। अग्न्यादि जड़ पदार्थों का वर्णन पूर्ण रीति से वेदों में पाया जाता है और ऐसा होना अवश्य चाहिये भी था जब वेद मनुष्य के धर्म्मार्थ काम मोक्ष इस फल चतुष्टय की सिद्धि के लिये हैं फिर उन में धर्म्मार्थकामोपयोगी पदार्थों का वर्णन कैसे न हो, वेदों में अनेक स्थानों में "अग्नि" अग्निहोत्रादि धर्म्म के लिये वर्णित है, अनेक स्थानों में सांसारिक "अर्थ" धनोपार्ज्जन के उपयोगी होने से अग्नि के गुणों का वर्णन है एवं अन्य स्थानों में मोक्षोपयोगी होने से अग्नि का वर्णन है इस प्रकार वेद अग्न्यादि विद्याओं से भरा पड़ा है जिस को देख कर बहुत लोगों को यह आशङ्का हो जाती है कि वेदोंमें अग्न्यादि जड़ पदार्थों का वर्णन ही भरा पड़ा है और कुछ नहीं, सत्य है ऐसी शङ्का करने वालों का अपराध भी क्या है जब कई एक भाष्यकार जड़ पदार्थों के वर्णन और उपासना विषयक ही वेदों के अर्थ मानते हैं ? हम दृढ़ता से कहते हैं कि यह उन भाष्यकारों की भूल है जो अग्न्यादि जड़ पदार्थों के उपास्य होने में वेद को लगाते हैं और प्रायः जड़ पदार्थों के वर्णन में ही वेदाशय वर्णित करते हैं, जब

वेद का आशय "अग्ने नय सुपथा" इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है कि यहां अग्नि ईश्वर का ही नाम है, यहां सुमार्ग प्राप्ति की अग्नि=ईश्वर से ही प्रार्थना है किसी जड अग्न्यादि देवता से नहीं। यह मंत्र यजु० अ० ४० का सोलइवां है इस अध्याय के प्रथम मंत्र में निराकार ईश्वर का वर्णन स्पष्ट है क्योंकि प्रथम मंत्र से लेकर इस सोलहवें मंत्र तक किसी जड देवता का नाम तक नहीं आया प्रत्युत "स्वयम्भू" आदि शब्दों से ईश्वर का ही वर्णन है इस बात को सब भाष्यकार मानते हैं फिर यह सोलहवां मंत्र और इससे आगे-का सत्तरहवां मंत्र, जड़ अग्नि और सूर्य की प्रार्थना में कैसे लगसक ता है। महीधर ने १६ और १७ इन दो मंत्रों को अग्नि देवता और सूर्य्य देवता से प्रार्थना में लगाया है उक्त मंत्रों का जड़ अग्नि सूर्या-दि में लापन करना वेद के आशय से सर्वथा विरुद्ध है॥

यदि यह कहा जाय कि अग्नि सूर्यादिकों के अभिमानी देवता चे-तन हैं उन से प्रार्थना की गई है। यह वादी का कथन युक्ति और प्रमाण से कदापि उपपादन नहीं हो सकता क्योंकि जिन मंत्रों में अ-ग्न्यादि जड़ पदार्थों की उत्पत्ति कथन की गई है जैसे— "मुखादग्निरजायत" इत्यादि इस उत्पत्ति में अग्नि देवता कोई चे-तन पदार्थ भिन्न नहीं माना गया, यदि अग्नि का अग्नि देवता भिन्न होता तो उस की उत्पत्ति भी वर्णन की जाती। और सर्वान्तरात्मा प-रमात्मा से भिन्न एक २ जड़ पदार्थ का भिन्न देवता उपपादन भी नहीं हो सकता, यदि एवं सब भिन्न२ देवताओं वाले ही जड़ पदार्थ होते तो "एको हि देवः प्रदिशो नु सर्वाः" "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः" इ-त्यादि वेदोपनिषद् सब में एक देव का कथन न करते, एवं अग्नि आदि भौतिक पदार्थ जड़ हैं यह सिद्ध हुआ, फिर इन भौतिक पदा-र्थों की उपासना में जो "अग्ने नय सुपथा" इत्यादि मंत्रोंको महीधर

सायणादि आचार्य्यों ने लगाया है वह वेद के आशय से सर्वथा वि-रुद्ध है क्योंकि यहां पर अग्नि परमात्मा का नाम था एवं कई एक मंत्रों में अग्निशब्द परमात्मा के लिये आया है जैसे "अग्नेव्रत पते-व्रतं चरिष्यामि" यजु० अ० १ मं०५ इस मंत्र में और " तदेवाग्नि स्तदादित्यः" य०अ० ३२ मं०१इस मंत्र में अग्नि परमात्मा का नाम है एवं जहां २ अग्नि से प्रार्थना वा अग्नि की उपासना की गई है वहां २ परमेश्वर का नाम ही अग्नि है किसी जड़ अग्नि की उपासना नहीं ।

यह हमारा अर्थ कई एक लोगों को बहुत शङ्कनीय होगा कि यह क्या ? अग्नि परमेश्वर का नाम तो आज ही सुना है अग्न्यादि की पूजा वेद में हैं इस भय से अर्थ बदले जाते हैं । इस का उत्तर यह है कि उस अज्ञान के समय में जब लोग वेदार्थ भूलकर अग्न्या-दि जड़ पदार्थों की पूजा करने लगे उस समय से यह विचार सर्वथा उठ गया कि अग्नि परमेश्वर का नाम भी कभी था वा नहीं, अन्यथा यह प्रसिद्ध बात कब यहां तक उठ जाती कि अग्नि ईश्वर की उपा सना कहने से वेद में भी भौतिकाग्नि ही समझी जाय, इस अवस्था में व्यास को भी अपने ब्रह्म सूत्र के समन्वयाध्याय में अग्न्यादि शब्द का ब्रह्म में "समन्वय" सम्बन्ध दिखलाना पड़ा । देखो वैश्वानराधिक-रण, इस अधिकरण में परमेश्वर का अग्नि नाम माना गया है । "तस्य ह वा, एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाः" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वैश्वानर अग्नि का नाम नहीं माना किन्तु परमात्मा का नाम माना है, इसी अधिकरण में "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" १।२।२८ इस सूत्र में जैमिनि ऋषि की सम्मति से यह निरूपण किया है कि अग्नि शब्द साक्षात् ब्रह्म का वाचक है जिस पर स्वामी शङ्कराचार्य्य

यह भाष्य करते हैं कि "अग्नि शब्दोऽप्यग्रणीयत्वादि योगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति" अर्थ—अग्निशब्द अग्रणी (सर्वोपरि) सब से प्रथम श्रेष्ठ होने के अर्थों में जब आता है तो परमात्मा का नाम ही आता है।

एवं मीमांसा करने से अग्नि परमेश्वर का भी नाम पाया जाता है फिर क्या अग्नि का अर्थ ईश्वर वेदों में छोड़ा जा सकता है ! कदापि नहीं, जिन लोगों ने इस अर्थ का वेदों में परित्याग किया है उन्होंने सर्वथा धोखा खाया है देखो—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"

इस का महीधर ने यह अर्थ किया है कि वह परमात्मा अग्न्यादि पदार्थों में ओत प्रोत है इसलिये उस की अग्नि आदित्यादि जड़ पदार्थों में उपासना विधान की गई है, यहां अग्नि का अभिमानी देवता तो उड़गया पर महीधर की समझ में अग्नि का अर्थ जड़ का ही रहा। स्वामी शङ्कराचार्य्य इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि "तदेवात्मतत्वमग्निः तदादित्यः" इत्यादि वही आत्मतत्व अग्नि और आदित्यादि है यद्यपि बाध समानाधिकरण मानकर विवर्त्तवाद के अभिप्राय से भी इस भाष्य का अर्थ किया जा सकता है तथापि अग्नि ब्रह्म का नाम है इस बात को स्वामी शङ्कराचार्य्य ने उल्लङ्घन नहीं किया एवं अग्नि, आदित्य, वायु आदि परमात्मा के नाम हैं इस आशय को कई एक वेद के मंत्र स्पष्ट रीति से वर्णन करते हैं, जैसे "शन्नोदेवीरभिष्टय०" इस अथर्व मंत्र में आपः 'जल' नाम परमेश्वर का है इस प्रकार सार यह निकला कि जब अग्नि, आदित्य, वायु, जल, आ-

दि परमेश्वर के नाम भी पाये जाते हैं तो उक्त नामों वाले पदार्थों की जहां २ उपासना प्रार्थना पाई जाती है वहां २ ईश्वर की प्रार्थना उपासना से अभिप्राय है जड़ वस्तुओं की प्रार्थना उपासना का अभिप्राय: नहीं, यदि जड़ वस्तुओं की उपासना वेद में होती वा भिन्न भिन्न वेदों की उपासना करने का वेदों का सिद्धान्त होता तो येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वस्तभितं येन नाकः । योअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० ३२।६ इत्यादि मंत्रों में यह निर्धारण न किया जाता कि जो पृथ्वी आदि सब लोक लोकान्तरों का आधार हैं उसी की भक्ति भक्तजन करें, इस मंत्र में महीधर भी यही भाव मानता है कि 'तं विहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मःम कस्मै चिदित्यर्थः " अर्थ—ऐसे पृथिव्यादिकों के आधार परमेश्वर को छोडकर हम किस को हविः दें, अर्थात् किसी अन्य को न दें, यह अर्थ है ऐसी अत्यन्त बलपूर्वक दृढ़ता से अनन्य भक्ति वेदों में न होती, यदि जड़ अग्नि आदिकों की पूजा वेद में होती तो, यह मन्तव्य वैदिक लोगों का है इसलिये जड़ पदार्थों की प्रार्थना उपासना का दोष वैदिक लोगों के मत में नहीं लगता, वैदिक लोगों के मत में प्रार्थना व उपासना वाले स्थानों में ईश्वर का नाम अग्नि है । उक्त निर्णय से प्रकरण में यह निश्चय हुआ कि "भद्रो-भद्रया" इस सामवेद के मंत्र में अग्नि परमेश्वर का नाम है क्योंकि इस मंत्र से पूर्व " पाहिविश्वस्माद्रक्षसः " इस मंत्र में यह प्रार्थना है कि हे अग्ने तू धर्म्म में विघ्नकारी राक्षसों से हमारी रक्षाकर फिर इस से आगे के मंत्र में यह प्रार्थनाहै कि हे परमात्मन्! तू हमारे कृष्ण अज्ञा-नरूप कलङ्कों को स्वतेजसे अर्थात् ज्ञानप्रदीप से दूरकर, जिस के अर्थ आधुनिक भार्गव ज्वालाप्रसाद भाष्यकार यह करता है कि परमात्मा

कृष्णदेह अर्थात् काले वर्ण वाले कृष्ण देह को आश्रयण करता है, इस अर्थ की सूझ अभी हमारे वादियों को नहीं पड़ी वरन यह मंत्र भी कृष्णावतार कथा में अवश्य लिख दिया जाता, अस्तु एवं ईश्वर का प्रकरण यहां हमारे आधुनिक अवतार वादियों को भी अभिमत है अब उक्त मंत्र के अर्थ यह हुए कि वह पूर्व मन्त्रों में प्रार्थना करने वाला जीवात्मा " भद्रया" अपनी कल्याणकारिणी इच्छा से संयुक्त हुआ २ परमात्मा की शरण आता है (पश्चात्) फिर परमात्मा उस "स्वसारं स्वस्यसारं स्वसारमात्मानुकूलामित्यर्थः" "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैषः वृणुते तेनलभ्यः" इस उपनिषद् में वर्णित आशय के अनुकूल उक्त साधन सम्पन्न जीवात्मा को अपने अनुकल " जार " अज्ञानादि दोषों को जलानेवाला परमात्मा अपने ज्ञानरूप प्रदीप्ति आदि कल्याण गुणों से जीवात्मा के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करता हुआ उस के भाव में स्थिर होता है और मल विक्षेपादि दोषों से रहित पुरुषों को परमात्मा प्राप्त होता है यह इस मंत्र का आशय है।

(२) इस मंत्र में विद्वान् गुरु के प्रति शिष्य का कथन है कि हे गुरो! मैंआपके सत्योपदेश रुपी आकर्षणको प्राप्त होउं जो विद्या ज्योतिवाले आपका विद्यारूपी प्रकाश तेजस्वियों में एक है जिसलिये "अप्रवीता" आपके सत्योपदेश रूपी तत्व को न प्राप्त होती हुई अर्थात् विषय वासनाओं से चपला जो मति है वह आपकी कृपा से आप के उपदिष्ट ज्ञानोपदेशरूपी गर्भ को धारण करती है एवं आप के शरणागत स्वशिष्य के सन्मार्ग दर्शकरूपी दूत आप बनें।

(३) उक्त प्रकार के उपदेश से "सद्योजात" तत्काल द्विजन्मा हुए २ शिष्य का तेज इस प्रकार बढ़ता है जैसे अग्नि वायु से

प्रदीप्त हुआ२ अपनी ज्वालारूप तीक्ष्ण जिह्वा से शुष्क काष्ठों का भक्षण कर जाता है एवं विद्याबल ओजरूप तेज उत्पन्न हुआ है। जिस ब्रह्मचारी में वह ब्रह्मचर्य्य है, जिस से "अम्भै" अपने तेज से अपने शत्रुवर्ग को अग्निवत् भक्षण कर जाता है।

(४) इस मंत्रमेंभी विद्वानों के गुणों का वर्णन है जैसे बहुत दूध वाली गौएं दूध पिलाती हैं और जैसे सूर्य्य की किरणों द्वारा मेघ से वर्षा आती है जैसे सिन्धु आदि नदियें स्वजल प्रदान से प्रदेशों में वृष्टि करती जाती हैं एवं विद्वान्लोग सत्योपदेश की वृष्टि करें।

इसी मंत्र से कृष्ण की गौएं और गोवर्द्धन पहाड़ अवतार वादियों ने निकाला है जिसका गंधमात्र भी मंत्रार्थ में नहीं पाया जाता।

(५) ऋ० मं० १० सू० १३५ मं० १ "यस्मिन् विश्वानि काव्या" इति (यस्मिन्) जिस में (विश्वानि) सब (काव्या) ज्ञान (चक्रे) चक्रमें (नाभिरिव) नाभिकेसम (श्रिता) आश्रित हैं जो इस प्रकार यथावस्थित वस्तुओं का संयोग करता है जैसा कि (व्रजे) गौएं के ठहरने की जगह में (गावः) गौओं को नियुक्त करता है (युजे) युद्ध में (अश्वान्) घोड़ों को नियुक्त करता है वह परमात्मा (समे) सब (अन्यके) और प्रति पक्षीदल को (नभन्ताम्) मारे, उस परमात्मा में (त्रितं जूतिः) तीन प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप गति (सपर्य्यत्) प्राप्त है।

(६) "अपिबत्कद्रुवः" इस छठे मंत्र का अर्थ यह है कि (इन्द्रः) सूर्य्य अपनी (सहस्रबाहे) सहस्र किरणों के अर्थ (कद्रुवः) जल बहाने वाली नदी समुद्रादिकों से उसके (सुतम्) जलको पान करता है। यहां ऐसा पान करने से (पौंस्यम्) उसका वीर्य्य (आदर्दीष्ट) दीप्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ इस मंत्र का यह हुआ कि सूर्य्य सहस्रबाहुरूपी किरणों से जलका आकर्षण करता है और उससे उसका वृष्ट्यादि करने का वीर्य्य बढ़ता है।

और मंत्रों का आशय वहां २ ही निरूपण कर दिया जायगा जहां २ उन के मिथ्यार्थों का समीक्षण किया जायगा, इस अर्थाभास प्रकरण में विशेष दर्शाने योग्य यह बात है कि जो अवतारवादियों के मत में अवतार बोधक मुख्य मंत्र मान गये हैं उन में भी अवतार का बीज नहीं पाया जाता, जैसे कि "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इस ऋग्वेद के मंत्र को सब अवतार वादी बड़ी प्रबलता से प्रमाण दिया करते हैं, यह बात तो पाठक सायण भाष्य से ही जान चुके होंगे कि सायण ने उक्त मंत्र के दोनो अर्थों में अवतार नहीं माना, पहले अर्थ में यह माना है कि इन्द्र देवता अनेकरूप धारण कर यजमानों के यज्ञों में आता है। और दूसरे में यह माना है कि इन्द्र परमात्मा मायोपाधि से अनेक रूप होकर स्वयं जीव बनजाता है। उक्त दोनों अर्थों से अवतार सिद्ध नहीं होता।

एवं "विष्णोर्नुकं वीर्य्याणि प्रवोचम्"इस मंत्र में व्यापक विष्णु के वीर्य्यबल का व्याख्यान किया गया है "यः पार्थिवानि विममे रजांसि" इसके सायणादि सब भाष्यकारों ने यही अर्थ किये हैं कि जिस व्यापक परमात्मा ने (पार्थिवानि रजांसि) पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकादिस्थानों को निर्माण किया। यही सायण और महीधर कहते हैं इस मंत्र का आशय साकार वा अवतार के वर्णन में किसी प्रकार भी नहीं निकल सकता पर हमारे अवतारवादी स्वामी बालकराम पं० साधुसिंहादियों ने इस मंत्र में भी तीन पैर से पृथ्वी मापने का आशय जोड़दिया कि"यः, त्रेधा त्रि प्रकारं विचक्रममाणः पादन्यासं कुर्वन् सन् पार्थीवानि भूमि सम्बन्धीनि रजांसि विममे"

अर्थ— जो विष्णु ने तीन प्रकार से पैर रख कर तीनों लोकों को गिना, इस अर्थ से बलि छलने वाला अवतार निकाला, यही अर्थ स्वामी बालकराम ने किया है एवं उक्त मंत्रों के ऐसे मिथ्यार्थ किये हैं जिनको देखकर वैदिक पुरुषों का हृदय भय भीत होता है कि एवं अनर्थ होते गए तो न जाने थोड़े ही दिनों मे वेद में क्या २ भाव भर जायगा।

एवं "समुद्रोसि विश्वव्यचा" इस मंत्र के यह अर्थ किये कि अवतारों के लिये आप समुद्ररूप हैं जल बुद्बुदों के सम आप में से ही अवतार प्रकट होते रहते हैं इस आशय के अर्थ किये गए हैं। इस आशय का प्राचीन भाष्य में गन्ध मात्र भी न था, महीधर उक्त मंत्र को ब्रह्मासन की प्रशंसा विषय में लगाता है इस मंत्र में "अज" शब्द भी आया है जिसको अवतार वादी इस प्रकार लगाते हैं "अ-जोसिएकपात्" एक पादरूप हे भगवन्! आप यद्यपि माया सहित हैं, तिमिर भास्कर पृ० १७० यहां वादी को यह भी विवेक नहीं रहा कि "अजोसि एकपात्" यह प्रतीक देकर अर्थ यह करता है कि आपका एक पाद माया सहित है और तीनपाद अज हैं यह उलटा अर्थ कैसे? "पादोस्य विश्वाभूतानि" इस मंत्र का आश्रय लेकर वादी ने यह अभिप्राय निकाला है कि परमेश्वर का एक पाद जो माया सहित है उससे अवतार वाद का तात्पर्य्य निकल आएगा, परन्तु वादी ने यहां "एतावानस्य महिमा" यजु० ३१। ३ का तात्पर्य्य सर्वथा नहीं समझा, इस मंत्र में तीन पाद परमेश्वर के "अज" हैं और एक मायासहित है यह इस मंत्र का अभिप्राय नहीं। यदि वादी उक्त मंत्र का महीधर भाष्य भी पढ़ता तो यह अर्थ करने में अवश्य ल-ज्जित होता, देखो महीधर उक्त मंत्र के यह अर्थ करता है "एता-

वान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा, स्वकीय सामर्थ्य विशेषो विभूतिः नतु वास्तवं स्वरूपं" सर्वाणि भूतानि काल त्रय वर्त्तीनि "प्राणि जातानि पादश्चतुर्थांशः" इत्यादि भाष्य से महीधर ने स्पष्टकर दिया है कि यहां पाद कल्पना माया के अभिप्राय से नहीं किन्तु जगत् के अल्प देश में होने के अभिप्राय से है। स्वामी शङ्कर रामानुजादिकों ने भी उक्त मंत्र का इसी अभिप्राय से अंशाधिकरण में व्याख्यान किया है फिर क्या जाने प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यहां एक पाद ईश्वर के अवतार के लिये कैसे भिन्न रखलिया एवं उक्त मंत्रार्थों में बहुत स्थानों में मिथ्यार्थ किये गए हैं जो केवल महीधर सायणाचार्यादिकों के भाष्यों के लिखने से ही सम्यक् स्पष्ट नहीं होते अतएव हम विस्तार पूर्वक उक्त वादियों के मिथ्यार्थों को वक्ष्यमाण मिथ्यार्थ समीक्षण नाम तृतीय समुल्लास में विस्तार पूर्वक लिखते हैं जिसमें वादी लोगों के सिद्धान्त रूप से उक्त मिथ्यार्थों का विरोध दिखलाया जायगा, और शङ्कराचार्यादि भाष्यकारों के भाष्यों से भी विरोध दिखलाया जायगा ॥

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशे अर्थाभास निदर्शनं नाम द्वितीयः समुल्लासः ॥

अथ मिथ्यार्थसमीक्षणं नाम
तृतीयः समुल्लासः
प्रारभ्यते

इन अर्थाभास करने वाले कलयुगी आचार्य्यों ने अवतारों का क्रम अवलम्बन करके अवतार सिद्धि नहीं की, किन्तु जहां२ मिथ्यार्थ करने की सुगमता प्रतीत हुई वहां२ से अर्थाभास करना प्रारम्भ किया है अवतारों के क्रम से चलते तो ब्रह्मा, सनत् कुमारादि क्रम से वामनावतार षोड़श व पञ्चदश संख्या पर आता, पर इन सब ने वामन से ही प्रारम्भ किया है, कारण यह प्रतीत होता है कि यदि क्रम से चलते तो सब अवतारों के अर्थाभास का बीज वेद से सिद्ध करना पड़-यह दुष्कर काम ही नहीं था प्रत्युत असम्भव था अतएव जहां तहां से दश पांच मंत्रों का अर्थाभास करके स्वार्थ सिद्ध किया है ॥

हम इस मिथ्यार्थ समीक्षण में इन के क्रम को अवलम्बन नहीं करते किन्तु रामकृष्णादि मुख्य२ अवतारों से प्रारम्भ करते हैं। कारण यह है कि वामनावतार सिद्धि के मंत्रार्थ में सायणाचार्य्य ने यास्क के अर्थों को मुख्य माना है जिस से ईश्वर के अर्थ निकलते हैं तो फिर इस मंत्र से अवतार कथा क्या ? अस्तु इस की समीक्षा सामान्यतः अवतार सिद्धि के मंत्रो में करेंगे क्योंकि वामनावतार भी अवतार वादियों के मत में सामान्य ही है, न वामनावतार का कोई कहीं मंदिर पाया जाता और न रामकृष्णादिकों के सम इस विचारे अवतार का नाम रटा जाता है "केन गण्यो गणेशः" वाली बात ही है। अतएव हम पहले रामकृष्णादि मुख्य अवतारों की कथा का क्या तत्व है? यह बतलाते हैं ॥

यह तो सायण और महीधराचार्य्य के भाष्य देखने से पाठकों को स्वयं ज्ञात होगया होगा कि आधुनिक सनातन धर्मावलम्बी, ग्रन्थ-

कारों ने जो रामकृष्णादिकों के अवतार सिद्ध करने में पूर्ण शक्ति व्यय की है वह सब सायण और महीधर भाष्य ने निष्फल करदी। और उन के मत में इस उत्तर को भी अवकाश नहीं कि जो बात सायण और महीधर को नहीं सूझी थी सो हम ने निकाली, क्योंकि वहां तो सायणादि भाष्य पुराने होने से सदाचार में माने जाते हैं, फिर उक्त भाष्यों का विरोध करना असदाचारी और असनातनी बनना नहीं तो क्या है ?

हमें क्या भले ही नये अर्थ करें यह भी कलिकाल में एक अपूर्वता है जो सनातन समय से लेकर आज तक किसी भाष्यकारने "भद्रो भद्रया सचमान" इस सामवेद के मन्त्र के और "कृष्णं तएम रुशतः" इस ऋग् मंत्र के रामावतार और कृष्णावतार के अर्थ नहीं किये और अब किये जाते हैं पर इस बात की सगति हम अवश्य करेंगे कि क्या उक्त मन्त्रों के अर्थ रामकृष्णादि अवतार विषयक हो सकते हैं ? ॥

यह तो ऊपर के मंत्रार्थों से अवगत हो गया कि आधुनिक सनातन धर्मावलम्बी प्रायः सब ग्रंथकारों ने उक्त मंत्रों के एक से ही अर्थ किये हैं इन की आधुनिक परिपाटी में सायण महीधर के सनातन अर्थों की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं की गई। अस्तु इस प्रथम मंत्र पर सायण से विरुद्धार्थ करने का उत्साह केवल दो महापुरुषों को ही हुआ है। उनका नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने के कारण यहां प्रकट किया जाता है प्रथमाचार्य्य इस अर्थ के स्वामी बालराम हैं दूसरे पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, उक्त स्वामी साहब अर्थ करते हैं कि "स्वापित्रादि ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने से भगिनी के तुल्य जो सीता उसको जार रावण हरता भया" हम यहां नए मंत्रार्थ द्रष्टा से यह पूछते हैं कि यदि आपको

सायणाचार्य्य के अर्थों में ग्लानि थी जिन में जाररूप से भगिनी के हरण का अर्थ नहीं था किन्तु जारयिता शत्रुओं का नाश करने वाला, अग्नि हवन कुण्ड में आकर प्रातःकाल अपनी भगिनी रूप उषा से मिलता है उषा में भगिनी भाव आरोप का भाव यह है कि उषा समय हवन का फल है रूप सादृश्य से उषा और अग्नि दोनों भगिनी कही गई हैं यह अर्थ था। इस अर्थ को देखते तब भी भगिनी भाव कल्पना करके जार होने के दोष से वेदों को दूषित न करते, किन्तु जैसे अपने अर्थों में जार के अर्थ जारवत् के किये हैं भगिनी के अर्थ स्वपितृ आदिकों के रुधिर से उत्पन्न होने से किये हैं ऐसे ही उक्ति युक्ति लगाकर भगिनी में जार बुद्धि दोष को भी दूर हटा देते, पर क्यों इन्हें क्या पड़ी वेद दूषित हों सौ बार हों, यह तो स्वयं त्रिगुणातीत हैं, और उस सिद्धान्त के मानने वाले हैं जिसको अबोधध्वान्त की भूमिका में सूत्र रूप से सूचित किया है, वहां आधुनिक सनातन धर्म मूर्त्तिपूजादिकों की हानि में काल को दोष देते हुए यह लिखते हैं कि यह भी हमारी ही भूल है कि जो हम काल को उपालम्भ देते हैं क्योंकि जब "कालः कलयतामहम्" गीता के इस वाक्य से भगवान् ने कालरूप भी अपने को ही माना है तब तो यह सब परमेश्वर की ही माया का नाट्य कहना हमें उचित ज्ञात होता है ॥ यह तो हम कह आए हैं कि आपको वेदार्थ की पवित्रता से क्या? आप तो सब सत्यानृत को परमेश्वर का ही नाट्य समझते हैं, अतएव सत्यार्थ को छोड़कर मनमाने अर्थ कर नाट्य करते हैं, पर जब यह सब परमेश्वर का ही नाट्य है तो फिर आप मूर्तिपूजादि विषयों पर रुष्ट होकर देशोद्धारक और वैदिकधर्मप्रचारक महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी पर गाली प्रदान का नाट्य क्यों करते हैं और यूरुपादि यात्रा करने का विधान करने वाले लोगों को चिड़ियों की चोंचों का दृष्टान्त क्यों देते हैं ॥

यदि केवल विकालत से हिन्दुओं के अधिक दल का प्रसन्न रखना लक्ष्य रखकर उक्त भाष्य करते हैं तो यह और बात है क्योंकि जो लोग चिकनी चुपड़ी खाने के अभिप्राय से वेदों के अनर्थ करते हैं उनका क्या उपाय? ॥

अब हम दूसरे महाशय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के अर्थों की समीक्षा करते हैं इन्होंने भी सीताराम की सम्पूर्ण कहानी इसी मंत्र से निकाली है "भद्र"राम "भद्रा"सीताजी के साथ प्रगट हुए तब "जार" रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समान जानकी को हरण किया" क्या कहें स्वार्थ साधन क्या नहीं कराता? यह भद्र तो "भद्रो भद्रया" के भंवर में आए हुए जार के साथी वत् शब्द को भी ले डूबे, स्वामी बालकराम जी ने जारवत् कह कर कुछ तो गोपन किया था इन्होंने तो सारे श्रीरामचन्द्र के पवित्र इतिहास को कलङ्क लगा दिया और इस बात को भी छिपा दिया कि रावण ने स्व जन्मोद्धार के लिये जानकी जी का हरण किया था जिसकी साक्षी में रामायण प्रमाण है। इस से अधिक वेदज्ञता क्या होसक-ती है जो अग्नि का जारयिता गुण छिपा कर रावण का जार होना वेद भगवान् से सिद्ध कर दिया, स्मरण रहे कि ये वही लोग हैं जो श्री स्वामी दयानन्दजी पर वेदार्थ दूषित करने का दोष लगाया करते हैं किसी कवि ने सत्य कहा है "आत्मनो विल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति" पं० साधुसिंह और पं० अम्बिकादत्तजी ने तो इस मंत्र को अपने पुस्तकों में लिखा ही नहीं और पं० अम्बिकादत्तजी ने रामावतार की सिद्धि छोड़कर परशुरामावतार सिद्ध किया है यथावसर हम उसकी समीक्षा करेंगे, पर पहले कृष्णावतार विषय

में जो मंत्र दिया गया है उसके अर्थाभास की समीक्षा करते हैं ॥ " कृष्णंतएम" इस मंत्र के अर्थ सब से प्रथम पण्डित साधुसिंह ने सत्यार्थविवेक नामक पुस्तक में किये हैं इस बात को तो पाठक ऊपर के पाठ से सम्यक् समझ चुके होंगे कि इनके आधुनिक अर्थों में सायण नाम मात्र का भी साथ नहीं देता केवल अनुभव मात्र से ही नए अर्थ किये जते हैं "यद्प्रवीता दधतेह गर्भम्" इतने मात्र से ही कृष्ण जन्म निकाला है, वीत के अर्थ गमन के किये हैं अप्रवीत के अर्थ गमन रहित, जिसका भावार्थ बंधी हुई का निकाल कर फिर अपने भाव से देवकी अर्थ कर लिया है "यद्प्रवीता दधतेह गर्भम्" वाक्यार्थ यह लाभ हुआ कि कंस की बांधी हुई देवकी ने गर्भ धारण किया, धन्य है ऐसे वेदज्ञ जिन्होंने वेदार्थ करने में इतनी दूर की सोची कि केवल 'अप्रवीता' शब्द आजाने से देवकी अर्थ करलिया, उनके मत में कृष्ण शब्द साक्षात् कृष्णावतार का बोधक क्यों न हो, यहां पर संस्कृतज्ञों के ध्यान देने का स्थान है कि उक्त मंत्र में कृष्ण शब्द विशेषण वाचक है और एमन्–मार्गवाचक शब्द का विशेषण है अर्थ यह लाभ होता है कि रुशतः रोचमानस्य ते तव एम वर्त्म कृष्णंभवति—इस अर्थ को सायण ने स्पष्ट कर दिया है अतएव हम यहां अधिक विस्तार को सार नहीं समझते ॥

इस दूसरी आशङ्का का विचार करते हैं जो छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण से सिद्ध किया है कि वहां देवकी पुत्र लिखा हुआ है अतएव इस मंत्र में भी कृष्ण, देवकी पुत्र ही सिद्ध होता है छान्दोग्य प्र० पा० ३ खं० १६ में यह पाठ है कि:—

"तद्धैतदघोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायो-क्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामे-तत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशि-तमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६ ॥

अर्थ—अङ्गिरा गोत्र वाले घोर नामा ऋषि ने देवकी के पुत्र कृष्ण को पूर्वोक्त यज्ञ का उपदेश किया, और वह कृष्ण उस उपदे-श से सन्तुष्ट हुआ, फिर घोर ऋषि ने कहा कि इस पुरुष यज्ञ को करने वाला इन मंत्रों को अन्त में पढ़े कि हे परमात्मन् तू अक्षत है कभी क्षय नहीं होता अच्युत है कभी गिरता नहीं प्राणसंशित है जीवमात्र का प्राणप्रद होने से सब से श्रेष्ठ है ॥

अब हम पूछते हैं ? इस में कृष्णावतार कहां वर्णन किया गया है और कौन से पुराण में अवतार कृष्ण को घोर ऋषि का शिष्य वर्णन किया गया है ? इस उपनिषदर्थ में स्वामी शङ्कराचार्य्यजी भी इस कृष्ण को घोर ऋषि का शिष्य मानते हैं शङ्कर भाष्य यह है—

"घोरोनामत आङ्गिरसो गोत्रतः कृष्णाय देवकी पुत्राय शिष्याय"

अर्थ—जो नाम से घोर था गोत्र से आङ्गिरस था उस ऋषि ने अपने कृष्णनामा शिष्य को उपदेश किया उक्त शंकर भाष्य छोड़कर आप सनातन होने का अभिमान नहीं कर सकते अब बतलाइये क्या स्वामी शङ्कराचार्य्य भी भूलगए जो इसमें कृष्ण के अवतार होने का अर्थ न किया ? ॥

यदि यह कहो कि देवकी माता का नाम आने से ही कृष्णाव-तार का वर्णन उपनिषद् में पाया गया तो क्या पहले किसी कृष्ण की माता का नाम देवकी न था इसका क्या प्रमाण ? क्या अब ऐसे कै एक कृष्ण नहीं जिनकी माताओं का नाम देवकी हो, यदि

यह कहो कि कृष्णावतार से प्रथम कृष्ण नाम न था तो हम आप को दिखलाते हैं ऋ० मं० १ अ० १५ सू० १०१ के प्रथम मन्त्र में ही कृष्ण शब्द आया है जिसका सायण यह अर्थ करता है कि कृष्ण नाम वाला एक असुर था इन्द्र ने उसको मारा और उसकी स्त्री गर्भवती को मारा, ताकि उसके कोई पुत्र न हो, तो क्या फिर वहां भी कृष्ण से कृष्णावतार का अभिप्राय है फिर उसी मण्डल अ० १७ सू० ११६ कृष्णपुत्र का शब्द आया है तो क्या यहां भी कृष्णपुत्र से कृष्णावतार के पुत्र का वर्णन है ? कहां तक कहें उक्त मंत्र में तो स्पष्ट नाम आए हैं और जिसका प्रमाण आप देते हैं वहां तो कृष्ण नाम भी आपके मत में गुणवाचक है जिसके अर्थ आप खेंच के यह करते हैं कि ,, आपका जो सत्यानन्द चिन्मात्ररूप है और रुद्र रूप से तीन पुरों को नाश करने वाला स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्ण भा रूप को हम प्राप्त होवें,, क्यों महाशय इतने गूढ़ दार्शनिकार्थ तो आप निकालते हैं पर इस बात परभी ध्यान नहीं देते कि कृष्ण पद के साथ यहां भा का अन्वय नहीं, कृष्ण काले और भा दीप्ति का विरोध है। यह माना कि कृष्ण के अर्थ आपने रुद्ररूप के किये हैं जिससे भा दीप्ति के साथ विरोध नहीं आता पर फिर जब आप उस कृष्णरूप को तुरीय स्वरूप बनाते हैं तो फिर उसमें कृष्णत्व क्या? यह अर्थ केवल मन्द बुद्धियों को धोखे में डालने का आडम्बर मात्र है,, स्मरण रहे उक्त अर्थाभास के कर्त्ता वे महापुरुष हैं जिन्हों ने सत्यार्थ विवेक पुस्तक की भूमिका में यह प्रतिज्ञा की है कि हम असत्यार्थ हटाकर सत्यार्थ करेंगे और महामण्डल की शरण लेकर महाडम्बर रूप धोखे को हटाने के लिये कटिबद्ध हुए हैं जब ऐसे पुरुषों की यह गति है कि धोखा उठानेकी प्रतिज्ञा करके स्वयं धोखा करते हैं, और निष्पक्षी बनने की प्रतिज्ञा

करके स्वयं पत्नी बनते हैं तो फिर भारत सन्तान के उद्धार की क्या आशा हो सकती है? । इससे भी अतिशोक का स्थान यह है कि इनके पश्चात् निखिल शास्त्र निष्णात स्वामी बालकराम और वेद ब्राह्मण स्मृत्यादि सर्व शास्त्र पारग पं० ज्वालाप्रसादमिश्र, भारतरत्नाद्युपाध्युपहित पं० अम्बिकादत्त व्यास उक्त तीनों सनातन धर्म के सत्यार्थियों ने पं० साधुसिंह कृत अर्थाभास की प्रति उतारकर स्वस्वपुस्तकों में लिखी है, इन सत्यार्थियों को यह समझ नहीं आई कि हम यह क्या करते हैं! जो "यदप्रवीता दधतेह गर्भम्" से कृष्ण जन्म की सम्पूर्ण कहानी निकालते हैं। सत्य यह है कि किसकी शक्ति है जो प्राचीन आर्य्य सिद्धान्त रूपी दिवाकर को छिपाकर अजन्मा जगद्योनि परमात्मा का जन्म निरूपण कर सके? किसकी शक्ति है जो उस अपाप विद्ध का पापकर्मरूप गर्भादि योनियों में जन्म लेना वेद से सिद्ध करसके? किसकी शक्ति है जो उस जगत् पिता को देवकी वा कौशल्यादि माताओंका पुत्र बनासके? किसकी शक्ति है उस अकाय का भौतिक वा मायिक काय वर्णन कर सके इसबात को हम तर्क निरीक्षण प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे, प्रकृत यह है कि उक्त मंत्र के अर्थ को हमारे उक्त सनातन भाइयों ने ऐसा नवीन बनाया है कि जिससे उनके सत्यार्थी होने का नियम टूटगया॥

और जो चार मंत्र "सद्योजातस्येस्यादि" कृष्णावतार की सिद्धि में दियेगए हैं उन में कृष्ण का नाम तक नहीं पाया जाता और इन आधुनिकों ने इन मंत्रों में गोवर्धन का उठाना, व्रजमें गौएं चराना आदि सब कृष्णलीला उक्त मंत्रों से निकाली है सायणाचार्यने उक्त मंत्रों को अग्न्यादि विषय में लापन कियाहै अतएव हम उक्त मंत्रों के अर्थाभासों के विशेष समीक्षण करने की आवश्यक्ता नहीं समझते, अब

परशुरामावतार विषयक सप्तम मंत्रार्थ का समीक्षण करते हैं, इसमंत्र के अर्थ पं० अम्बिकादत्त व्यास परशुरामावतार के करते हैं, यहां यह कथन भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि एकही समय में दो अवतार कैसे ? और फिर वे दोनों एकही अर्थ के लिये वा परस्पर विरुद्धार्थ के लिये ? जैसा कि परशुराम और श्रीरामचंद्रजी के विषय म इतिहास सात्तीहै— अस्तु इस विषय को हम शङ्का समाधान में निरूपण करेंगे अब पूर्वप्राप्त मिथ्यार्थ की समीक्षा की जाती है उक्त पं० साहब केवल सहस्र शब्द की सहायता से परशुरामावतार निकालते हैं इनका अर्थ यह है"**इन्द्रः धृत जामदग्न्य रूपो नारायणः सहस्र वाहुं मशकार्थो धूम इति न्यायेन तन्नाशायेत्यर्थः ।**"

भाषार्थः— (इन्द्रः) धारण किया जमदग्नि के पुत्र का रूप जिस ने ऐसा इन्द्र परमात्मा सहस्र वाहु के लिये, जैसे मच्छर के मारने के लिये धूम किया जाता है इस प्रकार यहां चतुर्थी का प्रयोग है, सहस्र वाहु दैत्य के मारने के लिये परमेश्वरने परशुराम का अवतार धारण किया, पहली बात तो यह है कि सायणाचार्य्य ने अर्थ यह किये हैं कि इन्द्र ने सहस्रवाहु वाले शत्रु को मारा, इससे इस कपोल कल्पना का गंध मात्र भी नहीं पाया जाता कि इन्द्र ने परशुरामावतार धारण करके सहस्रवाहु को मारा । और यदि सहस्रवाहु शब्द आजाने से ही अवतार सिद्धि होती है तो "सहस्र शीर्षा पुरुषः" इस मंत्र के अर्थ सहस्र वाहु दैत्य के ही क्यों नहीं कर लिये जाते हम तो कई वार कहचुके हैं कि यदि एक२ नाम के पीछे लगकर वेदार्थ भ्रष्ट किये जांय तो सत्यासत्य की कोई आस्था नहीं रहती, इसी प्रकार एक२ नाम के पीछे अंधाधुंध चलकर पौराणिक ग्रन्थकारों ने धोखाखाया है, कहीं वराह नाम आगया तो उससे वराहावतार सिद्ध होगया । बस फिर क्या?

उक्त अज्ञान के अनुकरण की शरण लेकर ऐसे भाष्य कारों ने वेद के अर्थ का अनर्थ कर दिया ॥

और यदि यह कहा जाय कि वेद भगवान् सूत्रों के समान सूचना मात्र देता है इसलिये इसीप्रकार सब अर्थ वेदों से निकलते है, तो क्या सहस्रबाहु के साथ परशुराम आजाता तो वेद भगवान् को कौन बहु वक्तव्य था यह तो ईश्वर विषयहै जिसका वेद भगवान् ने ऐसा विवरण किया है जिससे कोई पुरुष भी ईश्वर स्वरूप के अज्ञान के कारण पुरुषार्थ से भ्रष्ट होकर अनर्थग्राही नहो इसलिये अकाय अव्रण अस्नाविर आदि अनन्त शब्दों से ईश्वर को अकाय सिद्ध किया गया है इसी प्रकार यदि अवतार वेद भगवान् को अभिप्रेत होता तो अनन्त शब्दों से बोधित किया जाता इसमें संकोच क्या था ? ॥

अब हम आठवें मंत्र में वर्णित बुद्धावतार विषयक मिथ्यार्थ का समीक्षण करते हैं यह अब वह अवतार है जिसके वेद में स्थान दान का यत्न केवल स्वामी बालकरामजी ने ही किया है अन्य किसी भारत धर्म के संस्कार कर्त्ता ने उक्त अवतार को वेद भगवान् में स्थान दान नहीं दिया, देते भी कैसे ? जब हाथ उठाकर इतिहास कह रहा है कि बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म का स्पष्ट खंडन किया, तब स्वामी शङ्कर ने बौद्ध धर्म के आक्षेपों से बचाकर वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया, यह कठिनाई है जिससे भयभीत होकर इस अन्तिम अवतार की चर्चा कम की गई है यहां हमारे ग्रन्थाध्यायियों के ध्यान में यह शङ्का होगी किक्या कारण है कि बुद्धावतार जो अवतारगणना में बीसवां स्थान लाभ करता है, बहुत पीछे का अवतार है इसको परशुराम के पीछे इस पुस्तक में चौथा स्थान कैसे दिया जाता है ? उत्तर यह है कि इस बात को सूचना मात्र से हम पहले भी सूचित कर आये हैं कि हमारे वादियों

ने अवतार सिद्धि को किसी क्रम से सिद्ध नहीं किया, किसी ने मत्स्यावतार से उठाकर वामन, नृसिंह, कृष्ण, बुद्ध, राम, कपिल, वराह उक्त अवताराष्टक तक ही अपनी सिद्धि समाप्त की, किसीने नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण, इन चार तक ही चारों वेदों का प्रमाण दिया, किसी ने नृसिंह, वामन, कृष्ण, इन तीनों को ही वेद त्रयी म बताया, किसी ने वामन, कपिल, नृसिंह, वराह, कृष्ण, इस पञ्चक का ही वेद पाठ से प्रमाण दिया, कहां तक कहें ऐसी क्रम अव्यवस्था की है कि कहीं नृसिंह पहले है कृष्ण जी विचारे सबसे पीछे जा पड़े, कहीं मत्स्यावतार सबसे प्रथम है तो वराह सबसे पीछे वर्णन किये गये हैं किसी ने बुद्ध को कृष्णजी के पीछे स्थान दान दिया है और किसी ने विचारे बुद्ध का नाम भी नहीं लिया है ॥

इस अव्यवस्था के कारण हमने मुख्य अवतारों के क्रम से कथा आरम्भ की है और हमारे विचार में बुद्ध श्रीरामचन्द्र, कृष्णजी से पीछे वर्णन का दर्जा किसी प्रकार भी कम नहीं रखता, हम तो कृष्ण जी के पीछे बुद्ध ही का वर्णन मुख्य समझते हैं केवल श्रीरामचन्द्र जी के साथ सङ्गति रखने से तीसरी जगह परशुराम का वर्णन किया गया है हमारे विचार में परशुराम जी अवतार कहलाने के इतने योग्य न थे जैसे कि बुद्ध। बुद्ध ने धार्मिक सृष्टि में ऐसा हल चल डाला कि किसी से छिपा नहीं, यह प्रसिद्धि यद्यपि हमारे वैदिक धर्म में कोई प्रतिष्ठा नहीं रखती तथापि बुद्ध के महाजन होने में किसी प्रकार भी यह प्रसिद्धि असिद्ध नहीं हो सकती। पर यहां हमारे विचार को कौन पूछता है ? जिस पौराणिक प्रथा में अवतारों की प्रसिद्धि का वर्णन है उस में बुद्ध ने कोई बड़ा काम नहीं किया जहां मत्स्यावतार भगवान् का इतना बड़ा काम है कि प्रलयकाल में इस

पृथ्वी रूपी नौका को अपने शृङ्ग में बांध के रक्षा किया, उस समय भुजङ्ग रूप रज्जु से इस भूगोल का मत्स्य के शृंग से संयोग किया गया था, **"भुजङ्ग रज्वामत्स्यस्य शृंगे नावमयोजयत् । उपर्युपस्थितास्तस्याः प्रणिपत्य जनार्दनम्"** ॥ मत्स्य-पुराण अ० २ श्लो० १९ ॥

परमेश्वर को नमस्कार करके उस नौका पर मनु जी उपस्थित हो गए जो भुजङ्ग रूप रज्जु से मत्स्यावतार भगवान् के सिर के शृङ्ग के साथ बांधी हुई थी, एवं वराह भगवान् जब अङ्गुष्ट मात्र प्रमाण ही ब्रह्माजी की नाक से निकले फिर तत्क्षण ही हाथी के परिमाण, फिर पर्वताकार होगए, जिनका काम दैत्य से पृथ्वी छुड़ाकर दान्तों में रख लाना पुराणों में श्रीमद् भागवत स्कं०३। १३ में वर्णित है ॥

तीसरे कूर्म भगवान् ने समुद्र मथन के लिये मन्थनीरूप मथन के साधन मन्दराचल के नीचे आधार होकर लक्ष योजन वाली पीठ से सहारा दिया प्रमाण यह है कि "दधार पृष्ठेन सलक्ष योजनः प्रस्तराणिर्द्वीप इवाऽपरो महान् ॥ श्री० भा० । ८ । ७ । ६" जहां इतने २ बड़े २ काम अवतारों के वर्णित हैं वहां बुद्ध विचारे की क्या कथा ? ॥

एक बुद्ध ही क्या, पौराणिक परिभाषा के देखने से ज्ञात होता है कि अवतारों की उत्तम मध्यम मन्दता की परीक्षा में कोई पुण्यात्मा ही उत्तम कोटि में आता है, वरन बहुत से तो विचारे अपनी अवतार पदवी से ही च्युत हो जाते हैं जैसे कि "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—श्री० भा० १ । ३ । २८ अर्थ यह है-की सब उस परब्रह्मरूप पुरुष की अंशरूप कला हैं अर्थात् उस पुरुष का समुद्र बिन्दु के सम अंशमात्र हैं केवल श्रीकृष्ण जी सारा पूरा

बना तना परब्रह्म हैं, इस लेख से श्रीरामचन्द्रादि सनातन अवतार भी उत्तम कोटि में नहीं आये मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह और यज्ञ, नारद, ऋषभदेव, धत्वन्तरि आदि सेकण्ड क्लास थर्ड क्लासियों की तो कथा ही क्या है? उक्त स्कंध में अवतार संख्या निम्न लिखित है।

सनत्कुमार १ वराह २ नारद ३ नर ४ नारायण ५ कपिल ६ दत्तात्रेय ७ यज्ञ ८ ऋषभदेव ९ पृथु १० मत्स्य ११ कूर्म १२ धन्वन्तरि १३ मोहिनीरूप १४ नृसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ व्यास १८ राम १९ रामबलभद्र २० कृष्ण २१ बुद्ध २२ हंस २३ हयग्रीव २४ फिर स्कन्ध ११। ४ में "आद्या बभूवच्छत धृति रजसास्यसर्गे विष्णुस्थितौ क्रतुपतिर्द्विज धर्म सेतुः"। रुद्रोप्ययाय-तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु श्लो० ५-अर्थ- वह आदि पुरुष रचना के लिये रजो गुण से ब्रह्मा हुआ फिर वही पुरुष स्थिति के लिये विष्णु हुआ, तीसरा तमोगुण से, वही पुरुष संसार संहार के लिये रुद्ररूप हुआ एवं इस स्कंध में आकर उक्त तीन अवतार ये और बढ़ गए, यहां की संख्या यों है—ब्रह्मा १ विष्णु २ रुद्र ३ नर ४ नारायण ५ हंस ६ दत्तात्रेय ७ सनत्कुमार ८ ऋषभदेव ९ व्यास १० हयग्रीव ११ मत्स्य १२ वराह १३ कूर्म्म १४ नृसिंह १५ वामन १६ परशुराम १७ राम १८ कृष्ण १९ बुद्ध २० बालखिल्य २१ शुक्र २२ हरि २३- उक्त संख्या में बालखिल्य १ शुक्र २ हरि ३ तीन ये और बढ़ गए, अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कौन से अवतार पदवी से खारिज किये जांय जिनकी जगह उक्त ६ और बढ़े हैं, **हमें इस मनसूखी बहाली से क्या**? इसका निर्णय तो स्वयं श्रीमद् भागवत्कार ने कर दिया है जो इस संख्या में निम्नलिखित महा पुरुषों के नाम काट दिये

जिनके नाम यह हैं- नारद१ कपिल२ पृथु ३ यज्ञ ४ व्यास ५ धन्व-न्तरि ६ मोहिनी रूप, यहां वादी यह उत्तर देगा कि उक्त अवतारों के यहां नाम न लेने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वे अवतार पदवी से गिरा दिये गए किन्तु परिणाम यह निकलेगा कि इस स्कन्ध मे ६ और बढ़ा दिये गए क्योंकि अवतारों की संख्या असंख्यात है जैसा कि इस श्लोक में कहा है "अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्व निधेर्द्विजाः" स्कं० १ । ३ । २६

अर्थ—परमेश्वर के असंख्यात अवतार हैं। इसका उत्तर यह है कि आप असंख्यात के सहारे नहीं चल सकते, आपको यह असंख्यता सङ्कुचित करनी पड़ेगी, यदि आप से कोई पूछे कि मसीह महम्मद और स्वामी दयानन्द भी अवतार थे तो आप इस का यही उत्तर देंगे कि नहीं, हमारी समझ में तो आपका यही उत्तर हो सकता है कि जिन के अवतार होने की हमारी अवतार संख्या में गणना नहीं वे अवतार नहीं। तो बस परिणाम यही निकला कि जि-न २ की आपकी अवतार संख्या में गणना नहीं वे अवतार नहीं अन्यथा बुरी भली शक्ति सम्पन्न सभी अवतार कहलावेंगे और कोई व्यवस्था न रहेगी, अस्तु प्रकरण यह है कि आप के श्री०भा० स्कं० ११ अध्याय ४ की संख्या में नारद, कपिल, पृथु, यज्ञ, व्यास, धन्व-न्तरि मोहिनीरूप उक्त महात्माओं के नाम २४ अवतार संख्या में न-हीं, और न आने का कारण यही है कि स्कंध में विष्णु ब्रह्मा, महे-शादि छः और बढ़गए जो प्रथम स्कन्ध में नथे । हमें इस नारदादि महात्मा सप्तक में सभी का शोक अवतार पदवी से रह जाने का नहीं किन्तु उक्त सातों में से व्यास और कपिल के चौबीस अवतारों में न आने का हमें महाशोक है कारण यह है कि व्यास जी के चौबीस

अवतारों में न शुमार होने से हमारे पौराणिक भाइयों की इतनी हानि है कि जो कथनीय है क्योंकि अब ईश्वरवचन के दावे से वे पुराणों का प्रमाण न दे सकेंगे, किन्तु केवल व्यास बचन से प्रमाणित करेंगे । कपिलजी का शोक इसलिये अधिक है कि स्वामी बालराम जी ने अपने अबोधध्वान्त में कपिलावतार की सिद्धि के लिये ऋग्वेद, श्वेताश्वतरोपनिषद् जहां तहां से अति कष्ट से प्रमाण अन्वेषण किये और यहां श्रीमद् भागवतकार ने कपिल को चौबीस अवतारों से बाहर करदिया । योंतो चाहो नारदजी भी बड़े आयु वृद्धावतार थे जिन की आयु करीब २ सब अवतारों से बढ़ी हुई है, विष्णु के समय नारद थे, नृसिंह के समय नारद थे, रामचन्द्रजी के समय नारद थे, कृष्णजी के समय नारद थे, इतनी लम्बी आयु का कोई भी अवतार नहीं पाया गया तथापि इन के चौबीस अवतारों से खारिज होने का शोक हम इसलिये नहीं करते कि इनका कोई अवतारों की भांति बड़ा काम नहीं पाया जाता । शेष रहे पृथु, यज्ञ, धन्वन्तरि और मोहिनीरूप, राजा वेन के पुत्र पृथु को अवतारों में गणना करने की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि पौराणिक कथाओं में पृथुका यही काम बड़ा बतलाया गया है कि उसने पृथ्वी को सम बना दिया पहले बहुत ऊंची नीची थी हमारी श्रद्धा इस बात पर कदापि नहीं जमती कि पृथुने ही इस पृथ्वी को बराबर बनाया है प्रथम ऐसी न थी, क्योंकि यदि अवतार होकर पृथु इस काम को उठाता तो अधूरा कदापि न छोड़ता, अब भी सैकड़ों कोसों में पृथ्वी ऊंची नीची है जहां पृथु का काम पूरा नहीं हुआ अथवा उन प्रदेशों में पृथु परमेश्वर का पांव नहीं पड़ा यज्ञ, धन्वन्तरि, मोहिनीरूप, का कोई बड़ा काम पुराणों में वर्णित नहीं केवल मोहिनीरूप का काम यह बतलाया जाता है कि उस अवतार ने

समुद्र मथन के अनन्तर मोहिनीरूप इस अभिप्राय से धारण किया था कि दैत्यों को धोखे से अमृत न दें सो यह समुद्र मथन की कहानी ही सर्वथा निर्मूल है फिर मोहिनीरूप का मूल क्या ? यह छल का काम भी परमेश्वर का काम नहीं। और शङ्करमोहन नाम द्वादश अध्याय में जो इस मोहिनी अवतार ने शङ्करमोहन लीला की है क्या वह किसी को रुचिकर हो सक्ती है कथा यों है एक समय शङ्कर ने विष्णुजी से कहा कि जो रूप आपने देवताओं के अमृत बांटने के लिये और असुरोंसे छल करने के लिये धारण किया था उस को मैं देखना चाहता हूं "**सोऽहं तद्द्रष्टुमिच्छामि, यत्ते योषिद्वपुर्धृतम्, श्री० भा० ८। १२। १२" येन संमोहिता दैत्याः पायिता-श्चामृतं सुराः" श्री० भा० ८। १२। १३**

बस फिर क्या ? इस मोहिनीरूप अवतार दर्शन के पश्चात् जो गति महादेव देवन के देव साक्षात् ईश्वर की हुई है वह किसी से छिपी नहीं, उस गति का यहां विस्तार करना, काम विषयक दुराचार के भावों का प्रचार करना है अतएव हम किसी स्थान से दो एक प्रतीकें दिखला देते हैं:- "**तयापहृत विज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः भवान्याअपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ। श्री० भा० ८। १२। १५" अर्थ—**

उस मोहिनी अवतार से जिस का ज्ञान नष्ट होगया है और उक्त कारण से कामदेव से व्याकुल हुआ भवानी पार्वती के देखते ही गतलज्ज हुआ महादेव उस के पीछे चलागया, आगे की कथा का परिणाम यह है कि फिर महादेव के भ्रष्ट ब्रह्मचर्य्य होने से यह सब संसार में सोना चांदी की खानें बनी, अर्थात् उन का रेतस् जहां गिरा उस से सोना और चांदी हुए प्रमाण यह है " यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः। तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते ! ॥ श्री० भा० ८। १२। ३३ समीक्षा—यहां हम ईश्वर साकार वादियों

से पूछते हैं कि यह क्या? यहां तो परशुराम और रामचन्द्रजी की तरह एक समय दो अवतार होने का ही दोष नहीं प्रत्युत एक अवतार पर दूसरे अवतार के मोहित होने का दोष है वह भी यहांतक अज्ञान का कि पहले यह ज्ञात था कि विष्णु मोहिनीरूप मुझे दिखलायेंगे यहां तक ही नहीं फिर उस मदनारि का मोहन जिसने कामज शक्तियें ही नहीं प्रत्युत कामदेव को भी भस्म करादिया था और क्या कहें इस कथा में एकस्त्रीव्रत यहां तक भंग किया गया है कि भगवती भवानी के देखते ही शिवने सब उक्त लीला की।

यहां पुराणों की पुष्टि करने वाला नयादल जो आजकल नई २ पोशाकें पहना कर पुराणों को पेश करता है वह बहुत प्रकार से इस प्रकरण की पुष्टि करेगा। कोई कहेगा कि शङ्कर के अर्थ यहां जीवात्मा के हैं और मोहिनी से आशय माया का है। माया आत्मा को मोह लेती है इस भाव को यहां दर्शाया गया है। कोई कहेगा शिव रेतस् के अर्थ यहां मैटर के हैं और मैटर से सब सोना चांदी की कानें बनी हैं। इस प्रकार नाना अर्थ निकलेंगे पर इसका उत्तर कोई नहीं कि भगवच्छंकर ने जिसको इसपुराण में ईश्वर अवतार करके वर्णन किया है ऐसे श्रेष्ठ ने स्वस्त्री के होने पर भी परस्त्री पर क्यों हस्ताक्षेप किया? क्योंकि भगवदवतार को ऐसा काम नहीं शोभता। इस के निषेध में कृष्णजी ने गीता में यह कहा है——

"**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते**॥" गीता–श्रेष्ठ लोगों को इसलिये सदाचार करना अत्यावश्यक है कि जो वे काम करते हैं इतर लोग उसी का अनुकरण करते हैं इस प्रकार यह शङ्कर मन मोहिनी कथा गीता के आशय से विरुद्ध है, परमात्मा के अकाय वि-

शेषण होने से वेद विरुद्ध है, किसी स्थान शंकर चौबीस अवतारों में गिना है कहीं बाहर है इस प्रकार यह भाव परस्पर विरुद्ध है एवं परीक्षण करने से परस्पर विरुद्ध और ईश्वर स्वभाव विरुद्ध मोहिन्यादि अवतारों का अवतरण प्रतीत होता है। और मत्स्यादि अवतारों के असम्भव कामों को मानने से तो शास्त्रों का मानही घट जाता है ऐसा कौन मन्दमति है जो यह निश्चय करे कि वास्तव में प्रलयकालमें इस भूगोल को शृङ्ग में बांधकर सम्पूर्ण प्रलयकाल मत्स्य भगवान् विचरते रहे और सब वस्तुओंका बीज उस बृहत् नौका में रखलियाथा यह गाथा किसी प्रकार भी नूह के तूफान से कम नहीं है। फिर ऐसी गप्पों को वेद से सिद्ध करना मिथ्यार्थ नहीं तो क्या है? यदि मच्छ कच्छादि रूप भगवान् के अवतारों में कुछ भी सार होता तो हमारे वादी लोग इनको संहिता में स्थान क्यों न देते, हमारे वादियों के ध्यान में मत्स्य अवतार का इतना बड़ा मान है कि दश अवतारों में भी मत्स्य भगवान् का नाम सबसे पहले सृष्टि रक्षा करने में भी मत्स्य भगवान् का काम सबसे महान् मत्स्य भगवान् का परिमाण भी समुद्र परिमाण जिसके आगे विष्णु आदिकों की सत्ता भी असत्ता सी भान होती है फिर ऐसे महामत्स्य के प्रमाण और ध्यान में न्यूनता क्यों! तत्व यह है कि पूर्व वर्णित पौराणिकभाव सर्वथा असम्भव है अतएव वेदों से भी सर्वथा विरुद्ध है, कहां यह वेदों का उच्चभाव कि ईश्वर अभोक्ता है" **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० २ ॥**

जीव ही केवल कर्म फल का भोक्ता है ईश्वर अभोक्ता रूप हुआ साक्षी है और कहां यह नीच भाव कि परमेश्वर मोहिनीरूप पर मोहित होकर केवल मनोरथ मात्र से भोक्ता बना ॥

वैदिक प्रमाण से प्रलयकाल में सर्वसृष्टि सदसच्छब्दों से अकथनीय होके ब्रह्म में रहती है ।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोयत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० मं० १० अ० ११ सू० १२९ मं०

इसी भाव को भगवान् व्यास ने ब्र० सू० १।१।९

में प्रकाश किया है कि सब भूतों का प्रलयकाल में ब्रह्म में (अप्यय) लय होता है और कहां पौराणिक व्यास के प्रमाण से भगवान् मत्स्यावतार के शृङ्ग के साथ प्रलयकाल में सृष्टि को बांधे२ फिरने का भाव यदि कोई यह आशङ्का करे कि उक्त वैदिक प्रमाणों में तो महा प्रलय का भाव है और यहां तो अवान्तर प्रलय में मत्स्य भगवान् के शृङ्ग से पृथ्वी बांध कर रक्षा कीगई है इसका उत्तर यह है कि जब महा प्रलय में प्रपञ्च का ब्रह्म में अप्यय है तो क्या आप की अवान्तर प्रलय में ब्रह्म का आश्रय नहीं हो सकता, जब सब साकार वस्तुओं का आधार अब निराकार ब्रह्म ही वादी को अभिमत है तो क्या प्रलयकाल का जल बहुत भारी हो जाता है! जो निराकार ब्रह्म से नहीं उठाया जाता, इस प्रकार वैदिक मन्तव्यों के साथ तुलना करने से मत्स्य भगवान् के शृङ्ग के साथ सृष्टि बांधने आदि बातें सर्वथा गप्प मालूम होती हैं, यही कारण है कि हमारे वादियों में से कोई इतने बड़े अवतार को वेद में नाम मात्र से भी नहीं दिखला सका, वादी लोग विष्णु सहस्र नाम के सम यदि वेद का पाठ करें अथवा गुरु ग्रन्थ की तरह अखण्ड पाठ रक्खें तो शायद रामकृष्ण के सदृश अर्थाभास मात्र से ही मत्स्य भगवान् को वेद सागर में ढूंड मारें पर इतना परिश्रम कौन करता है? यहां तो दो चार अवतारों के नाम मात्र ढूंढने से ही सब साहस समाप्त हो जाता है । शेष विचारे कूर्मादि

बड़े २ अवतार जिन के पीठ के काठिन्य भाव के भरोसे सब देवगण ने अमृत पान किया, ऐसे प्रसिद्ध अवतार भी इत्यादि करके ही सब सिद्ध किये जाते हैं विशेष साहस तो हम स्वामी बालकरामजी का पाते हैं जिन्होंने शतपथ के सहारे भगवान् मत्स्य को वैदिक बनाने की शरण दी और वेद को गप्पाकर बनाने में किञ्चिन्मात्र भी न्यूनता नहीं की। आप लिखते हैं कि "तब मनुजी ने मत्स्य की आज्ञानुसार उस मत्स्य के मायामय शृङ्ग के साथ उस नौका का रस्सा बांध दिया, और वह मत्स्य भी नौका को खींचते २ उत्तर गिरि हिमालय पर्वत की तरफ़ ले चला एवं चलते २ हिमालय के समीप आ पहुंचा, तब मत्स्य बोला कि हे मनो! अब मैंने तुझ को पार लंघा दिया, अब तू मेरे शृङ्ग से रस्सा को खोलकर इस हिमालय शिखरस्थ वृक्ष में बांध दे जब तक जल है तब तक इस पर्वत में रहो। अबोधध्वान्त पृष्ठ २५

समीक्षा—यहां तो आप पौराणिक गप्प को भी अतिक्रमण कर गए। जो मायामय मत्स्य शृङ्ग कहकर मत्स्यावतार के मर्म्म को भी मिटा गए, और आज कल के पुराण मण्डन कर्ता थिओसोफ़िष्ट लोगों को भी मार्ग बतलागए पर जो रस्सा मायामय शृंग में डाला और जिस हिमालय की चोटी वाले वृक्ष में बांधा, इस बुझारत बूझने का भी उपाय बतलाजते। क्यों स्वामी साहब आप ऐसी गप्पों के भरोसे ही महर्षि दयानन्द को निन्दित करते हैं कि वह ऐसी गप्पों के आकर ग्रन्थों को नहीं मानते, सत्य है शतशः कहने को उद्यत हैं महर्षि स्वामी दयानन्द ऐसे गप्पाकर ग्रन्थों की क्या परवाह करते हैं शतपथ हो चाहे सहस्रपथ हो जब उनका यह मन्तव्य है—

जोकि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रंथ हैं उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और

जो इन में वेद विरुद्ध वचन हैं उन को अप्रमाण मानता हूं मन्त०५२
पर आप बतलाइये आप के मत में तो यहां सब रास्ते संकुचित हैं,
और परस्पर स्पष्ट विरोध है। पुराणों में नौका को सांप का रस्सा
था आपने यहां रस्सा ही कथन किया है सांप विचारा उड़ा दिया
है, पुराणों में केवल मत्स्य के शृंग में ही रस्सा डाला था आपने शृंग
से निकालकर इस डूबते हुए भूगोल के जहाज़ के रस्से को हिमालय
के शिखरस्थ वृक्ष से जा बांधा, पुराणों में मत्स्य को भगवान् वासुदेव
का अवतार माना गया है मनु के उग्र तप करने पर जब ब्रह्मा जी
प्रसन्न हुए तब मनु के इस वर मांगने पर कि मैं प्रलयकाल में रक्षा
कर सकूं, ब्रह्मा के वरदान से मत्स्य भगवान् भेजे गए, और आपके
इस शतपथ के लेख में अवतार का नाम मात्र से ही अभाव नहीं
प्रत्युत उद्धृत शतपथ के आशय से मत्स्य मत्स्य ही पाया जाता है
और प्रार्थना करता है कि **"यावद् वै क्षुल्लका भवामो बह्वी
वै नस्तावद् नाष्ट्री भवति उत मत्स्य एव मत्स्यं
गिलति"** अर्थ—जब तक हम छोटे २ होते हैं तब पर्यन्त ब-
हुत सी अनिष्ट जनक नाश कारिणी विपत्ति बनी रहती हैं जैसे कि
कहीं मत्स्य ही मत्स्य को निगल जाता है। अबोधध्वान्त पृ० २३
फिर यहां अवतार का भाव कैसे समझा जाय जब कि यह क्षुद्र जन्तु
अपने जीने के लिये प्रार्थना करता है तो वह सर्व शक्तिमान भगवान्
कैसे हो सकता है?

पुराणों की कथा कहती है कि सर्व प्रलय होने पर मत्स्य भग-
वान् के शृंग में नौका बांधकर मनु ने सर्व रक्षा की केवल सूर्य्य सोम
वेदादि आवश्यक वस्तु मनु के साथ रहीं, फिर आप हिमालय की
चोटी वाले वृक्ष से कहां रस्सा जा बांधते हैं, पुराणों में यह मत्स्या-

वतार अपनेअवतारत्व का परिचय देकर वहां ही अन्तर्धान होगया, आप की कथा में तो मनु जी को हिमालय के पास छोड़ चुप चाप ही चला गया इत्यादि अनन्त भेद पौराणिक कथा और आप की इस कथा में हैं फिर आपकी यह प्रतिज्ञा क्या ? "आनन्द तो यह है कि जिस प्रकार मत्स्यावतार श्रीमद्भागवत प्रभृति में निरूपण किया गया है उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी निरूपण किया है" अबोधध्वान्त पृ० २२ ॥

समीक्षा—अब वह समय नहीं जब कि "कृष्णाय देवकी पुत्राय" इतना कह कर कृष्ण की सब कथा कथा जाती थी। अब वह समय नहीं जिस समय वेद में वराह शब्द आजाने से ही वराह पुराण बनाया जाता था, याद रहे कि अब विद्या का समयहै समझ सोच का समय है आगे पीछे की छान बीन का समय है फिर आप समझ बूझ कर मत्स्यादि अवतारों की गप्पों को क्यों सनातन ग्रंथों के गले मढ़ते हैं,एवं समीक्षा से अन्ध गोलांगूलावलम्बन न्याय * आप पर ही घटता है जो मत्स्यादि अवतारों की पूंछ अबतक भी नहीं छोड़ते महर्षि दयानन्द जी तो निम्नलिखित मन्तव्य रूपी सत्य का पालन कराके हिन्दूमात्र को मिथ्या भवसागर से पार कर गए, वह मन्तव्य यह है कि पुराण जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण इतिहास कल्प गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं भागवतादि को नहीं, यही नहीं फिर यह कहते हैं कि:—

---

*अंध को किसी ठगने एक बैल का पूंछ पकड़ाकर कहा कि इस को मत छोड़ना एक दम तुमारे को घर में पहुंचा देगा यही हाल दयानन्दियों का है। अबोध ध्वान्त पृ० २१

चारों वेदों विद्याधर्म युक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्रभाग को स्वतः प्रमाण मानता हूं २" यह वह मन्तव्य है जो प्राचीन आर्य्यों का मन्तव्य है यह वह मन्तव्य है जो गप्पाकर ग्रन्थों से बचने वालों के लिये एक मात्र मन्तव्य है यह वह मन्तव्य है जो स्वामी शङ्कराचार्य्य का भी मन्तव्य है,

"वेदस्यस्वार्थे निरपेक्षं प्रामाण्यं पुरुषवचसान्तु मूलान्तरापेक्षम" स्मृति पा० सू० १ शङ्करभाष्यम्"

केवल वेद ही स्वतः प्रमाण है और जो मनुष्य निर्मित ग्रन्थ हैं वे वेदानुकूल होने से ही प्रमाण माने जा सकते हैं अब कहिये क्या ? स्वामी शङ्कर उस वेद की शरण नहीं लेते जिसको स्वामी दयानन्द स्वतः प्रमाण मानते हैं न्याय तो यह है कि पहले स्वगृह टटोलो फिर दूसरे से बोलो' जब कपिल मत खण्डन करने के लिये स्वामी शङ्कर वेद की शरण लेते हैं तो फिर स्वामी दयानन्द मिथ्या बातों के खण्डन के लिये जब एक वेद मात्र को आधार करते हैं तो फिर क्यों घबराते हो, ? यह वैदिक पथ आर्य्य मात्र का मार्ग है इस पन्थ के यात्री ही मत्स्यादि अवतार विषयक मिथ्या मगर मच्छों से बचकर इस भव सागर से पार हो सकते हैं । अवतारों के न्यूनाधिक भाव और परस्पर विरुद्धभाव रूप प्रसंग सङ्गति से उपयुक्त मत्स्यावतारादि कथा निरूपण के अनन्तर हम पूर्व प्रकृत बुद्धावतार विषयक मिथ्यार्थ का बोधन करते हैं ॥

इस पुस्तक की संख्या के मं०७ यजुः १६ । २१ इस मंत्र से स्वामी बालराम ने बुद्धावतार सिद्ध किया है कि हे परमेश्वर ! आप तस्कर चोरों के पति हो इससे तस्कर नाम बौद्धों का है इससे बुद्धावतार सिद्ध हुआ, तस्करों के आप पति हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥

समीक्षा—बात तो आपने ठीक उठाई है उधर श्री० भा० स्कं० १ में इक्कीसवें बुद्धावतार का बीज यह वर्णन किया गया है कि असुरों के मोहन के लिये बुद्धावतार होगा, पर यह क्या? जो आपने "परिवञ्चते" के अर्थ यह किये हैं कि असुरों को वञ्चन कर तिन्हों से वेदका परित्याग कराने हारे हो, फिर आप गीता के प्रमाण से यह लिखते हैं कि **"तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥"** जो पञ्च यज्ञ का अनुष्ठान न करके भोजन करते हैं सो तस्कर हो जाते हैं, आपके उक्त लेख से पञ्च यज्ञों का परित्याग करा असुर बनाने वाला भी ईश्वर ही हुआ, आप तो गीता के परम भक्त हैं फिर इसका उत्तर क्या? कि **"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं"** जब २ धर्म की ग्लानि होती है अधर्म की जड़ उखाड़ने के लिये मैं होता हूं यहां तो आपके नियम से सर्वथा उलटा होगया, वेद छुड़ाकर असुर बनाने का काम आपके बुद्ध भगवान् ने ही किया, यदि कहो कि असुरों की भलाई वेद छुड़ाने में ही थी तो फिर परमेश्वर सर्व कल्याणकारी न हुआ, आपको सर्व कल्याण से क्या! आपतो मोहिनीरूप धर दैत्यों को छलना भी इसी पद से निकालते हो, रामचन्द्रावतार भी इसीमन्त्र से निकालते हो, उस पक्ष में तस्कर पति के अर्थ रावणादि दैत्यों के पति होने के करते हो, यदि ऐसे ही विपक्षभाव के अर्थ बुद्धावतार के तस्कर पति होने में करते तो विचारे बौद्ध चोर न बनते और नही बुद्धावतार को वञ्चकत्व का दोष लगता, क्योंकि विचारे बुद्धावतार ने आपके और अवतारों के समान न तो मार पीट की, और नही परशुरामावतार के सम इक्कीसवार क्षत्रियकुल नाश करके तीन तालाब

क्षत्रिय रुधिर से भरकर पिता का तर्पण किया, और न विचारे बुद्ध के शिष्य बौद्धों ने किसी को दुखाया, फिर उक्त मन्त्र बुद्धावतार का बोधक कैसे ? यदि परशुरामावतार में उक्त मन्त्र घटाते तो ठीक भी फवता। पर आपतो—संशयात्मा विनश्यति इस गीता वाक्य से "**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः**" इस अवस्था में हैं, अन्यथा ऐसा क्या कि कभी उसी "परिवञ्चेत" के अर्थ बुद्धावतार के, फिर उसी के मोहिनी अवतार के केवल धनुष् का नाम आ जाने से रामावतार के, "**डूबते को तृण का सहारा**" इस न्याय से कुकाशावलम्बन क्यों करते हो ! कुछ निश्चयात्मा होके कहो श्रीरामचन्द्रजी को तस्कर पति बनाकर कलंकित क्यों करते हो? यदि पौराणिक सनातन बनते हो तो अपने महीधर आचार्य्य का ही सहारा लो जो इस मंत्र को रुद्र पक्ष में लगाता है जिस रुद्र मूर्त्ति में चोर डाकू आदि सब का पति होना उपपादन हो सके ॥

सत्यार्थ इस मंत्र का वही है जो महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने स्वभाष्य के भावार्थ में प्रकाशित किया है कि वञ्चन करने वाले और सर्वप्रकार से छल कपट से वञ्चन करने वालों को राजा स्वनियमानुकूल निग्रह करे ॥

आश्चर्य्य तो यह है कि इस मंत्र में अवतार बोधक एकभी पद नहीं फिरभी अवतार वादी इसे स्वपक्ष में लगाते हैं ।

मं० ८ नृसिंहावतार इस मंत्र से सिद्ध किया जाता है ॥ मंत्रार्थ यह है कि स्ववीर्य्य पराक्रम से विष्णु व्यापक परमेश्वर स्तुति को प्राप्त होता है वह(मृगः) सिंह रूप है पर भयानक नहीं, फिर वह कुचर पृथ्वी में विचरता है यह विरोध है कि वह सिंह होके कैसे भयानक नहीं और पृथ्वी में रहकर गिरिस्थ कैसे है! इस विरोध का परिहार मंत्र के

उत्तरार्द्ध में है कि वह विष्णु जिसके 'त्रिषु विक्रमणेषु' अर्थात् उत्पत्ति स्थिति लय करने वाले तीन प्रकार के बल में "भुवनानि विश्वा" सब संसार के लोक लोकान्तर भ्रमण करते हैं एवं विध विष्णु निराकार होने से क्रूर भयानक सिंह नहीं किन्तु " न भीमः " आकृति से भयानक नहीं। और पृथ्वीतल पर रहकर भी वह व्यापक सर्वगत होने से गिरि शिखर में है हमारी समझ में इस मन्त्र का यही भाव आता है और श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने भी इस मंत्र का व्यापक ईश्वर के भाव से ही व्याख्यान किया है ॥

महीधर के अर्थ भी प्रायः इसी लायन को अवलम्बन करते हैं जो सब को शुद्ध करने वाला हो उस के अर्थ मृग के हैं, शुध्यर्थक मृजूष् धातु से महीधरने यह शब्द सिद्ध किया है और गिरिष्ठ के अर्थ अन्तर्यामी रूप से देह में स्थिर परमात्मा के किये हैं जिनको हम अर्थाभास निदर्शन में दर्शा चुके हैं, केवल इस बात की समीक्षा यहां करनी है कि जो महीधर कुचर के अर्थ यह करता है कि जो मत्स्यादि रूप से विचरे उसको कुचर कहते हैं यह अंश हम से विरुद्ध है। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं कि महीधर स्वामी शङ्करादिकों से भी बहुत पीछे हुआ है बहुत जगह स्वामी शङ्कराचार्य्य के अर्थों की प्रति करता है और पौराणिक समय का प्रवाह उस समय प्रबल प्रचण्ड वेग पर था मत्स्यादि अवतारों की सैकड़ों कथाएं भी लिखी जा चुकी थीं फिर "मत्स्यादि रूपेण चरतीति कुचरः" इस मनमाने अर्थ करने में क्या आश्चर्य है इस बात को हम बहुत इसलिये नहीं बढ़ाते कि इस मंत्र के अर्थ में सायण का भाष्य भी साथ देदिया है जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि सायण के समय में महीधर कृतार्थाभास मत्स्यावतार का मनोरथ मात्र भी विचार उत्पन्न नहीं हुआ था अस्तु अब उपर्युक्त

समीक्षण यह है कि जो आज कल के सनातनधर्म्मध्वजाधारियों ने इस मंत्र के अर्थ किये हैं वे कहां तक ठीक हैं ? इन के अर्थों में विप्रतिपत्ति यहां तक है कि कोई न के अर्थ ही नहीं करता कोई न के इव अर्थ करता है, कोई गिरिष्ठ के अर्थ शिव करता है और कोई गिरिष्ठ के अर्थ पर्वतस्थसिंह के सम भयानक के करता है, इत्यादि अनन्त भेद हैं पर महीधर और सायण को छोड़कर नृसिंहावतार की ओर सभी झुके हुए हैं सब एक मत होकर यही अर्थ करते हैं कि यह मंत्र नृसिंहावतार का विधायक है और विशेष यहां यह है कि "त्रिषु विक्रमणेषु" के अर्थ उस विशेषण वाले विष्णु के करते हैं जिसने तीन पाद से सम्पूर्ण भूगोलादि गोलों को मापा था, यहां अम्बिकादत्त व्यास भारतरत्न सब से विशेष हैं वे इस पद के अर्थ अपनी अवतार मीमांसा में सब से विलक्षण करते हैं कि "त्रिषु विक्रमणेषु त्रिषु विग्रहेषु"

"**विष्णु, ब्रह्म, रुद्रात्मकेषु**" अर्थ— जिस विष्णु के तीनों, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, रूप शरीरों में सब ब्रह्माण्ड निवास करते हैं वह विष्णु नृसिंहादि रूप अवतार धारण करने से स्तुति किया गया ॥

हम सब से विशेष यहां इसी अवतार मीमांसक की मिथ्यार्थ मीमांसा करते हैं जो यह अर्थ किया गया है कि जिस विष्णु के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन तीन विग्रहों में सर्व ब्रह्माण्ड निवास करते हैं, यह अर्थ बुद्धि विरुद्ध होने से ही मिथ्या नहीं अपितु वेदोपनिषद् सूत्र सब से विरुद्ध है यह कब सम्भव हो सकता है ? कि ब्रह्मा विष्णु रुद्र जो स्वयं शरीरधारी वर्णन किये गए हैं उन के शरीर में सब भुवन समा सकें, यजु० अ० ४० मं० ४ यह कहता है कि:—

उक्त निराकार परमात्मा में ही जल, वायु आदि सब की स्थिति है, इसी अर्थ को उपनिषद्कार इस प्रकार

अन्थन करते हैं कि " **अशरीरमशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति**" जो शरीर धारियों में अशरीर अर्थात् शरीरधारी नहीं है उस को मनन करने से पुरुष शोक मोह से निवृत्त हो सकता है, इसी अर्थ को ब्रह्म सूत्रकार व्यास ने तृतीय पाद " द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् " इस सूत्र में निरूपण किया है कि निराकार परमात्मा ही द्यौ, भू आदि सब भुवनों का अधिकरण है फिर न जाने इस आधुनिक व्यास ने क्यों व्यापक परमेश्वर को छोड़कर तीन शरीरधारियों को सब भुवनों का आधार बनाया, उक्त अम्बिकादत्त व्यास का यह भी सिद्धान्त है कि परमेश्वर विरुद्ध धर्माश्रय है अर्थात् परमेश्वर में परस्पर विरुद्ध गुण रह सकते हैं, इस को आप यों लिखते हैं कि विरुद्ध धर्माश्रयत्व भी ब्रह्म का स्वभाव है ऐसा शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है, और अलौकिकता के कारण विरुद्ध धर्माश्रयत्व हो ही सकता है यह सभी भक्तिकाण्ड वालों का साग्रह सिद्धान्त है ॥ सो ही श्रुति सम्मत भी है जैसे-श्रुति "**अणोरणीयान् महतो महीयान्** " "नमो ह्रस्वाय वामनाय च बृहते च नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च"।" तदेजति तन्नैजतीत्यादि"॥ अवतार मीमांसा पृ० ॥२६॥

समीक्षा—ईश्वर को विरुद्ध धर्माश्रयत्व आज तक किसी वैदिकाचार्य्य ने नहीं माना, यह नई सूझ आप को वा आप के शुद्धाद्वैतियों को ही सूझी है जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा का कूटस्थ नित्य अपरिणामित्व इत्यादि असंख्यात गुणों को छोड़, अनित्य अशुद्ध अपवित्र इत्यादि अनन्त परमात्मस्वभावविरुद्ध इन गुणों का भी आश्रय परमेश्वर माना । भला शुद्धाद्वैती वल्लभ सम्प्रदायियों को तो यह लालच था कि यदि विरुद्ध गुणों का अगार

परमेश्वर न माना गया तो हमारी कृष्ण लीला सारी ही समाप्त हो जायगी, फिर एक एक गोपी के लिये कृष्ण का अनेक होकर एक एक के साथ रासलीला करना कैसे सिद्ध होगा ? इत्यादि अनन्त लीलाओं का लालच था, पर आप को क्या? समय २ पर शङ्कर की शरण लेते हैं श्रीशङ्कराचार्य्य तो ईश्वर को एकरस मानते हैं, और विरुद्ध गुणों का गन्ध मात्र भी नहीं मानते जैसे देखो "न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति। कूटस्थ नित्यञ्च ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम । नच यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनम्, एवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मै चित् फलायाभिप्रेतप्रमाणाभावात् कूटस्थब्रह्मात्मविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्। सएष नेति नेत्यात्मा इत्युपक्रम्य, अभयं वै जनक प्राप्तोसि, इत्येवं जातीयकम्। स्मृति पा० सू० १४ शङ्करभाष्यम् अर्थ— कूटस्थ एक रस ब्रह्म में स्थिति और गति की तरह जो विरुद्ध धर्म हैं वे नहीं रह सकते कूटस्थ नित्य सर्व क्रियाओं से रहित हम ब्रह्म का वर्णन कर चुके हैं और जिस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है, इस प्रकार जगत् रूप परिणाम का दर्शन मोक्ष का साधन नहीं। स्वतन्त्र किसी फल के लिये जगत् रूप परिणाम का दर्शन अभिप्रेत नहीं किया जाता क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं कि इस जगत् रूप परिणाम को ब्रह्म समझा जाय, क्योंकि कूटस्थ एक रस ब्रह्म के ज्ञान से ही शास्त्र फल निरूपण करता है, वह शास्त्र यह है जो यह कहता है कि यह साकार आत्मा परमेश्वर नहीं। २। यह प्रकरण चलाकर आगे यह कहा कि हे जनक! तू अब अभय को प्राप्त हो गया है इस प्रकार का शास्त्र है श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्य का भी ईश्वर विषय में उक्त मन्तव्य है कि परमेश्वर विरुद्ध धर्मों का आश्रय कदापि नहीं हो सकता, इस जगत्रूप परिणाम को

यदि ब्रह्म समझा जाय तो यह शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है यहां स्वामी शङ्कर का केवल हम से इतना ही भेद है कि उन के मत में ब्रह्म का विवर्त्त मानकर यह जगत् ब्रह्मरूप कहा जा सकता है अस्तु यह दार्शनिक भेद है, यहां हम यह कहने से नहीं रुक सकते कि स्वामी शङ्कर में ब्रह्म के निर्विशेष एक रस मानने का जो वैदिक पवित्र भाव है उस को हम छिपा नहीं सकते, इस विषय में स्वामी रामानुज भी कल्याण गुणों की राशि ही ब्रह्म को मानते हैं विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं। यह लेख परिणामात् अ० १ पा० ४ सू० २७ के श्री भाष्य में स्पष्ट रीति से लिखा है कि ब्रह्म निखिल निन्दित गुणों से विलक्षण कल्याण गुणाकर स्वरूप है इस विषय में यदि उपनिषदर्थ का संग्रह करें तो एक महाभाष्य बनता है अतएव पुस्तक विस्तार भय से अधिक बिस्तार सार नहीं समझते, वेदाश्रय करने वाले सब आचार्यों का यही मुख्य मन्तव्य है कि ईश्वर विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं, फिर नजान इन शुद्धाद्वैतियों ने यह अशुद्धता कहां से ली, जो एक रस परमेश्वर को विरुद्ध धर्माश्रय माना, कई एक यह कहते हैं कि शुद्धाद्वैत वाले वल्लभ सम्प्रदायियों ने शङ्कर के मायावाद से डरकर यह मन्तव्य माना है कि एक परमेश्वर विना माया से ही नानारूप हो जाता है और फिर शुद्ध का शुद्ध रहता है, मानलीला, विहारलीला चीरलीलादि अनेक चरित्र करके भी फिर शुद्ध का शुद्ध रहता है, यह शुद्धाऽद्वैत है। हमारे विचार में तो यह मायावाद से भी महा अशुद्धाऽद्वैत है जिस में परमेश्वर को नाना कलङ्क लगाए जाते हैं इस को हम तर्काभास निरीक्षण प्रकरण में स्फुट करेंगे॥

अब प्रकृत यह है कि पण्डित अम्बिकादत्त ने यह क्या किया? जो ऐसे मार्ग का आश्रयण करके मिथ्यार्थ किये **"एकोऽहं बहुस्यां**

प्रजायेय " के अर्थ यह किये हैं कि मैं एक से अनेक बनूं सो द्वारिका के रनवास में एक से अनेक होना दिखलाया है, और एक से अनेक होकर गोपियों के साथ रासलीला की है । अवतार मीमांसा पृ० २८ ॥

और क्या कहें बस धन्य है इस सनातन धर्म के महत्व को जिस की कृपा से " **तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** " इस छान्दोग्य वाक्य के आज यह भी अर्थ सुनने में आए, अद्वैतवाद में इस के यह अर्थ हैं कि एक अद्वितीय ब्रह्म ने मायावश से यह इच्छा की कि मैं सर्वरूप हो जाऊं और वही सर्वरूप हो गया विशिष्टाद्वैतवाद में इस के यह अर्थ हैं कि सूक्ष्मरूप से उस ब्रह्म में जगत् का उपादान कारण प्रकृति भी थी और जीव भी था यह तीनों मिलकर विशिष्टाद्वैत कहलाता है उस जीव और प्रकृतिरूप ब्रह्म की शक्ति से यह सब संसार हुआ । द्वैतवादियों के मन्तव्य में ईक्षणकर्ता यद्यपि यहां एक कथन किया गया है आगे जाके यह भी कहा है कि "**अनेन जीवेनात्मना प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**" अर्थ-'इस जीव रूप आत्मा से प्रवेश होकर नाम रूप वाले संसार को रचूं और वह जीव अनादि काल से ब्रह्म से भिन्न है ब्रह्म का आत्मा केवल ब्रह्माधीन होने से कहा गया है, पूर्व वर्णित भिन्न २ वेदान्त के भाष्यकारों की शाखाओं में आज तक इस छान्दोग्य वाक्य के यही अर्थ प्रसिद्ध थे जो द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत वादियों ने किये हैं । पर यह अपूर्व अर्थ कि परमेश्वर एक से अनेक रूप धारकर गोपियों के साथ हुआ, यह पण्डित अम्बिकादत्तजी का ही बुद्धि वैशद्य है जो उपनिषदर्थ में भी गोपियों का प्रवेश करादिया, यद्यपि इस समय में तत्वमसि के अर्थ

हज़रत मसीतत्व हैं।यह भी कर लिये जाते हैं और "ईशावास्यमिदं सर्वम्" के अर्थ यह भी होतेहैं कि यह सम्पूर्ण विश्व प्रभुईसासे "आवास्यम्" आच्छादित है, एवं सहस्रों अनर्थ किये जाते हैं, तथापि इन अनर्थों को देखकर हमें ऐसा शोक नहीं होता जैसा कि भारतसन्तान के योग्य परिडतों के ऐसे लेखों से जैसा कि पं० अम्बिकादत्त ने इस उपनिषद् वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि भगवान् ने रणवास में गोपियों के लिये यह इच्छा की है कि "**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** " ॥

यदि हमारे सनातन धर्म की यही दशा रही तो न जाने और क्या२ अनर्थ होंगे । और ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आश्रय सिद्ध करने में जो पं० अम्बिकादत्त ने श्रुतियों की शरण ली है वहां सर्वथा श्रुतियों को कलङ्कित किया गया है " **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके** " इस यजु०अ०४०मं०५ श्रुति के यह अर्थ किये हैं कि वह परमेश्वर चलता भी है और नहीं भी चलता, दूर भी है और समीप भी है इस प्रकार परस्पर विरुद्ध गुणों का आश्रय है, इस अर्थ में पं० अम्बिकादत्त सनातन मर्य्यादा को भेदन करके उच्छृङ्खल होकर सर्वथा निर्मर्य्याद हो गये हैं । उक्त मंत्र का भाव स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस प्रकार प्रकट किया है कि वह आत्मा वास्तव में नहीं चलता, अज्ञानियों को चलता प्रतीत होता है एवं अज्ञानियों की दृष्टि में सदा दूर है और ज्ञानियों के समीप है, सर्वगत होने से वह सब के अन्तर है और बहिर्व्यापक होने से सब के बाहर है। इसी आशय से इस मंत्र का महीधर ने व्याख्यान किया है " **अचलमेव मूढदृष्ट्या चलतीत्यर्थः** " वह अचल ही मूर्खों की दृष्टि में चलता है एवं अविद्वानों की दृष्टि में दूर है, विद्वानों की दृष्टि में समीप है, शङ्कर महीधर और वेदान्त सम्प्रदाय के सब भाष्यकार यही अर्थ समझे हैं फिर अम्बिका-

दत्त व्यास ने यह अर्थ कहां से कर लिया कि विरुद्ध गुणों का आश्रय होने से ब्रह्म चलता भी है और नहीं भी, दूर भी है और पास भी, बाहर भी है और भीतर भी इस प्रकार अनन्त श्रुतियों का अनर्थ किया है ॥ **"अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"** इस कठ वचन का अर्थ शङ्करादिभाष्यों में यही प्रसिद्ध है कि सर्वान्तर होने से अणु से भी अणीयान् सूक्ष्म कहा गया है, कर्म्म निमित्त बढ़ने घटने से रहित है और ब्रह्मा से लेकर तृण पर्य्यन्त के भीतर व्यापक है इस अर्थ को त्याग कर विरुद्ध यह अर्थ किया है कि परमेश्वर बड़ा छोटा इत्यादि विरुद्ध गुणों वाला है ऐसे मिथ्यार्थ करके उक्त वचनों को अपने पक्ष में लगाया है और फिर वहां यह भी कहा है कि यह भक्तिकाण्ड वालों का साग्रह सिद्धान्त है। सत्य है, आग्रह हठ का नाम है अर्थात् हठ के साथ यह सिद्धान्त है, ऐसे मनमाने वेदशास्त्र और युक्तिविरुद्धार्थ में हठ ही तो काम देता है और क्या उपाय है। सं०मं० ६ अवतारवादियों ने इस मंत्र से कपिलावतार सिद्ध किया है, सायण ने इस में यह लिखा है कि दश अङ्गिरसों में कपिल ऋषि समान सब से मुख्य है, सायण के भाष्य में कपिल ऋषिपदवी में था, आज कल इन सनातन धर्मधुरेन्द्र पं० अम्बिकादत्त आदिकों की लेखनी के प्रभाव से कपिल अवतार बन गया, पर यहां पं० अम्बिकादत्त व्यास को तो यह भी स्मरण न रहा जो पृ० ४१ में बड़े उत्साह से लिखते हैं कि श्री रामानुजाचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्य श्री माध्वाचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य प्रभृति सभी सत्पुरुषों के शिरोमणियों ने अवतार माना है। और कपिल के अवतार मानने में आपके दो श्रीमान् किनारा करगये, रामानुजाचार्य्य ने तो **"ऋषिप्रसूतं कपिलम्"** यह श्वेताश्वतर का प्रतीक देकर विचारे कपिल

का ऋषित्व भी समर्थन किया पर स्वामी शङ्कर तो साफ़ ही खण्डन कर गये जैसा कि हम पूर्व लिख आये हैं फिर क्यों नहीं यहां शङ्कर और रामानुज का मार्ग लेते? ऐसे स्थलों में हमारे इन सनातन भाइयों की ओर से यही उत्तर होता है कि सनातन धर्म की सैकड़ों शाखाएं हैं, ऐसे स्थान में वल्लभ की वल्लभता से वा माध्व के पांव पकड़के पार हो जावेंगे, शङ्कर रामानुज से क्या? हम यहां यह अवश्य कहेंगे कि जब इस सनातन धर्म की यही मर्य्यादा है बहुत से श्रीमानों की शोभा दिखलाकर केवल आडम्बर मात्र से इस धर्म को सर्व सम्मत समझते हैं और यों अपने मार्ग के लिये किसी एक आचार्य्य की ही शरण ली जाती है जैसे कि पं० अम्बिकादत्त ने शङ्कराचार्य्य, रामानुजाचार्य्य, माध्वाचार्य्य, महीधराचार्य्य इत्यादि अनेक आचार्य्यों की चाल छोड़कर "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि मंत्रों के अर्थ सब से विरुद्ध माने हैं कि ईश्वर में परस्पर विरोधी गुण रहते हैं यहां वल्लभ सम्प्रदाय के सहारे ही स्वकल्याण का मार्ग सोचा है तो फिर जो पुरुष एक ईश्वर के सहारे वैदिक सम्प्रदाय से अपना कल्याण समझता है उस पर क्यों यह तान तोड़ा जाता है कि यदि वह ईश्वर का अवतार नहीं मानता और ईश्वर को परस्पर विरुद्ध पवित्रता और अपवित्र मानलीलादि अनाचार का आगार नहीं मानता तो वह कल्याण का अधिकारी नहीं। अस्तु, सार यह है कि दार्शनिक खण्डन मण्डन के समय में शङ्करादि आचार्यों ने भागवत के कपिलावतार को अवतार नहीं माना, एवं सायणाचार्य्य ने ऋग्भाष्य में कपिल को ऋषि माना, हमारी समझ में "**दशानामेकं कपिलं समानम्**" के अर्थ यह हैं कि दश कर्मकाण्डियों के तुल्य एक ज्ञानी है यहां कपिल के अर्थ ज्ञानी के हैं किसी विशेष व्यक्ति से

आशय नहीं * अन्यथा यह कब सम्भव था कि राजा सगर के पुत्रों को शाप देने वाला कपिल वैदिक समय में होता, इतिहास की समालोचना से यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार नामों से सायणादि भाष्यकारों ने बहुत भूल की है सो यहां यह प्रकरण नहीं, प्रत्युत यह है कि आधुनिक धर्मावलम्बियों के प्रभाव से पौराणिक समय का कपिल, और सगर पुत्रों को शाप दाता भागवत का अवतार कपिल, "दशानामेकं कपिलं समानं" इस मंत्र में कल्पना किया गया। क्या जाने आगे इस कल्पित धर्म में क्या २ कल्पना न किया जायगा! ॥ देखो अबोध ध्वान्त पृ० १० इस में वराहावतार कल्पना किया गया है, आज तक तो यही सुनने में आता था कि वराहावतार की कथा पौराणिक है, पर अब तो इस का बीज भी वेद में मिलगया आश्चर्य्य नहीं जो ऐसी ही वैदिक छानबीन होती गई तो किसी दिन वराह पुराण के प्रथमाध्याय की कहानी सम्पूर्ण ही वैदिक हो जाय, जिस में यह लिखा है कि ब्रह्मा जी के नाक से श्वेतवर्ण वराह भगवान् निकलते ही पर्वत के तुल्य हो गये, फिर झट जल में मग्न होकर पृथ्वी को दांतों पर उठा लाए फिर उस समय जो हाथ जोड़ पृथ्वी ने स्तुति की है कि हे भगवन्! आप सदैव से हमारी ऐसे ही रक्षा किया करते हैं फिर जो अवतार विषय में पृथ्वी ने प्रश्न किये तो महाराज वराह भगवान् ऐसे हंसे कि पृथ्वी ने सब लोक लोकान्तर उन के मुख में देखे, बस ऐसी उन्नति होनेपर सनातन धर्म कृतार्थ हो जायगा फिर जो कोई कृष्ण जी के मुख में त्रिलोकी दिखाई जाने का प्रश्न करे तो झट वैदिक वराह भगवान्

---

* नोट—क्योंकि कपिल के अवयवार्थ भी ज्ञानी के हैं जिस धातु से कवि शब्द सिद्ध होता है उसी से कपिल शब्द बना है, केवल प्रत्यय का भेद है॥

का दृष्टान्त देदिया जायगा, यदि कोई वाराह के निन्दित योनि होने का प्रश्न करेगा तो वाराह पुराण द्वितीय अध्याय की फ़िलासफ़ी जो भगवदवतार वराह भगवान् के श्री मुख से वर्णित हुई है वह वर्णन करदी जायगी केवल इतनी ही कठिनाई इस विषय में पड़ेगी जो पं० अम्बिकादत्तव्यास ने अवतार मीमांसा पृ० १८ में कहा है कि कीचड़ में घुस के पृथ्वी निकालने के लिये शूकरावतार ही प्रकृत्यनुकूल है। वहां किरीट कुण्डलादि से शोभित रूप नहीं चाहिये, फिर क्यों यहां सांख्य फ़िलासफ़ी निरूपण के लिये वराहअवतार ही शोभित था, यह उलटापन क्यों? यदि यह कहो कि यह तो केवल अलङ्कार है वास्तव में वराह कोई देहधारी अवतार न था जैसे कि आजकल पुराणों को नया जन्म देने वाले थियोसांफ़ीकल सोसाइटी के लोग कहते हैं, तब वेद से वराह शब्द निकालकर वराह पुराण रचना सर्वथा निष्फल हुआ, सिद्धान्त निराकार अजन्मा परमात्मा ही रहा। अस्तु हमें थियासफ़िस्टोंसे क्या? हमारे वादी तो वेदों से वराह कथा निकालकर ईश्वर को शूकरवपुधारी सिद्ध करते हैं हमें तो उन के मिथ्यार्थ की समीक्षा करनी है, अतएव उक्त मंत्र में वराहावतार विषयक मिथ्यार्थ का समीक्षण किया जाता है, पं० अम्बिकादत्त इस के अर्थ "**वराहः शूकरः धृततद्रूपोभगवानिति यावत्**" अर्थ—(वराहः) धारण किया है शूकररूप जिस ने ऐसा भगवान्, यह करते हैं। यह बात तो सायण के अर्थ से स्पष्ट होगई कि एकतो वराह के अर्थ शूकर केनहीं, "वरञ्च तदहश्चेति वराहः" इसप्रकार सोम के हैं दूसरे अर्थ यह हैं कि जिस प्रकार वराह शब्द करता आता है इस प्रकार सोम शब्द करता आता है, यहां वराह शब्द

उपमान वाचक है दोनों प्रकार के अर्थों में वराह अवतार नहीं मानागया, यद्यपि सोम शब्द को स्वभाष्य में सायण ने नहीं खोला तथापि वक्तृत्व विशेषण विशिष्ट सोम गुण सम्पन्न पुरुष मात्र का नाम है कि इस प्रकार के गुणों वाला पुरुष स्वोचित योग्यता को प्राप्त होता है, यहां मिथ्यार्थ समीक्षकों का यह काम है कि वे स्वदृष्टि से देखें कि इस मंत्र में वराहावतार के अर्थ करना कैसा अनर्थ कियागया है, केवल वराह पद आया है जिसमें वादी लोग ऐसे लम्पट होकर लिपटे हैं कि मानो सर्वस्व मिलगया, कुबेर का कोष मिलगया, ब्रह्म विद्या का पार मिलगया, सब अर्थों का सार मिल गया, जो वराह भगवान् अवतार वेद में मिलगया। पर हम यही कहेंगे कि ऐसे २ मिथ्यार्थ करके लोगों को भूल में डाल, भारी पाप की पोट बांध इस भवसागर में डूबना है ॥

उक्त मिथ्यार्थियों में से के एक को तो ऐसी लगन लगी है कि येन केन प्रकार से अपना पक्ष पुष्ट कर लेना चाहिये, सत्यासत्य की क्या बात है? कौन देखता है? एक वार तो अज्ञानी जन समुदाय पीछे लग ही जायगा, जगत् में प्रसिद्धि हो जायगी, लोगों में पण्डित कहला जांयगे, धर्म की मर्य्यादा बना जायेंगे, एवं ध्यान करके ऐसे लेख भी लिख बैठते हैं जो न केवल उनकी आयुभर प्रत्युत यावच्चन्द्रदिवाकर हैं तबतक मिथ्यार्थ कलङ्क का टीका उन के माथे रहेगा, जिन्हों ने वेद भगवान् के आशय को छिपाकर इस प्रकार स्वार्थ सिद्ध करना चाहा है जैसा कि पं० ज्वालाप्रसाद ने "**प्रजापतिश्चरतिगर्भे**" यजु० अ० ३१ मं० २९ और इस पुस्तक के अनुसार संख्या ११ मन्त्र में किया है, आपने इस मन्त्र के अजायमानः पद को उड़ाकर जायमानः के अर्थ किये हैं वा यों कहें कि जायमानः पद के साथ जो अकार निषेधबोधक था उस अकार को अपनी साकार भक्ति के

भंवर में बहते हुए सर्वथा चट कर गए, न यह भय किया कि मही-धराचार्य्य ने इसके अर्थ अनुत्पद्यमानः के किये हैं और न यह सोचा कि यहां तो अन्तर अव्यय है जिसका रकार अकाराधार में विराज-मान है इस विचारे को क्यों अविनाशी अव्यय पद से विनाशी अ-न्तर शब्द बनाते हैं, पर सत्य है जब इन्हें परमेश्वर को अविनाशी से विनाशी बनाने में डर नहीं तो इस शब्द मात्र से क्यों डरेंगे! पर इतना तो सोच लेना था कि गीता में श्रीकृष्णजी यह कहते हैं कि "**अक्षराणामकारोऽस्मि**" अक्षरों में अकार हूं । फिर इस भगवत् स्वरूप अकार को क्यों उडाते हैं! हम यों क्यों कहें। सब कुछ ही सोचा होगा पर "अजायमानः" कहने से परमेश्वर अजन्मा सिद्ध होता था और यह बड़ा असह्य कष्ट था । यद्यपि पुराणों में जहां ईश्वर का म-हित्त्व वर्णन किया गया है वहां ईश्वर के अजन्मा गुण को गुप्त नहीं रक्खा, वह कौनसा पुराण है जिसमें ईश्वर अजन्मा नहीं वर्णन कि-या गया, वह कौन सी स्मृति हैं जिस में अजन्मा का स्मरण नहीं, वे कौन सूत्र हैं जिनमें अजन्मा सृष्टिकर्त्ता की सूचना नहीं, तथापि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने ऐसा कठिन व्रत धारण किया है कि इस जन्म में स्वमन्तव्य के अभिप्राय से अजन्मा जगदीश का नाम मात्र भी नहीं लेना, सत्य है इस सनातनधर्म के लिये यही मार्ग कल्याण-कृत् है । अन्यथा आधा मन्तव्य तो आर्य्यसमाज का तभी सिद्ध हो जाता है जब परमेश्वर को अजन्मा मान लिया जाता है, पर स्मरण रहे कि आप इस कठिन व्रतको निवह नहीं सकेंगे, आपतो स्वामी शङ्कर के शिष्य होने का दम भरतेहैं और इसअभिप्राय सेआपने अपने तिमिर भास्करपृ० ४२२ मन्तव्य ५ में यह माना है कि जब यथार्थ ज्ञान होता है तब जीव ईश्वर का भेद मिट जाता है फिर मन्तव्य ६ में यह माना है कि अनादि

एक ईश्वर है उसके अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् प्रकृति सहित उत्पन्न होता है यहां तो आप " बिद्धयनादी उभावपि " गीता० अ० १३ श्लो० १९ इत्यादि गीता के सिद्धान्तों पर भी पोचा पा गए, इतना ही नहीं यहां तो शङ्कर मत में भी शङ्का कर गए. शङ्कराचार्य्य उक्त श्लोक से गीताभाष्य में इस जगत् को प्रकृति का परिणाम मानते हैं। यदि यह कहो कि परिणामात् के १। २७ के भाष्य में शङ्कर ने ब्रह्म का परिणाम माना है वहां प्रकृति को अनादि नहीं माना किन्तु ब्रह्म को ही प्रकृतिरूप माना है इस का उत्तर यह है कि "**विकारान् गुणांश्च बिद्धि जानीहि, प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतिपरिणामान्**" गीता–शङ्करभाष्य ॥

जगत् के विकार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म से नहीं। एवं यहां प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न माना है यह परस्पर विरोध रूप कांटे भी आपके पावों में ही चुभेंगे जो आप ब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति मानते हैं,हमें क्या,आप अपने सिद्धान्त ही आप मिटाते हैं, सौ सौ वार मिटाएं, हमें प्रकृति में यह अभिप्रेत था कि आप शङ्करमतानुयायी होकर अजन्मा से क्यों घबराते हैं स्वामी शङ्कराचार्य्य तो अजन्मा का ऐसा गान करते हैं कि जिस उच्चनाद को तुम्हारा यह प्रमाद कि "प्रजापतिः" इस मंत्र में "अजायमानः" "यह पद ही नहीं" छिप नहीं सकता, भला इस कलङ्क को कहांतक छिपाओगे ? तुम्हारे विरुद्ध तो इस विषय में सनातन धर्म के सब आचार्य्य हैं। देखो श्री० भा० पृ० १०-५४ "**अजायमानो बहुधा विजायते**" यहां इस "अजायमानः" पद को स्वामी रामानुज ने भी नहीं छिपाया, जो तुम से कई कोटि बढ़कर सविशेष वादी थे। वेद भगवान् का लोप करना और वैदिक लोगों को **लोप कहना यह तुम्हारा ही काम है**, क्या तुम इसी बल और इसी बोध से महर्षि स्वामी दयानन्द को ललकारा करते हो ? जो

आपको इतना भी बोध नहीं कि रकार से अकार को तो पृथक् कर लें फिर अब स्वहृदयपर हाथ रखके कहिये कि दुर्बोधानन्द कौन हैं? इस मन्त्र के सत्यार्थ करने की सचाई तो आपको ऊपर के महीधर भाष्य से ही भास जायगी पर हम यहां आप के अर्थों की अपूर्वता दिखलाते हैं। आप लिखते हैं कि वह परमेश्वर गर्भ में प्राप्त होता है, बहुधा के अर्थ करते हैं कि—"**देवता मनुष्य रामकृष्णादि रूपों से उत्पन्न होताहै**" उसके जन्म को ज्ञानी महात्मा सतोगुण प्रधान पुरुष ज्ञान से सब ओर से देखते हैं।

समीक्षा—क्यों पं० साहब! जन्म तो इन्द्रिय ग्राह्य था उस को ज्ञान से कैसे देखते हैं? ऐसे जन्म के देखने के लिये उक्त धीरता की क्या आवश्यकता है? आपने तो यहां ज्ञान का फल भी अपूर्व ही बतलाया कि "**अज्ञानियों को उस का जन्मनहीं विदित होता ज्ञान का यही महत्त्व है कि उसका जन्म जान सके**"

हम और यहां क्या कहें? कलिकाल की कलाओं में आपके यह अर्थ भी एक भूषणरूप हैं, आप अवतार न धारते तो यह अर्थ भला कैसे प्राप्त होते? सनातनधर्म के सर्वफलप्रद कल्पतरुकार जी इस भाष्य बनने से पहले "**यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**" का यदि शङ्करभाष्य पढ़ते तो इस अर्थ करने का साहस न पड़ता, पड़ता भी तो कुछ लज्जा आही जाती कि यह हम क्या करते हैं? जो योनि शब्द के अर्थ जन्म के करते हैं, जिस के अर्थ स्वामी शङ्कर ने यह किये हैं कि "भूतयोनिं भूतानां कारणम्" मुण्डक० १ इसके अर्थ आप यह करते हैं कि उस के जन्म कारण को धीर ज्ञानी पुरुष देखते हैं॥

हम यहां पूछते हैं कि उसके जन्म को देखते हैं वा जन्म कारण को? यदि कहो कि उस के जन्म को तो फिर योनि के अर्थ

जन्म कारण क्या अभिप्राय रखता है? इस के अर्थ तो "जन्मनः कारणं जन्मकारणम्" यही प्रतीत होते हैं अर्थात् उस के जन्म के कारण को धीर देखते हैं तो क्या इससे यह अर्थ लाभ हुआ कि अवतार के पिता नन्दादिकों को लोग देखते हैं अथवा जन्म लेने का जो कारण कहिये हेतु है भूभार हरणरूप उसको लोग देखते हैं वा ?"जन्मैव कारणं जन्मकारणम्" आपका यह अभिप्राय है कि उस परमेश्वर का जन्म रूप जो कारण उसको धीर देखते हैं ? यदि यह अभिप्राय है तो अर्थ यह लाभ हुआ कि उस परमेश्वर का जो जन्मरूप कर्म है उस को धीर देखते हैं। फिर यह बतलाइये कि वह जन्मरूप कर्म कारण किसका हुआ ? हम क्यों इतने विकल्पों की कल्पना करें, आप स्वयं मान चुके हैं कि उस के जन्म को ज्ञानी लोग देखते हैं" इतने चक्र घुमा के और सनातन मार्ग भुलाके आपने यह स्पष्ट मानलिया कि "**योनि**" शब्दके अर्थ यहां जन्म के हैं ॥

हम यहां और क्या कहें ? यही कहेंगे कि इस कल्पित कल्पतरु के भरोसे सनातन धर्म के उद्धार करने वाले महात्मा जी यह अनर्थ करके आप सनातन कैसे कहलाए ? यजु० पृ० ४६८. में आप महीधर से विरुद्ध "**धीराः ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेः योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति**"। अर्थ—धीर ब्रह्मवेत्ता उस जगदीश्वर के स्थान अर्थात् स्वरूप को देखते हैं। अदृश्याधिकरण में आप श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य से विरुद्ध, यहां स्वामी शङ्कराचार्य्य ने योनि शब्द के अर्थ जगत् के कारण के किये हैं, पृ० ११३७ श्री० भा० में "**इतश्च जगतो निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्म यस्माद्योनित्वेनाऽप्याभिधीयते**" अर्थ— इसालिये जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण ब्रह्म है जिस लिये उस को योनि

कहागया है यहां आप रामानुज से विरुद्ध, कहांतक कहें "**यो-निश्चेह गीयते**" यहां आप व्यास से विरुद्ध, सूत्रकारने इस सूत्र में ब्रह्म जगत् का (योनिय) कारण माना है योंतो सहस्रों स्थल हैं जिन में आप के यह योनि शब्द के मनमाने अर्थ सर्वथा विरुद्ध, हैं, पर क्यों पुस्तक को आकार में महाभारत बनावें? सार यह है कि हम दृढ़ प्रतिज्ञा से ललकारते हैं कि किसी वेद के भाष्य में किसी उपनिषद् के भाष्य में किसी सूत्र के भाष्य में चलिये, कहांतक तुम्हारी दौड़ है किसी पुराण के टीका में, किसी कोष में और क्या यह अपना कल्पित कल्पतरु छोड़कर संस्कृत मात्र के पुस्तक मात्र में 'योनि' शब्द के अर्थ जन्म के दिखलाएं ॥

हम इन के मिथ्यार्थ मथन में क्यों सब समय समाप्त करें ? इस मंत्र का भाव यह है कि प्रजापति परमेश्वर सर्वान्तर्गत है, "अजायमानो बहुधा विजायते" और न उत्पन्न होता हुआ "बहुधा विजायते" बहुत भांति से प्रकट है, वे भाव जगन्नियन्तृत्वादि से अनेक हैं उस के जगत्कारणत्व रूप सामर्थ्य को इन्द्रिय अगोचर होने से धीर लोग ही जानते हैं अन्य नहीं और उस के उस सामर्थ्य में सब भुवन ठहरे हुए हैं ॥

यह अर्थ था, जिस को छिपाकर पं० ज्वालाप्रसाद ने रामकृष्णादिकों के जन्म का अर्थ बनाया है, यहां हम वैदिक धर्मानुरागियों की दृष्टि इस ओर दिलाते हैं कि आधुनिक और पौराणिक बातों को वेद से सिद्ध करने के लिये लोगों को क्या २ अनर्थ करने पड़ते हैं। ब्रह्म विद्या से विरोध करना पड़ता है, पूर्व भाष्यकारों से नए अर्थ कल्पना करने पड़ते हैं, शब्दों के अर्थ बदलने पड़ते हैं, ईश्वर के स्वाभाविक भाव परिवर्तन करने पड़ते हैं, फिर क्या जानें पौराणिक मा-

या में क्या महत्व है कि लोग उस में लिपटे हुए चले जाते हैं ॥

इस बात के निदर्शन के लिये हम निम्नलिखित मंत्र को उद्धृत करते हैं:—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः—यह मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी आया है। पं० ज्वालाप्रसाद इस का यह भाष्य करते हैं कि "हे भगवन् ! आपही भारती भवानी श्रीरूप वा मोहिनीरूप अवतारों से स्त्रीरूप हैं तथा परशुरामादि अवतारों से पुमान् हैं, वामन अवतार से कुमार हैं और आप ही वृद्ध ब्राह्मण होकर दण्ड करके "वंचसि" गमन करते हो, आप ही कृष्णावतार से विश्वरूप होके प्रतीत होते हो। इस मंत्र से सब ही इतिहास पुराणप्रतिपाद्य अवतारों की सूचना की है इस कारण यह मंत्र ही सबका मूल है।

समीक्षा—आप तो लिखते हैं कि इस मंत्र से सबही इतिहासपुराणप्रतिपाद्य अवतारों की सूचना की है और आप के बड़े वृद्धाचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य लिखते हैं कि यह मंत्र सब जीवों को ब्रह्म बोधन करने के लिये है। यदि हमारे वचन पर विश्वास न हो तो देखिये अंशाधिकरण प्रथम सूत्र का शङ्कर भाष्य—स्वामी यहां यह लिखते हैं कि:—"**दाशा य एते कैवर्त्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिन्यात्मानमुपक्षिपन्ति ये चान्ये कितवा द्यूतवृत्तास्ते सर्वे ब्रह्मैवेति, हीनजन्तूदाहरणेन, सर्वेषामेव नाम-रूप-कृत-कार्य्य करण-सङ्घातप्रविष्टानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामयमेवार्थः**

प्रपञ्चते । त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख इति ॥"

अर्थ—दाश वे हैं जो "कैवर्त" मच्छी पकड़ने वाले प्रसिद्ध हैं और दास वे कहलाते हैं जो अपने स्वामी को अपना शरीर दे देते हैं और जो कितव जुवारी हैं ये सब ब्रह्म ही हैं इन हीन जातिवालों का उदाहरण सब इस कार्य्यरूप जो इन्द्रियों का सङ्घात देह उस में प्रविष्ट सब जीवों को ब्रह्म बोधन करने के लिये है और यही अर्थ इस ब्रह्म प्रक्रिया में बोधन किया गया है वह ब्रह्म प्रक्रिया यह मानी गई है कि ' **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि** ' इत्यादि ॥

अब कहिये, यहां किस की मानें और किसकी न मानें? आपके पुराणों ने तो मच्छ कच्छ ही अवतार बनाये थे, यहां स्वामी शङ्कराचार्य्यजीने तो मच्छी पकड़ने वाले और जुए बाज़ आदि सभी ईश्वर बना दिये । अब आप ही सोचें कि बढ़कर कौन रहा? फिर इस स्थल में आप की भारती भवानी मोहिनी इत्यादिक दश पांच अवतारों की क्या गणना होगी? जब श्री शङ्करमत में सब अवतार ही अवतार मिलेंगे, धन्य है स्वामी शङ्कर का आत्मिकबल कि जिस से वह अपने इस अद्वैतवाद में पुराणों के सब बन्धनों को तोड़ जाते हैं । देखो अदृश्याधिकरण "**अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा**" अर्थ— जिसका अग्नि मुख है, और सूर्य्य चन्द्र नेत्र हैं, श्रोत्र दिशा हैं और वागिन्द्रिय उसका वेद है, वायु जिसका प्राण है, हृदय यह विश्व है और पैर पृथिवी है वह सब भूतों का अन्तरात्मा है

इस वाक्य में सर्व भूतों के कारण का निर्धारण करते हुए स्वयं आशङ्का करते हैं कि पूर्वोक्त अग्नि मुख सूर्य्य चन्द्रादि नेत्रोंवाला साकार रूप उस निराकार सर्वकारण ब्रह्म का यह विग्रह वाला रूप कैसे कथन कियागया? उत्तर यह दिया है "**सर्वात्मत्वविवक्षयेद-मुच्यते, नतुविग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः**" अर्थ—यह है कि अग्न्यादि मुखवाला विग्रह सर्वात्मा होने के अभिप्राय से कहा गया है साकार के अभिप्राय से नहीं, इस प्रकार ब्रह्म को सूर्य्य चन्द्रादि नेत्रों वाला कथन किये जाने से कोई दोष नहीं। यहां हमारे पौराणिक भाइयों को चाहिये कि वे इस शङ्कर मन्तव्य से यह शिक्षा लाभ करें कि स्वामी शङ्कराचार्य्य साकार का वर्णन जहां जहां करते हैं वह इस अभिप्राय से कदापि नहीं करते कि ईश्वर साकार है वा उस साकार का वर्णन मूर्त्तिपूजा में उपयोगी है किन्तु इस अभिप्राय से करते हैं कि वह सबका अन्तरात्मा है वा यह सब नाम रूपात्मक दृश्य ब्रह्म का विवर्त है इस में छिपा हुआ सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, फिर हम अवतार और साकार कहां से निकालते हैं? विशेष कर ध्यान इस बात पर तिमिरभास्कर नामक आधुनिक कल्पतरु की छाया में सब सनातन-धर्म्मियों को बिठलानेवाले पं० ज्वाला प्रसाद को देना चाहिये कि मैं यह क्या अनर्थ करता हूं? जो "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इत्यादि मंत्रों के अर्थ भारती भवानी मोहिनी आदि अवतारों के करता हूं। जब कि शङ्करा-चार्य्य जैसे आचार्य्यों ने इस मंत्र में अवतार का गन्ध मात्र भी नहीं माना। फिर मैं सनातन मर्य्यादा छोड़कर क्यों यह मनमाने अर्थ घड़ता हूं।

हम यहां यह अवश्य पूछेंगे कि क्या इसी बात पर सनातन पथ पर चलने का घमण्ड कियाजाता है जो "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इस मन्त्र के अर्थ आजतक किसी ने अवतार सिद्धि के नहीं किये और आज

आप सब आचार्य्यों की न्यूनता पूर्ण करते हैं और ऐसे नए अर्थ करके किस मुख से सनातन होने का दम भरते हैं? यदि यह कहो कि कहीं कहीं शङ्कराचार्य्यादि भी अवतार के बीज को मान जाते हैं और हम उन्हीं के मतानुकूल अर्थ करते हैं, प्रियवर! स्वयं साक्षी बनकर निर्णय करो तो इस उत्तर से भी तुम्हारे पक्ष में उत्तमता नहीं आती, जब कि शङ्कर ने इस मन्त्र के आशय को स्वभाष्य में वर्णन कर दिया, फिर आपका इस मंत्र को अवतार में लगाना क्या सच्चाई रखता है? प्रत्युत सूर्य्य को खद्योत प्रकाश से प्रकाशित करने का ही निदर्शन बनता है। इतना ही नहीं हम यह भी दिखलाते हैं कि आपके तो अर्थ शङ्कराचार्य्य से सर्वथा विरुद्ध हैं। देखो शङ्कर दिग्विजय प्रकरण ११ पृ० ९९ "**अतः परस्मिन्नद्वितीये, ब्रह्मणि भवान्यास्तद्बोधकारणं घटते । अतो विद्याशब्दवाच्या भवानी तदुपासनेन चित्तशुद्धौ जातायां लिङ्गशरीरभङ्गद्वारामोक्षः**" अर्थ—अद्वितीय ब्रह्म में भवानी उस के बोध का कारण हो सकती है, इस से सिद्ध हुआ कि विद्या को भवानी कहते हैं और उस विद्या की उपासना से चित्त शुद्ध होने पर लिङ्ग शरीर के भङ्ग होने से मुक्ति होती है। इस लेख से स्वामी शङ्कराचार्य्य का आशय स्पष्ट है कि वह भवानी को विद्याही मानते थे, आपके सम अवतार नहीं मानते थे। इससे आगे बीसवें प्रकरण में दुर्गा, लक्ष्मी आदि सब मतों का स्पष्ट खण्डन है। यदि आपके समान "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि" इस मंत्र का आशय स्वामी शङ्कराचार्य्य को सूझ पड़ता तो आपके दुर्गादि अवतारों का कदापि खण्डन न करते।

भला दुर्गा भवानी अवतारों का भुगतान तो आपने इस मन्त्र में भुगता दिया पर यह तो बतलाएं कि जो "दण्डेन वञ्चसि" के अर्थ आप

यह करते हैं कि वही वृद्ध ब्राह्मण का रूप धार लाठी लेकर चलता है, यह कौन अवतार हुआ ? हमने तो आपके चौबीस अवतारों में कहीं इस बूढ़े अवतार की कथा नहीं पढ़ी, वा यह सनातन धर्म के बूढ़े होने से यह बूढ़ा अवतार आपकी लेखनी से अभी निकला है ।

यदि हमसे पूछें तो हमारे मत में तो इस मन्त्रके वही अर्थ हैं जिनको स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने अदृश्याधिकरण में सूचित किया है कि सर्वान्तरात्मा के अभिप्राय से सर्वात्मवाद के लेख वेदोपानिषदों में हैं। अर्थ यह हुआ कि हे ईश्वर ! आप स्त्री पुरुष, कुमार कुमारी, सब रूप हैं अर्थात् सब के अन्तरात्मा है, सर्वान्तरात्मा होने से जो कुमार कुमारी आदिकों के मुखादि अवयव हैं वे सर्वस्वामी होने से आपके ही हैं इस अभिप्राय से कुमार कुमारी सर्वरूप कहागया है। यदि आप के कुमार कुमारी आदि अवतार अभिप्रेत होते तो फिर जीर्ण क्यों कहा जाता, क्योंकि यह हम लिख चुके हैं कि आप का जीर्ण देहधारी कोई भी अवतार नहीं हुआ । हमारे मत में जीर्ण से यह भी तात्पर्य्य है कि आप सर्व अवस्था रहित हैं इसी अभिप्राय से परस्पर विरुद्ध अवस्थाओं का वर्णन है कि आप अलिङ्गी होने से सब अवस्थाओं में समान हैं, सर्व द्रष्टा हैं। इस उत्तम अर्थ को विगाड़ कर आपने इस मंत्र के ऐसे अनर्थ किये हैं कि जिन में किसी सम्प्रदाय की भी मर्य्यादा अवलम्बन नहीं की, यदि शङ्कर पथ अवलम्बन करते तो इतना तो सार निकलता कि तूही स्त्री पुरुष कुमार कुमारी सब रूप तू है, अब आप के अर्थों में यह परस्पर विरोध आता है कि तू स्त्री और फिर तू पुरुष और तू (कुमार) लड़का और वही तू (कुमारी) लड़की और फिर इस से विरुद्ध तू बूढ़ा यह क्या संगति और क्या सार हुआ? फिर आप "विश्वतो मुखः" के यह अर्थ करते हैं कि आपही कृष्णावतार में विश्वरूप होके

प्रतीत होते हैं क्यों पण्डित जी! यह "विश्वतोमुखः" के अर्थ हैं? क्या सब संसार भर को अन्धा समझा है? यह माना कि जो दल केवल स्वामी दयानन्द जी को बुरा भला कहने के निन्दानाद में मग्न होकर आंखें मींचले वह इस अनर्थ को न देख सके, पर स्मरण रक्खो कि यह अनर्थरूपी धूल आप सबकी आंखों में नहीं डाल सकते। देखो यजु० १७।१९ "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः" इस मंत्र का भाष्य-

धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च सन्धमति सङ्गमयति जीवान् णिजन्तत्वं ज्ञेयं कीदृशः विश्वतश्चक्षुः विश्वतः सर्वतः चक्षूंषि यस्य सः विश्वतोमुखः विश्वतो मुखानि यस्य सः। परमेश्वरस्य सर्वप्राण्यात्मकत्वात् यस्य यस्य प्राणिनो ये चक्षुरादयस्ते तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्यैवेति सर्वत्र चक्षुरादयः सम्पद्यन्त इत्यर्थः। महीधर भाष्यम्॥

अर्थ— धर्माधर्म हेतुओं से और भूतों से जीवों का गमन परमात्मा कराता है यह मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ है। वह परमात्मा कैसा है? यह वर्णन करते हैं कि वह "विश्वतः चक्षुः" है, इसके अर्थ यह हैं कि सर्व ओर चक्षु हों जिस के उसको सर्वतश्चक्षु कहते हैं। यही अर्थ "विश्वतश्चक्षुः" के किये हैं सारा भाष्य इस मंत्र का लिखने से विस्तार होता है, सार यह है कि सर्व ओर चक्षु, सर्व ओर मुख, सर्व ओर बाहू और सर्व ओर पाद, इस विरोध को भाष्यकार ने इस अर्थ से मिटाया है कि परमेश्वर सब प्राणियों का आत्मा है अर्थात् सब प्राणी मात्र में व्यापक है इसलिये जिस२ प्राणी के यह चक्षु मुखादि हैं वे सब तत्तद्देशस्थ परमात्मा के ही हैं इस मंत्र का अर्थ हमारे सर्व भूतों के अन्तरात्मा अर्थ में भी उपयोगी है पर हम ने उद्धृत इस अभिप्राय से किया है कि "विश्वतोमुखः" के अर्थ इस मंत्र में क्या हुए, यहां आपके कृष्ण का विश्वरूप दिखलाना कहां उड़-

गया, हम ने नहीं उड़ाया आपके महीधर जी ने ही उड़ाया है। उस विचार ने भी नहीं, मंत्रके अक्षरार्थ ने उड़ाया है, जिसको संधि विभक्ति मात्र का भी बोध है वह भी विश्वतोमुखः के यही अर्थ करेगा कि विश्वशब्द सर्ववाचक है और पञ्चम्यन्त से तसिल प्रत्यय है जिसका अर्थ सर्व ओर से होना है। अब बतलावें कि विश्वतो मुखः के अर्थ कृष्णावतार में विश्वरूप होके प्रतीत होने के कैसे हुए ? आपकी सम्मति में तो यह मन्त्र मत्र इतिहास पुराण प्रतिपाद्य अवतारोंका भण्डार है, फिर इसमें इतना मौन व्रत क्यों? यहां तो किसी अवतार की सूचना मात्र भी नहीं पाई जाती इसलिये यह भण्डार तो निस्सार है। आपके इस मिथ्यार्थ रूपी कदलीस्तम्भ को कहांतक उधेड़ें इसमें तो कुछ भी सार नहीं ॥

अब देखिये १२ बारहवां मन्त्र जिससे आप वामनावतार सिद्ध करते हैं इसमें क्या सार है यह बात तो सर्वसम्मत है कि इस मंत्र में वामन वा बलि का नाममात्र भी नहीं जिससे वामनावतार होने की सूचना भी पाई जाय अस्तु जिस अंश में अपना अधिक बल समझकर आप लोग अवतार वादी अवतार का अर्थ करते हैं हम उसी अंश की प्रथम मीमांसा करते हैं वह अंश यह है कि "**त्रेधा निदधे पदम्**" इसमें जो तीन प्रकार का पद (पैर) का रखना पाया जाता है इससे वामनावतार का ही अभिप्राय है क्योंकि वामनावतार का ही तीन प्रकार से पैर रखना पाया जाता है। इसके उत्तर देने से प्रथम हम अपने वादी लोगों की दृष्टि पद शब्द के पदार्थ की ओर फेरते हैं फिर यह विचार करेंगे कि तीन प्रकार से यहां क्या आशय है ? यह बात भी सर्वतन्त्रसिद्ध है कि "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" इस मंत्रमें जो पाद शब्द आया है वह पैर का वाचक नहीं, किन्तु ईश्वरविषय कल्पित देशरूप अंश का वाचक है। यही अर्थ स्वामी शङ्कर और रामानुज ने

अंशाधिकरण में माना है इस अर्थ को महीधर भी मानता है । कहां तक कहें सब मानते हैं देखो उव्वटभी यही अर्थ करता है कि "पादए-कोंशः" किसी की भी इस विषय में विमति नहीं, दूसरे स्थान पद शब्द "**तद् विष्णोःपरमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" इस मन्त्र में आया है इस में सर्व आचार्य्य एक मत होकर परमात्मा के निराकार स्वरूप को मानते हैं जिस को संदेह हो ६ । ५ महीधर में देखें, दूसरा प्रमाण शङ्कर दिग्विजय पृ० ६० **अतः पालन कर्तुर्विष्णोः पदं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरय इत्युक्ते का वा अस्माकं हानिः पालनकर्त्ता वा विष्णुर्भवतु न चास्माकं तत् क्लेशः सर्वेषां देवानामात्मैकायनमिति बृहदारण्यकश्रुतेः, परब्रह्मणः सर्वदेवमयत्वात् ॥**

अर्थ—पालनकर्त्ता विष्णु का (पदम्) स्थान सदा (सूरयः) विद्वान् लोग देखते हैं, इस कथन में हमारी क्या हानि है ? पालन कर्त्ता विष्णु रहो वा ब्रह्म हो इसमें हमें कोई क्लेश अर्थात् अनिष्ट नहीं, क्यों कि सर्व देवों का एक आत्मा ही अयन स्थान है इस प्रकार ब्रह्म सर्व देवमय है अर्थात् देवों का अधिकरण होने से सब से ब्रह्म बृहत् है और वही "**तद् विष्णोः परमंपदम्**" इस वाक्य में कथन किया गया है यह आशय है अस्तु प्रकृतमें अपेक्षितांश यह है कि यहां ब्रह्म के स्वरूप का नाम पद है अतएव"**सदा पश्यन्ति सूरयः**" यह कहा है । हम क्यों इस लेख का बहु विस्तार करें जब कोई भी वादी इसके विरुद्ध नहीं, सर्व यही मानते हैं कि पद और पाद के अर्थ वेद में ईश्वरविषयक जहां२ आए हैं वहां२ स्थान वा स्वरूप के ही आए हैं पैर के कहीं भी नहीं, फिर वेदाशय विरुद्ध "**अथाग्निर्दधे पदम्**" में पैर के क्यों किये जाते हैं! यदि कहो कि तीन प्रकार के कथन किये जाने से यहां पैर के अर्थ लाभ होते हैं तो हम यह पू-

छेंगे कि " **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**" फिर इस में भी तो चारपाद कथन किये गए हैं इससे चौपाया ब्रह्म क्यों न समझा जाय तो उत्तर यही होता है कि ब्रह्म निराकार है उसके पैर नहीं हो सकते, इसलिये चौपाया ब्रह्म नहीं हो सकता तो फिर परिणाम यह निकला कि ब्रह्म के निराकार होने से इस मंत्र में भी तीन पैर यह अर्थ नहीं हो सकते यदि यह कहो कि विष्णु कहीं साकार भी वर्णन किया गया है उसके पाद (पैर) होने में कोई बाधक तर्क नहीं हो सकता तो विचारणीय यह हुआ कि "**इदंविष्णुर्विचक्रमे**" इस मंत्र में विष्णु से निराकार का आशय है वा साकार का यह बात तो अविवाद है कि "तद् विष्णोःपरमंपदम्" इस मंत्र में विष्णु निराकार परमात्मा माना गया है साकार नहीं, पर हम इस शास्त्रार्थ को क्यों उठावें, कि इस मन्त्र में है कि पद से निराकार का ग्रहण है वा साकार का जब कि वादी स्वयं यह मान रहा है कि उस निराकार विष्णु का वामन अवतार हुआ, तो परिणाम यही निकला कि वामनावतार से प्रथम इसी मंत्र में वर्णित विष्णु"**तद्विष्णोः परमंपदम्**"इस मंत्र के समान यहां भी निराकार परमात्मा का ही ग्रहण था तो फिर "**तद्विष्णोः परमंपदम्**" इस मंत्र में निराकार विष्णु का पद जब स्वरूप ही समझा गया वा "**एतावानस्य महिमा०**" इस मंत्र में निराकार परमात्मा के पाद आरोपित ही समझे गए वास्तव में न थे तो ऐसे ही यहां भी आरोपित पाद ही क्यों न समझे जायं यदि वादी यह कहे कि पाद क्या ? हमारे मत में तो ईश्वरावतार भी आरोपित है तो हम वादी के अर्थ को स्वीकार करते हैं और धन्यवाद देते हैं कि आप ने आरोपित तीन पाद मानकर झगड़ा ही समाप्त कर दिया पर

अब कृपया यह बतलाएं कि वह आरोपित पाद क्या वस्तु है ! यदि कहो कि प्रकृति रूप है तो परिमाण यही निकला कि परमात्मा ने सृष्टि रचना समय में प्रकृति को तीन प्रकार से विभक्त किया, और प्रकृति रूप छोड़ दूसरे पक्ष में कुछ कहने का स्थान ही नहीं। यदि यह कहो कि बलि छलने के समय जो तीन पांवों से पृथिवी मापी थी वह तीन पांव लेंगे तो उत्तर यह है कि यह पौराणिक तीन पावों का अभिप्राय वेद में नहीं पाया जाता क्योंकि— सायणाचार्य्य और महीधर ने जो इस मंत्र से वामनावतार का आशय लिया है वह निरुक्त से विरुद्ध है, निरुक्तकार ने १२। १९ में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों रूपों से "त्रेधा निदधे पदम्" के अर्थ किये हैं। सायणादि भाष्य यास्क विरुद्ध होने में सत्यव्रत सामश्रमी का यह नोट है :—

विष्णोस्त्रिविक्रमावतारधारी इदं प्रतीयमानं सर्वं जगदुद्दिश्य विचक्रमे विशेषेण क्रमणं कृतवान् तदा त्रेधा त्रिभिःप्रकारैः पदं निदधे स्वकीयं पदं क्षिप्तवान् अस्य विष्णोःपांसुरे धूलियुक्ते पादस्थाने "समूढ" इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम् इति पुराणसम्मतं सायणीयं व्याख्यानञ्च वैदिकानां नादरणीयं यास्कानुक्तेः अवतारशब्दस्यापि वेदेऽदर्शनाच्च ॥ दैवतकाण्ड पृ० २८३

एवं समीक्षण करने से सार यही निकलता है कि परमात्मा ने सृष्टि सर्ग समय में इस प्रकृति को तीन प्रकार से रक्खा, और उस रचना में सब लोग समूढ हैं अर्थात् तत्व को नहीं जान सकते, यह मंत्र का उच्चार्थ था जिससे पतित होकर वादी ने यह अर्थ किये हैं

कि ईश्वर ने वामनावतार धर कर तीन पाद से सब पृथ्वी को नापा और जो यह आश्रय लिया जाता है कि सायण महीधर ने इस मंत्र को वामन अवतार होने में लगाया है इसका यह उत्तर है कि सायण और महीधर पौराणिक समय के व्याख्यान कर्ता थे फिर उनका व्याख्यान पौराणिक भावों से रहित कैसे हो सकता है, हां यह हमने महीधर और सायण से ही सिद्ध कर दिया कि इस मंत्र से पृथक् जिन जिन मंत्रों से आपने इस पौराणिक धर्म का आडम्बर अवतार विषयमें बांधा था वह सब सायण और महीधर ने साफ़ कर दिया। रही यह बात कि यहां वे क्यों तुमारे पक्षपाती हुए? इसका कारण यह है कि कुशकाशावलम्बनन्याय से उन विचारों ने भी इसी मंत्र में अवतार को सराहा देना सार समझा, इस से यह आशय कदापि नहीं निकलता कि इस से आप का पक्ष पुष्ट हुआ किन्तु आशय यह निकलता है कि सम्पूर्ण वेद के आन्दोलन करने से सायण और महीधर को अवतार सिद्धि के लिये यही मंत्र सहारा मिला और सायण ने तो यह कहकर कि "सेयं ऋक् यास्केनेत्थं व्याख्याता" अवताराविषयक मिथ्यार्थ का बोझ अपने सिरसे उतार दिया॥

रहा महीधर, सो महीधर ने पहिले भी " **प्रतद् विष्णुः** " इस मंत्र में कुचरः के अर्थ करते समय "मत्स्यादि रूपेण चरतीति कुचरः" यह कह कर अवतार का बीज सूचित किया था जिस मंत्र को आधुनिकाचार्य्यों ने नृसिंहावतार में लगाकर महीधराचार्य्य की भूल सिद्ध कर दी, सो एवं भूलनेवाला महीधराचार्य्य अकेला ही यहां अवतार वादियों का पक्षपाती है, जो बहुत नए समय का है अस्तु इस विचारे ने भी और मंत्रों में अवतारवादियों का पक्ष नहीं

किया। यही भाव उव्वटाचार्य्य ने भी माना है कि "**पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदम् भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्य्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदम्**" अर्थ- अग्नि वायु और सूर्य्य रूप से विष्णु व्यापक परमेश्वर ने अपना विभूति रूप पद रक्खा।

अब बतलाएं कि तुम ने जो बीसियों मंत्रों के अनर्थ करके अवतार सिद्धि का भार स्वशिर पर लिया, उस की क्या प्रतिष्ठा रही? जब और कोई भाष्यकार भी तुम्हारे इस मनमाने अर्थ के साथ सम्मिलित नहीं होता तो क्या तत्व निकला, तुम तो आर्य्यसामाजिकों को कहा करते थे कि तुम्हारे अर्थ सनातन भाष्यकारों से विरुद्ध हैं। यहां समीक्षण करने से परिणाम सर्वथा उलटा निकला, प्रत्युत आप के पौराणिक मन्तव्य पौराणिक समय के सायण महीधर उव्वटादि भाष्यकारों से विरुद्ध हैं इस से परे और आश्चर्य क्या हो सक्ता है हमारे निराकार ईश्वर विषयक मन्तव्य में तो "**सपर्य्यगादित्यादि**" मंत्रों में आप के महीधर शङ्करादि सब की मति हम से मिल गई एवं हमारे निराकार ईश्वर मन्तव्य को तो किसी ने भी उलङ्घन नहीं किया, और इस अंश में आप भी सहमत हैं कि वेदों में निराकार ईश्वर का भी वर्णन है और आप अपने मन्तव्य में निराकार भी मान चुके हैं फिर उस के लिये कोई मंत्र क्यों नहीं दिया, यों तो आजकल के वादियों ने वेदार्थ सिद्धि के लिये इतने पुस्तक लिख डाले हैं पर अपने निराकार साकार इस उभयवाद की सिद्धि में निराकार को सिद्ध करने के लिये एक अक्षर भी नहीं लिखा॥

इस पक्षपात से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक भावों के मण्डनकर्ता नाम के सनातनी तत्व निर्णय के लिये लेख नहीं लिखते किन्तु

स्वार्थ सिद्धि के लिये अनर्थ रूपी लेख वेदों पर बढ़ाते चले जाते हैं जिस के मिथ्यार्थ हमने इस समुल्लास में सायण महीधर उव्वट स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों के विरोध से स्पष्ट करादिये ॥

इत्यार्यमन्तव्यप्रकाशे तृतीयः समुल्लासः समाप्तः

समाप्तञ्च पूर्वार्द्धम्

ओ३म्
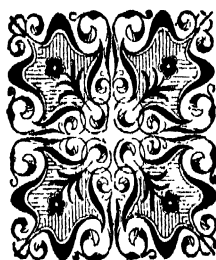
अथऽयार्य्यमन्तव्यप्रकाशे तर्कनिरीक्षणं नाम चतुर्थः समुल्लासः प्रारभ्यते

तृतीय समुल्लास में नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा के जन्मनिरूपणार्थ उद्धृत किये हुए वेदमंत्रों का अर्थाभास दिखलाया गया और उन मिथ्यार्थों का समीक्षण भी किया गया। इस समुल्लास में गीतादि ग्रन्थों के जो मिथ्यार्थ किये गये हैं उन का समीक्षण और तर्काभास द्वारा जो ईश्वर का जन्मनिरूपण किया जाता है उस का निरीक्षण करेंगे।

सनातनधर्मावलम्बी आधुनिक ग्रंथकार पं० साधुसिंह, पं० ज्वलाप्रसाद मिश्र, स्वामी बालकरामादि, पौराणिक सनातन धर्म के समर्थन कर्ताओं ने प्रायः सबने यही रीति अवलम्बन की है कि जिस में जीवात्मा के जन्म के समान ईश्वर का जन्म निरूपण किया है। यह प्रश्न उठाकर इस बात को इस प्रकार समर्थन किया है कि यदि अज अविनाशी होना ही ईश्वर के जन्म में बाधक है तो जीव भी तो "**न जायते म्रियते**" इत्यादि प्रमाणोंसे अज और अविनाशी है, जिस प्रकार जीव अजन्मा का जन्म हो सकता है इस प्रकार ईश्वर अजन्मा का भी जन्म होता है इस विषय में कई एक वेदान्त और योग सूत्रों काभी प्रमाण दिया है कि जीव का जन्म वास्तव में नहीं किन्तु गौण है एवं ईश्वर का भी जन्म गौण है मुख्य नहीं।

हमारी समझ में यह तर्क उन्होंने केवल अल्पबुद्धियों के सम्मोहनार्थ रचा है। ऐसा कौन निराकारवादी है जो केवल अजन्मा अविनाशी आदि ईश्वरगुणों को ही ईश्वरावतार के अभाव में हेतु बतलाता हो, किन्तु निराकारवादियों की ओर से अवतार के निषेध में तर्क यह दियाजाता है कि ईश्वर पर्य्याप्तकाम है अर्थात् उस की

सब कामना पूर्ण हैं, और वह सर्वव्यापक है सर्वशक्तिमान् है, सम्पूर्ण भूगोलों की जन्म स्थिति प्रलय भी निराकार ही करलेता है, फिर उसे जन्म धारण की क्या आवश्यकता है ? ।

उक्त प्रश्न को छोड़कर अपनी ओर से अजन्मा का मनमाना प्रश्न बनाकर उत्तर दिया है, और किसी २ महात्मा ने ऐसा भी कहा है, जैसे कि " महान् शोक का अवसर है वज्रपात होय इन मन्दों की कुतर्कोंपर जबकि साक्षात् भगवान् ने ही **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया** " इत्यादि वचनों से इन शङ्काओं का मूलोच्छेद करदिया, फिर उन्हीं शङ्काओं का उत्थान करना केवल मूर्खता ही है, अबोध ध्वान्त पृष्ठ ३१।। ऐसे शिथिल पुनः क्रोधरूपी तिमिर से आच्छन्न और मिथ्यार्थ छद्मछन्न तर्कों में हम विशेष समय व्यर्थ नहीं लगाना चाहते, पर इस की समीक्षा में इतना अवश्य कहेंगे कि जिन कृष्णजी के ईश्वरावतार होने में प्रश्न था उसी भगवान् का वचन आप प्रमाण में देते हैं इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है? यदि यह कहा जाय कि गीता तो व्यासजी की ग्रन्थन की हुई है, तो फिर उसे साक्षात् भगवान् का वचन कथन करना व्यर्थ है। इस प्रकार तर्कहीन लेखों को हम यहां लक्ष्य नहीं रखते, यहां हम पं० अम्बिकादत्त की अवतार मीमांसा की प्रश्नोत्तरप्रणाली को लक्ष्य रखकर अवताराविषयक प्रश्नों के उत्तरों का समीक्षण करते हैं। उक्त विषय को हम निम्नलिखित सात प्रश्नों में विभक्त करते हैं, प्रायः यही तर्क हैं जिन के अवतार निरूपण में पं० अम्बिकादत्त ने पूर्वपक्ष किया है ॥

१ प्रश्न—आप्तकाम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्मा का अवतार लेने में क्या प्रयोजन है ?

२ प्रश्न—आप्तकाम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वकल्याण गुणों की राशि का जन्म लेना कैसे सम्भव हो सकता है ?

३ प्रश्न—यदि लीलानिमित्त कहाजाय तो आप्तकाम परमेश्वर को मानवलीला से क्या लाभ ?

४ प्रश्न-यदि कल्पना करलिया जाय कि उत्तम मानवलीला हो भी तो तिर्यक् योनि में वराहादिलीला, मानलीला विहारलीला, चीरलीला, रासलीलादि श्रेष्ठजन आचारविरुद्ध लीलाओं से क्या लाभ !

५ प्रश्न—अवतारों ने मर्य्यादापुरुषोत्तम मनुष्यों से बड़ा क्या काम किया है ?

६ प्रश्न—पूर्णावतार और अंशावतार में क्या भेद है ?

७ प्रश्न—अवतारों के शरीर भौतिक हैं वा मायिक !

प्रथम प्रश्न का भाव यह था कि जब परमात्मा आप्तकाम अर्थात् पूर्णकाम है उस की कोई कामना ऐसी नहीं जो पूर्ण न हो और अवतार लेने से प्रथम ही अवतार के स्थान में विद्यमान है और जो काम अवतार लेकर करना चाहे वह सब विना अवतार ही कर सकता है फिर उसे अवतार धारने में क्या प्रयोजन ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दियाजाता है कि जो प्रयोजन पूर्ण परमेश्वर का सृष्टि करने में है, वही अवतार धारण में है । सृष्टिरचना में प्रयोजन शास्त्रकारों ने लीलामात्र माना है, सोई प्रयोजन अवतारधारण में है । यह उत्तर वादी का सर्वथा सत्य से गिरा हुआ है क्योंकि सृष्टि रचना में प्रयोजन निष्फल लीला ही नहीं किन्तु जीवों के कर्मों का फल देना प्रयोजन है और वहां लीला इस अभिप्राय से कहा गया है कि सृष्टि रचने में पूर्ण ईश्वर को कोई आयास नहीं प्रतीत होता, किन्तु समर्थ पुरुष के सम लीला ही प्रतीत होती

है। यदि लीलामात्र प्रयोजन ही शास्त्र का अभिप्राय होता तो सूत्र १४ स्मृतिपाद में वैषम्य और नैर्घृण्य का उत्तर पूर्व कर्मों की अपेक्षा न दिया जाता। सृष्टिरचना में ईश्वर का प्रयोजन लीलाकथन करने पर प्रश्न यह हुआ था कि जो कोई पुरुष सर्वसाधनसम्पन्न सब से बड़ा होता है, और कोई महादीन दरिद्र होता है, एवं कोई सदासुखी और कोई महादुखी इस का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्रों में यही दिया था कि पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों से यह भेद है, इसलिये ईश्वर का कोई दोष नहीं, इत्यादि शास्त्र का आशय समझ कर यदि वादी उत्तर में प्रवृत्त होता तो कदापि जगत् रचनारूप ईश्वर लीला के सहारे कृष्णलीलादिकों के मण्डन में चेष्टा न करता।

यदि लीला प्रयोजन भी मान लिया जाय तो कहां यह उच्चलीला कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की रचना करना जिस में नियत स्थान और नियत समय मे सूर्य्य चन्द्रादिकों की गति पाई जाती है और सदैव सृष्टि के आदि में वह आदि पुरुष इसी प्रकार सृष्टि रचना करता है "**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**" सम्पूर्ण का धारणकर्त्ता वह परमात्मा सदैव से इसी प्रकार सूर्य्य चन्द्रादिकों की रचना करता है। और कहां यह नीचलीला—कहीं युद्ध में पीठ दिखला जाना, कहीं शत्रु को निर्बल देखकर जा कूदना और आप से अधिक बली देखकर मेल कर लेना, यह उत्तम पुरुषों की मर्य्यादा से गिरी हुई लीला वादी इस बात को निम्नलिखित श्लोकों में स्वीकार करता है।

"**मनुष्यधर्मशीलस्य लीलासा जगतः पतेः। शास्त्राण्यनेकरूपाणि यदरातिषु मुञ्चति॥ मनसैव ज-**

गत् सृष्टिसंहारञ्च करोति यः । तस्यारिपक्षक्षपणे कोयमुद्यमविस्तरः ॥ तथापि यो मनुष्याणां धर्म्मस्तमनु वर्त्तते।कुर्वन् बलवता सन्धिंहीनैर्युद्धं करोत्यसौ ॥ सामचोपप्रदानञ्च तथा भेदं प्रदर्शयन् । करोतिदण्डपातञ्च क्वचिदेव पलायनम्॥मनुष्यदेहिनां चेष्टा मित्येवमनुवर्तत।लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः सम्प्रवर्तते ॥ विष्णुपुराण अंश ५ अध्याय १२ श्लोक १४ से १८ तक,॥ कहते हैं कि मनुष्य धर्म के अनुकरण करने वाले भगवान् की यह लीला है कि शत्रुओं पर भांति २ के शस्त्र फेंकते हैं ॥ जो मनहीं से सृष्टि संहार करता है(उनको शत्रुदलसंहार के लिये उद्यम क्या) तो भी जो मनुष्य धर्म के अनुसार हैं कि बलवान् से मेल और अल्पबल वाले से युद्ध करना, सो करते हैं। मनुष्योंकी रीतिके अनुकरण वाले भगवान् की यह केवल लीला ही है ॥

समीक्षा—तीसरे श्लोक के अर्थ वादी ने श्लोक के आशय से सर्वथा विरुद्ध किये हैं। श्लोक का आशय यह है कि वह यद्यपि मन से ही सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय कर सकता है(उसके लिये शत्रुदल का नाश क्या उद्यम है) तब भी मनुष्यों के धर्म का अनुकरण करके परमात्मा ने बलवालों के साथ मिल करके विचारे निर्बलों से युद्ध किया और वादी ने यह किया है कि मनुष्य का धर्म जो बलवालों से सन्धि कर लेना निर्बलों से लड़ना इसका अनुकरण परमात्मा ने युद्ध किया, इस प्रकार श्लोकाशय बदल देने से बहुत भेद पड़ जाता है। बलवालों से मेल और निर्बलों से युद्ध यह मनुष्य का धर्म नहीं, किन्तु विपत्ति समय में मनुष्य ऐसा करे अथवा यह नीच नीति अवलम्बन करे यह और बात है ॥

अस्तु, मनुष्य का यह उक्त धर्म कोई येन केन प्रकार से निरूपण करभी दे, फिर भी यह परमात्मा को नहीं सजता। और फिर कृष्ण जी जैसे मर्य्यादा पुरुषोत्तम को, जिनका यह सिद्धान्त है कि " यद् यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते " गीता ३। ३१। अर्थ---- जो श्रेष्ठ लोग काम करते हैं अन्य लोग उसी का अनुकरण करते हैं, जो वे प्रमाण मानते हैं लोग उसी को प्रमाण मानते हैं। ऐसे उच्च भावों वाले कृष्ण के लिये जो यह कथन किया गया है कि वह मनुष्य का अनुकरण करके सब काम करते हैं, यह कवि लोगों की वञ्चना मात्र है॥

फिर इस लीला से भिन्न वादी ने तीन उद्देश्य अवतार लेने में और बतलाए हैं (१) दुष्टों के दमनपूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा (२) धर्म की रक्षापूर्वक जगत् का मंगल (३)सगुण लीला द्वारा समय के प्रत्यक्ष उपासक तथा भविष्यत् काल के उपासकों का सौकर्य्य साधन॥

समीक्षा-अवतारसिद्धि का यह ऐसा विषम मार्ग है। जिसमें लाखों यात्री प्रमाण पथ में भटक रहे हैं कौन कह सकता है कि यह आपका प्रथम उद्देश्य दुष्टों के दमनपूर्वक सत्पुरुषों की रक्षा करना सब अवतारों में घटता है। देखो श्रीमद्भागवत ९। १६। १९॥

त्रिस्सप्त कृत्वः पृथिवीं, कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः। स्यमन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान्नव। अर्थ-इक्कीस वार प्रभु परशुरामजी ने पृथिवी निःक्षत्रिया अर्थात् क्षत्रियों का बीज नाश करके नौ तालाब रुधिर के भरे, इस क्षत्रिय रुधिररूप जल से परशुरामजी ने अपने पिता का तर्पण किया। क्या कोई कह सकता है कि इतने क्षत्रिय नाश करके परशुरामावतार ने कौनसे सत्पुरुषोंकी रक्षा की? हमारी सम्मति में तो भारतका बेड़ा आपके इसी अव-

तार ने डुबाया है, जिसने लोक मर्य्यादा के सेतु क्षात्र धर्म को नष्ट किया। दूसरे क्या बुद्धावतार में आपका प्रथम उद्देश्य घटता है जिसने वैदिक धर्म का खण्डन करके शेष रहे ब्राह्मण धर्म को भी नष्टप्राय किया।

नर और नारायणावतारने धर्म की रक्षापूर्वक कौनसा जगत्का मङ्गल बढ़ाया? और वराह ने कौनसे उस समयके उपासकों को अपनी सगुण लीला द्वारा लाभ पहुंचाया तथा भविष्यत् काल के उपासकों का क्या उस शूकरावतार से सौन्दर्य्य साधन हुआ?

और जो वादी ने श्री० भा० ८।५।२४ के श्लोक का प्रमाण दिया है कि "**गोविप्रसुरसाधूनांछन्दसामपिचेश्वरः रक्षा-मिच्छंस्तनुर्धत्तेधर्म्मस्यार्थस्यचैवहि**" अर्थ—गौ, ब्राह्मण, देवता, साधुपुरुष और वेद धर्म और अर्थ इन में से किस की रक्षा के लिये कच्छावतार हुआ और किस की रक्षा के लिये मच्छावतार और कौन से वेद की रक्षा बुद्धावतार ने की और क्षत्रियों के रुधिर से तालाब भरनेवाले परशुराम ने किस धर्म और अर्थ को बढ़ाया? ॥

एवं समीक्षा करने से आपके ही श्लोक आपके अवतारों में नहीं घटते, घटना तो क्या प्रत्युत उलटे पड़ते हैं। और जहां २ वादी ने अवतार सिद्धि में गीता के श्लोकों के प्रमाण दिये हैं वहां २ अपने अभिप्राय के अर्थ कर लिये गए हैं "**यदा यदा हि धर्मस्य**" यह श्लोक पूर्वोक्त उस बातके उत्तर में है जिसको श्रीकृष्णजी ने प्रथम निरूपण किया था कि यह योग पहले मैंने विवस्वान् को कहा अर्जुन ने पूछा कि उस समय आप कहां थे तो श्रीकृष्णजीने उत्तर दिया कि "**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवचार्जुन**" हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म व्यतीत हुए हैं उन सब को मैं जानता

हूं तम नहीं जानते,तो क्या इसपूर्व जन्म के ज्ञानसेही उनमें अवतारत्व सिद्ध होगया? यदि कहो "जब जब धर्म की हानि होती है तब तब मैं होता हूं"इस कथन से अवतारत्व सिद्ध हुआ तो धर्म्म हानि में तो कई एक धर्मरक्षक पुरुष हुए हैं वह आपके पूर्णावतार और अंशावतार की संख्या से बाहर हैं फिर केवल धर्म रक्षार्थ जन्म लेनेसे ही कृष्णजी में ईश्वरावतारत्व कैसे ?

और जो " **अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम्**" इत्यादि भागवत के श्लोक अवतार सिद्धि में दिये गये हैं। यह श्लोक तो अपनी प्रमाणरूप सिद्धि में असिद्ध हैं फिर इनका प्रमाण क्या ? अर्थात् अवतार के मन्तव्य के मध्यावस्था के हैं जिस समय अवतारों का वाद सर्वथा प्रवृद्ध होगया और लोग अवतारों में भी भेद करने लगे उस समय का यह भागवत पुराण है। प्रमाण इससे अधिक क्या होसकता है कि स्वामी शङ्कर ने गीता का नाम कई एक स्थान में लिया है और इस भागवत पुराण का कहीं भी नहीं, ऐसे नवीन और सर्वथा स्वकल्पितग्रन्थ से यदि कोई अपने घर में ही अवतार सिद्ध कर बैठे उसको कौन प्रामाणिक पुरुष मानेगा? ।

अस्तु, यह भागवतवाद अप्रासङ्गिक है, मुख्य प्रसङ्ग यहां गीतार्थ का था। हमारी सम्मति में गीता में अवतारवाद नहीं और जिन श्लोकों में कृष्णजी ने स्वयं ईश्वर होने का दावा किया है उन श्लोकों का अभिप्राय ईश्वर में भेद बुद्धि के अभाव में है जैसे कि उपनिषद् के समय में भी ऋषि लोग अपने को ऐसा कथन करते रहे हैं "**अहं-ब्रह्मास्मि**" यह वाक्य बृहदारण्यक में वामदेव ने कहा है और कौषीतकी ब्राह्मण में इन्द्र ने प्रतर्दन राजा को कहा है कि मैं प्राण

हूं तू मेरी उपासना कर । इस विषय को शास्त्रदृष्ट्यधिकरण में व्यासजी ने स्पष्ट कर दिया है कि अपने को ईश्वर कथन करने का अभिप्राय परमात्मा में आध्यात्मिक सम्बन्ध के बाहुल्य से है, सो कृष्ण जी का परमात्मा में बहुत सम्बन्ध था, इस बात से कोई भी पुरुष इनकार नहीं कर सक्ता। और कोई अभिप्राय कृष्ण जी का अपने आप को ईश्वर कथन करने का नहीं हो सक्ता, यदि अवतार दृष्टि से ही कृष्ण जी अपने को ईश्वर रूप से कथन करते तो "**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति**" इत्यादि श्लोकों का क्या प्रयोजन था? जो कृष्ण जी से भिन्न ईश्वर की ओर लेजाते हैं और "**क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत!**" इत्यादि श्लोक क्यों लिखे जाते? जिन में प्रत्येक मनुष्य को कृष्ण के सम ईश्वर होने का उपदेश किया गया है इन श्लोकों पर रामानुजाचार्य्य का भाष्य भी हमारे ही अभिप्राय को प्रकट करता है कि कृष्ण जी ने विशिष्टाऽद्वैत के अभिप्राय से सब क्षेत्रों में अपने को वर्णन किया है, अवतार होने के अभिप्राय से नहीं, ।

एवं मीमांसा करने से गीता अवतारवाद का पुस्तक नहीं ठहरता इस प्रणाली में सन्देह हो तो देखो शास्त्रदृष्ट्यधिकरण वेदान्त सू० अ० १ पा० १ सू० २८ और "**क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत!**" इस श्लोक का रामानुजभाष्य और जो यह कहा है कि "**जन्म कर्म्म च मे दिव्यम्**" इस श्लोक से अवतार पाया जाता है इस से तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है क्योंकि जन्म और कर्म की पवित्रता तो पुरुष की ही हो सक्ती है ईश्वर की नहीं, ईश्वर अक्रिय है सर्व वेद शास्त्र ईश्वर के कर्म्म का निषेध करते हैं जैसे "**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया०**" इस ऋग्वेद के

मंत्र में ईश्वर को साक्षीरूप कहा गया है। फिर उस के कर्म्म क्या ?

यदि वादी यह कहे कि अवताररूप होने से उस के जन्म और कर्म्म दोनों ही हो जाते हैं तोभी पौराणिक मतानुकूल जन्म कर्म्म की पवित्रता अवतारों में नहीं कही जासक्ती। आचार की परिभाषा में विहारलीलादिकों को कौन पवित्र कहसक्ता है और यदि कृष्ण जी ईश्वरावतार होते तो उनको इस कथन की क्या आवश्यकता पड़ी थी? कि जो मेरे जन्म और कर्म को पवित्र मानता हो वही मेरे में लीन हो सक्ता है अन्य नहीं, यह श्लोक तो कृष्ण जी के अनुष्ठान के अभिप्राय को सूचित करता है कि मैं ऐसा अनुष्ठानी हूं और मेरे इस अनुष्ठान का जो अनुकरण करता है वह मुझे प्राप्त होता है, इसी अभिप्राय से " **मन्मना भव मद्भक्तः**" इत्यादि श्लोक हैं जिनका भाष्य स्वामी रामानुज ने भी यही किया है कि मेरे जैसे मन्तव्यवाला हो और मेरे कथन किये हुए चतुर्थाध्याय के यज्ञों को करता हुआ मद्याजी बन।

एवं यह श्लोक वादी के अभिप्राय को कदापि सिद्ध नहीं करता, इस प्रकार गीता की मीमांसा है, समय मिलने पर हम इस पर टीका करेंगे, प्रकृत यह है कि गीता से अवतारवादी का अवतार वाद सिद्ध नहीं होता।

और जो यह कहा है कि कोई २ अवतार उक्त तीनों उद्देश्यों से बाहर केवल भक्तों की प्रार्थना पर ही हुआ करते हैं जैसे कच्छावतार। न जाने अवतारवादी ने देशोद्धार का भार इस अवतार के सिर पर क्यों न दिया? यह अवतार तो सम्पूर्ण भूमण्डल का भार उठाने योग्य था, पर ठीक है वादी इस अवतार के सिर सुधार का भार कैसे देता? १-न इस अवतार ने श्रेष्ठजनरक्षणार्थ दुष्टदमन किया, २-और न धर्म की रक्षापूर्वक जगत् का मङ्गल, ३- और न सगुण-

लीला द्वारा उपासकों का मनो रञ्जन, केवल एक समुद्र मथन के स-
मय मन्दराचल पर्वत के नीचे समुद्र मथन में सहारा दिया सो जिस
का फल मीठा कडुआ दोनों हुए, यदि अमृत मिला तो शराब भी
मिली जो अब बहुत लोगों को बरबाद कर रही है न यही प्रत्युत यों
कहना चाहिये जिसने श्री कृष्णावतार के यादवकुल का नाश करदिया
फिर ऐसे अवतार के होने में विना भक्तों की प्रार्थना के और क्या
कारण कहा जाय ? ।

एवं समीक्षण करने से अवतार का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं
हुआ ।

दूसरे प्रश्न का भाव यह है कि सर्वाप्तकाम सर्वव्यापक सर्व-
कल्याण गुणों की राशि परमेश्वर का, किसी एक गर्भ में जन्म लेना
कैसे सम्भव हो सकता है ? वह पूर्ण किसी एक गर्भ में समा नहीं स
कता। यदि व्यापक भाव से उस गर्भ के भीतर मान भी लिया जाय तो
प्रथम ही वहां हैं फिर गर्भ में आने के क्या अर्थ ? इस के उत्तर में
प्रवृत्त होते अवतारवादी पं० अम्बिकादत्त व्यास ने यह स्वीकार कर
के कि उक्त परमेश्वर मनवाणी का विषय नहीं, इसलिये उस में यह
प्रश्न नहीं हो सकता कि उस पूर्णका अवतार लेना कैसे सम्भव है ?
यह कहा है इस तर्काभास से वादी का काम नहीं चल सकता, हम
यह कहेंगे कि इन्द्रियाऽगोचर होने से जब हम उस के जन्म धा-
रण की असम्भवता नहीं कह सकते तो आप ऐसे इन्द्रियागोचर प-
परमात्मा का जन्म धारण किस मुख से कहेंगे ?

और "**यतोवाचो निवर्तन्ते**" इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं
कि कोई वाणी वा कोई इन्द्रिय उसको विषय ही नहीं कर सकता।
यदि ऐसा ही होता तो वादी को यह सूझ कहां से पड़ती कि परमा-

त्मा इन्द्रियागोचर है उक्त उपनिषद् वचन का आशय यह है कि परमात्मा अवैदिक वाणी का विषय नहीं, और असंस्कृत मन का विषय नहीं और यह बात वादी की ओर ही उलटी पड़ती है क्योंकि वादी का यह सिद्धान्त वादी मन्तव्यके सर्वतन्त्र सिद्ध है कि अज्ञानी के लिये मूर्त्तिपूजा और भगवत् अवतारादि हैं ज्ञानावस्था में यह कुछ नहीं तो परिणाम यह निकला कि असंस्कारी अज्ञानावस्था की वृत्ति का विषय जो अवतारादिरूप है वह ईश्वर नहीं ॥

और जो यह कहा कि यों तो व्यापक हेतु से आकाशादि दृष्टान्त से चेतनाभाव का भी अनुमान हो सकता है, इसका उत्तर यह है कि हमतो इस अनुमान को दुष्ट मानते हैं प्रत्युत वादी ही ईश्वर में चेतनाभाव सिद्ध करता है जो अवतारों के शरीरों को अलौकिक मान कर ब्रह्मरूप सिद्ध करता है जिन में शरीरत्व हेतु से जड़तादि जन्म-मरण रूप दोष सिद्ध हैं ॥

और सिद्धान्त उत्तर यह दिया है कि परमात्मा अपनी सर्वशक्तिमत्ता से किसी एक देश में अपना रूप प्रकट कर देते हैं और आप सर्व व्यापक हो रहते हैं ।

समीक्षा—जहां रूप प्रकट कर देते हैं क्या वहां पहले न थे? वा पहले कम थे? फिर सघन हो जाते हैं इत्यादि विकल्पों से सर्वव्यापक का किसी देश में स्वरूपप्रकट कर देना सिद्ध नहीं हो सकता।

और निराकार ईश्वर के अवतार धारण कर गर्भ में आने की सम्भवता में प्रमाण यह देते हैं कि गोपियों को रास लीला में अनेक रूप दिखलाए, भा० स्कं० १० अ० ३३ श्लो० ७ अवतार मीमांसा पृ० १४

समीक्षा—यहां हमारे वादी को यह भी विचार नहीं रहा कि हम रास लीला का क्या प्रमाण देते हैं, रहता कैसे? यह लोग तो रास

लीला में ऐसे रम गए हैं कि मानों इस से बढ़कर ईश्वर ध्यान और ईश्वर भक्ति का कोई मार्ग ही नहीं, यही शृंगार पथ ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है इसी मार्ग की यात्रा में इन्होंने आर्य जाति के **"नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"** नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव पुरुष के ज्ञान से भिन्न और कोई कल्याण का मार्ग नहीं इत्यादि उच्च सिद्धान्त भुलादिये ।

और जो भागवत स्कन्धादि का पता देकर अनेक रूप सिद्ध किये है यह तो ऐसा ही है जैसा किसी ने किसी से कहा कि हनुमान् का हिमालय उखाड़कर सञ्जीवनी बूटी के लिये ले आना असम्भव है इसका कोई प्रमाण दें कि हनुमन्नाटक में लिखा है । प्रश्नकर्त्ता जैसे हनुमान् का हिमालय उठा लाना गप्प समझता है ऐसे ही हनुमन्नाटक को भी गप्प का भण्डार समझता है फिर यह उत्तर क्या ? ऐसा ही यहां अवतार वादी ने किया है जो निराकार सर्व व्यापक के अवतार होने की असम्भवता दूर करने के लिये भागवत का प्रमाण दिया है , हम पहले भी सूचना मात्र से सूचित कर आए हैं और यहां फिर दृढ़ता से कहते हैं कि श्रीमद्भगवत पुराण का जन्म कृष्णजी से सहस्र वर्ष पीछे हुआ, इस से और बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ? कि स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने भागवत पुराण का नाम भी नहीं लिया और गीता का जगह२ प्रमाण देते हैं, भागवत में वर्णित अद्वैतवाद का ख़ज़ाना यदि स्वामी शङ्कर को उस समय मिल जाता तो वह गीता के सम प्रमाण देने में पीछे न रहते, फिर ऐसे आधुनिक पथ पर गिरना जो स्वयं अप्रमाण है उसका वार २ प्रमाण देना यही सूचित करता है कि वादी के पास केवल यही आधुनिक अनृत भण्डाररूप सामग्री है जिस के भरोसे इतना बल दिखलाया

जाता है कि पूर्णकाम परमात्मा महानिन्दित गसलीला के अल्पकाम के लिये नानारूप धारण करता है। और जो वादी ने "**नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च**" यह यजु० १६। ३० का मंत्र प्रमाण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि ईश्वर नानाप्रकार के रूप धारण करता है॥

समीक्षा—इस मंत्र के उदाहरण से तो वादी ने सर्वथा अपने वाद का अपवाद कर दिया, क्योंकि यह नमस्ते अध्याय के मंत्र किसी अवतार के अभिप्राय से नहीं हैं। यदि इस मंत्र में अवतार का अभिप्राय होता तो इस मंत्र से पूर्व प्रकरण में "**नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नमः क्षत्तृभ्यः**" इत्यादि मंत्रों में सेना और सेनापति रथों वाले और विना रथों के जो पैदल हैं इत्यादिकों को नमः कहा जाना इतना ही नहीं आगे "**नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च**" इस में कुत्ते और कुत्ते वालों को नमः कहा है क्या इन सब को ईश्वर के अवतार कोई कथन कर सक्ता है हां भक्तमाल की रीति से भक्तगण यह भी कहेंगे कि एक भक्त की रोटी उठा ले जाने के लिये भगवान् ने श्वान रूप भी धारण किया था, फिर भी जहां कुलाल और निषदादि अनेक निषिद्ध जीवों को नमस्कार किया है वहां तो वादी के लिये कोई मार्ग ही नहीं। महीधर इस विषम मार्ग में कई मार्ग ग्रहण करता है (१) "**रुद्र एवलीलया चौरादि रूपं धत्ते**,, कि रुद्र देवता ने ही लीलादि से चोरादिकों के रूप को धारण किया। (२) "**वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वात् चोरादयो रुद्रा एव ज्ञेया**,, वा रुद्र ही सब संसार का आत्मा होने से चोरादिकों को भी रुद्र ही समझना

चाहिये । (३) वा **"जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति तत्रजीवरूपं स्तेनादि शब्दवाच्यं, तदीश्वरः रुद्ररूपं लक्षयति"** अथवा रुद्र दो प्रकार से रहता है एक जीवरूप होकर, एक ईश्वररूप, जीवरूप रुद्र चोरादि शब्दों से कहाजाता है वह ईश्वररूप को बतलाता है ।

"किं बहुना लक्ष्यार्थविवक्षया मंत्रेषु लौकिका शब्दाः प्रयुक्ताः,, बहुत क्या कहना है सार यह है कि लक्ष्यार्थ जो ईश्वर है उसके कथन के लिये मंत्रों में यह **"नमः ह्रस्वाय च वामनाय च"** ये शब्द कहेगए हैं अर्थात् इन सोलहवें अध्याय के मंत्रों में जो२ शब्द कहेगए हैं वह ईश्वर के नाम नहीं किन्तु लक्षण से ईश्वर के बोधक हैं ।

महीधराचार्य्य के उक्त निर्णय से अवतारवादी का यह कथन कि "नमः ह्रस्वाय च" यह शब्द ईश्वर के अवतार के अभिप्राय से आते हैं इस कथन का खण्डन होजाता है ।

अद्भुत तो यह है कि अवतार वादी पं० अम्बिकादत्तव्यास तो यहां यह मानता है कि ईश्वर में वामन होना, ह्रस्व होना, और व्यापक होना यह विरुद्ध धर्म रहते हैं जैसे "यही तो भगवान् का वैलक्षण्य है कि उन में व्यापकत्व भी रहे और एकदेशवृत्तित्व भी रहे" अवतारमीमांसा पृ० १५ ।

इस मन्तव्य से इन के लिये तो यह नमस्ते अध्याय का मार्ग अति कठिन है, जिस में कुलालादि सब रूप परमेश्वर के कथन किये गए हैं जिन से कोई वस्तु बाहर नहीं सब साक्षात् भगवान् ही भगवान् है फिर अवतार सिद्धि में यत्न क्यों? और नमस्ते से चिड़ क्यों? इस अध्याय को महर्षि स्वामी दयानन्द ने क्षत्रि धर्म के वर्णन में ल-

गाया है जिस में सेना सेनापति क्षत्रिय आदि शब्द इस अध्याय के प्रमाण हैं ॥

यह शब्द प्रमाण के विचार का प्रकरण नहीं, वादी के इस कथन पर कि "**नमो ह्रस्वाय वामनाय**" यह ईश्वर के अवतार बोधक हैं इसके उत्तर में इतना कहा गया सारांश यह निकला कि उक्त ह्रस्वादि शब्द ईश्वर के अवतार बोधक कदापि नहीं (बृहते)इस शब्द का ह्रस्व और वामन से विरोध है क्योंकि यहां बृहत् शब्द भिन्न अर्थ के लिये आया है उसी वामन और ह्रस्व के लिये नहीं आया, इस बात को भाष्यकारों ने माना है अस्तु,

प्रश्न यह था कि पूर्ण ईश्वर कैसे एक स्थान में आकर जन्म लेता है ? इस असम्भवता का वादी ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

तीसरे प्रश्न का आशय यह था कि यदि लीला के लिये उस का अवतार माना जाय तो भी शोभित नहीं जिसकी कोटान कोटी ब्रह्माण्ड लीलामात्र है उस को तुच्छ मनुष्यलीला क्या सजती है वादी ने इसका उत्तर यह दिया है कि जब उसको सृष्टि रचने की लीला सज जाती है तो फिर मानवलीला क्यों नहीं सजती? भाव यह प्रकट किया कि जब उसे एक लीला सजती है तो सभी लीला सजती हैं ।

यह उत्तर ऐसा दुरुत्तर है कि जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम्हें यह काम नहीं सजता उसने यह उत्तर दिया कि जब मुझे भला काम सजता है तो यहां बुरा क्यों नहीं सजेगा? क्योंकि यह भी तो एक काम ही है एवं मन्तव्य यह सिद्ध किया कि " **जब परमात्मा लीला ही करने लगे तो उनको सब लीला सजती हैं** " अवतार मीमांसा पृ० १६ ।

और यहां लीला और अवतार के प्रयोजन तीन और कथन

किये हैं (१) प्रार्थना (२) प्रकृति (३) इच्छा, नन्दादिकों की प्रार्थना से अवतार लिया, गोपियों की प्रार्थना से लीला की तथा कोई लीला जगत् के उद्धार के लिये की, कोई भक्तों की प्रार्थना से, कोई अपनी प्रकृति के अनुसार; यथा जब चारों ओर जल ही जल भराथा उस समय मत्स्यलीला ही ईश्वर के स्वभावानुकूल थी, जब समुद्रमथन करना था तब कच्छावतार की लीला ही शोभित थी एवं समय २ पर अपनी प्रकृत्यनुकूल परमेश्वर को पशुलीला भी सज-जाती है फिर मनुष्य लीला क्या ? इत्यादि तर्कों से और उसी भाग-वत के प्रमाणों से वादी ने अपने अवतारमन्तव्य का मण्डन किया है इससे अधिक और युक्तिबल क्या हो सकता है ? मानवलीला के ईश्वरानुरूप होने का प्रश्न किया तो पशुलीला प्रमाण दे दिया, पशु-लीला के अनुचित होने का प्रश्न किया तो रासलीला प्रमाणत्वेन उ-दाहृत करदी, इस विषय में हम यही कहेंगे कि अब ऐसी घरों की बातों के प्रमाण देने का समय नहीं । हम इन सब लीलाओं के पुञ्ज अवतारवाद की चतुर्थ प्रश्न में समीक्षा करते हैं ।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि यदि मान भी लिया जाय कि मानव लीला के लिये ईश्वर अवतार धारता है तो वराहादि योनियों की लीला ही उसके लिये लीला रहगई थी वा विहारलीला, मानलीला, रासलीला, चीरलीला इत्यादि निन्दित लीलाएं ?।

इस प्रश्न का उत्तर वादी ने यह दिया है कि जब पृथ्वी को रा-क्षस ले गया था उस समय प्रभु की प्रकृति के अनुकूल शूकर वपु ही था क्योंकि वही कीचड़ में घुसकर यह काम कर सकता था, किरीट मुकटधारी नहीं ।

समीक्षा—क्या वादी के मत में परमात्मा के उक्त दोनों रूप ही रहगए हैं जो "किरीट मुकुटधारी योग्य न था, वराह भगवान् ही योग्य

था" यह कहा। जब उसके अनन्तरूप वादी को स्वीकार हैं तो कोई उत्तमरूप धारता तो क्या दुर्घट था? यदि यह कहा जाय कि और रूप कोई जलचर न था तो क्या वादी ने सब जलचरों की परीक्षा लेकर वराह ही जलचर समझा जो लौकिक प्रसिद्धि में स्थलचर है? इसकी समीक्षा हम मिथ्यार्थपरीक्षा में बहुत कर चुके हैं यहां इतना ही कहदेना योग्य है कि जब परमात्मा सर्वाधार है तो क्या विना वराह पृथिवी का धारण नहीं हो सक्ता था वा इस शुभ रूप के दर्शनार्थ भी किसी की नन्दादिकों के सम प्रार्थना थी?।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि उस समय सबका यही प्रयोजन था कि राक्षस से पृथिवी छुड़ा के लाई जाय सो परमात्मा किसी रूप से लाता, कोई आपत्ति न थी, पौराणिक परमात्मा तो सदा शेषशायी भगवान् जल में ही रहते हैं फिर नए रूप धारण की क्या आवश्यकता थी? सत्य तो यह है कि "**वरञ्च तदहश्चेति वराहः वराहो विद्यते यस्य स वराहः**।" अच्छे दिन का नाम वराह है एवंविध दिन जिसको उपलब्ध हो उसे वराह कहते हैं सोम का नाम यहां वराह है। इस वैदिक तत्व से भूलकर यह मिथ्या कथा प्रवृत्त हुई है॥

सब स्थान में एवंविध कारण नहीं है कहीं२ पौराणिक कथाओं के मूल का नाम मात्र भी वेद में नहीं।

अब रहीं विहारलीलादि निन्दित लीलाएं, जिनके लेख को लौट पौट करके वादी ने अवतार मीमांसा यह सारा पुस्तक भरा है। हम इन लीलाओं को दृष्टान्त मात्र दिखाकर पञ्चम प्रश्न का समीक्षण करेंगे, विहारलीला यह कहलाती है कि एक समय कृष्णजी ने वन में बंशी बजाई, सब स्त्रियां अपना अपना घर छोड़ भगवान् के पास आगईं और अपने २ पतियों को छोड़ कृष्ण को पति मानने लगीं, एवं

अपने २ पतियों को छोड़कर कृष्ण को पति मानने का जो पुराण में उत्तर दिया गया, प्रथम हम उसी को यहां उद्धृत करते हैं।

जैसे २ गोपियों ने चाहा वैसे २ उन्होंने भी विहार किया कुछ, दोष की बात नहीं। गोपियों के पतियों में व उन में सब प्राणियों में भगवान् हरि टिके हैं इससे सर्वस्वरूपी भगवान् कृष्ण चन्द्र के विहार में कोई दोष नहीं, जैसे वायु सब में व्यापक है वैसे ही हरि भगवान् है, इत्यादि।

विष्णु पुराण भाषा अंश ५ अध्याय १३। इसको विहार लीला कहते हैं।

चीर लीला के अधिक चरित्र यहां लिखने की इसलिये आवश्यकता नहीं कि सदाचार पथ से गिरके यह ग्रन्थ पठनार्ह नहीं रहेगा। इन लालीओं के भिन्न२ उत्तर इस कृष्णलीला के भक्तों ने दिये हैं। हम यहां पं० अम्बिकादत्त के उत्तर को उद्धृत करते हैं॥

गोपियों का यह उद्देश्य था कि पति रूप से श्रीकृष्ण प्राप्ति हो, सो श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया। इसका यह भाव निकाला है कि एवं गोपियों के पति बुद्धि से भगवान् को वरण से कर्म्म काण्ड की शिक्षा निकलती है प्रमाण इस में यह गीता का श्लोक दिया है "**नकर्म्मणामनारम्भा नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**" आगे भाष्य यह किया है कि उस कर्म्मकाण्ड के साथ भगवत्प्रेम हो तो भगवान् स्वयं उसकी च्युति को शोधन कर उसके अनुष्ठान को पूर्ण कर सक्ते हैं। प्रमाण निम्न लिखित दिये हैं "**ईश्वरप्रणिधानात् वा**" यो० सू० "**सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" तैत्तिरीय उ० नि० ब्रह्मवल्ली १। इस प्रकार पर स्त्रियों के पति बनने में पं० अम्बिकादत्त ने सब श्रुति स्मृतियों के प्रमाण एकत्र कर दिये हैं। अन्त को स्वयं यह प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया है जो सब सदाचारियों को द्रष्टव्य है। प्रश्न--परस्त्रियों का पतित्व श्रीकृष्ण

ने क्यों स्वीकृत किया? उत्तर—यह आधुनिक नीति के अनुसार लौकिक पुरुषों को तो सर्वथा अनुचित है परन्तु भक्तिशास्त्र के अनुसार भगवान् को तो करना ही पड़ता है क्योंकि भगवत् गीता श्रीमुख का वचन है " **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** " क्योंकि भगवान् के प्रतिरोम कोटि ब्रह्माण्ड हैं उनमें एक ब्रह्माण्ड के एक लोक के एक खण्ड के कतिपय मनुष्यों के लिये जो मनु याज्ञवल्क्यादि कृत उचितानुचित क विवेक है उस सूत्र से ईश्वर का बांधना तो सर्वथा स्पष्ट ही अनुचित है। अवतार मीमांसा पृ० ८३॥

समीक्षा—यहां तो पं० अम्बिकादत्त जी ने पौराणिक भाव को पूर्ण रीति से झलका दिया, और सब श्रुति स्मृतियों को इस अर्थ में गतार्थ कर दिया, कि जो गोपियों ने अपने२ पतियों को छोड़कर कृष्ण को पति बनाया, यह शास्त्रविरुद्ध नहीं। प्रत्युत ठीक ठीक गीता के उद्देश्य के अनुकूल सिद्ध कर दिया कि कर्म्म योग के विना कोई पुरुष ज्ञान योग को नहीं पासका, इस प्रकार गीता की फ़िलासफ़ी भी शृङ्गार के भावों में सङ्गत करदी और " **येयथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** " गीता० अ०४श्लो० ११ इस से भी गोपीजनवल्लभ होने का ही भाव निकला। इस श्लोक के अर्थ को ऐसा विस्तृत कर दिया कि अब पौराणिक भगवान् के दर्बार में किसी को रुकावट नहीं रही। सदाचारी से सदाचारी और दुराचारी से दुराचारी सब एक ही भगवत्घाट का पानी जा पीवेंगे, अब किसी को सदाचार के कठिन व्रतों में यम नियमादि कों से इन्द्रियनिरोध की आवश्यकता न रहेगी यहां तो पं०साहब थियासोफ़िष्ट भाइयों के दिमाग़ को भी अतिक्रमण कर गये, जो इतने उच्चार्थ काले कि उनविचारों के अर्थों को भी नीचे ही करगए। क्यों न करें, इस तक में यह सामर्थ्य उक्त पं०अम्बिकादत्तजी को ही थी कि "ब्रह्म-

विदाप्नोति परम्" इस उपनिषद् श्लोक के अन्तिम वाक्य "**ब्रह्मणा सह विपश्चिता**" के अर्थ गोपियों के और कृष्ण के सम्बन्ध में लगा दिये जो आज तक सब आचार्यों को उक्त वाक्यार्थ मुक्तिकाल में ब्रह्म प्राप्ति के ही सूझे थे, ठीक है ॥

सदाचार के अर्थ तो यहां यह कर लिये गए हैं कि इसलोक का कानून सदाचार मनु याज्ञवल्क्यादि का परमेश्वर के लिये नहीं। यह नया मन्तव्य सनातनधर्म संस्कार में इसी शतक १६०० में बढ़ने लगा है। आश्चर्य्य नहीं कि किसी दिन वेद संहिता के भी ऐसे उच्चार्थ किये जाने लगें और वेद भी मनु याज्ञवल्क्यादि कानून के सम ईश्वर रूप सदाचार का निर्णायक न रहे। यहां विचारणीय यह है कि मान भी लिया जाय कि आप के ईश्वर का बनाया सदाचार ईश्वर का बन्धन रूप सूत्र नहीं, पर जिन विचारे गोपों की स्त्रियें उन की आज्ञा की विना जैसा कि पुराणों के अनन्तस्थलों में वर्णित है कि कृष्णजी की स्त्रीयें बन गईं तो उनके लिये तो मनु और याज्ञवाल्क्य का कानून उन गोपों के अधिकार स्थिरता के लिये भी मनु याज्ञवल्क्यका कानून यथार्थ था, उसको आप के परमेश्वरने क्यों पालन नहीं किया? ।

कहां तक खोलें इस पौराणिक अवतार वाद में सहस्रों दोष हैं जिन मण्डन करना किसी की सामर्थ्य में नहीं। अस्तु, प्रकृत यह था कि ऐसी निषिद्ध लीलाओं के लिये परमेश्वर क्यों अवतार धारण करता है इसका उत्तर न देकर अवतारवादी उक्त निषिद्ध लीलाओं के उत्तर में प्रवृत्त हुआ।

पाचवां प्रश्न यह था कि अवतारों ने मर्य्यादापुरुषोत्तम पुरुषों से बढ़कर क्या काम किया! इसका उत्तरवादी ने उसी भागवत की प्रणाली से दिया है कि कृष्ण के जन्म समय ही अद्भुत भाव थे, जैसे कि किरीट कुन्डलादि से विभूषित चतुर्भुजरूप और ऐसा कोइ भी

अवतार नहीं जिस में कोई अद्भुत भाव न हो, जैसे मत्स्य का प-
ड़े २ बढ़ जाना, कच्छ का मन्दराचल को धारण करना इत्यादि ॥

समीक्षा — उक्त अद्भुत भाव सब आधुनिक ग्रंथों की ही ली-
ला है। यदि सत्य भी माने जायें तो भी और पुरुषों से बढ़कर अवता-
रों के चरित्र नहीं। जैसे कि हनुमान का सूर्य्य भक्षण करजाना और
हिमालय का हिस्सा उठालाना, किस अवतार से कम काम है?
रावण का कैलास उठालेना। यदि यह कहा जाय कि रावण तो
रामचन्द्र जी के हाथ से मरा फिर क्या अधिक हुआ, प्रत्युत न्यून ही
हुआ। इसका उत्तर यह है कि मरना जीना तौ आप के अवतारों के
साथ भी लगा ही हुआ है जैसे कि कृष्णका जरानामा व्याध के हाथ
से मरना पुराणों के प्रमाणों से सिद्ध है। वादी इस में यह उत्तर दे-
गा कि वह तो शाप था। हम कहेंगे, रावण को भी शाप ही था। एवं
शाप की कहानिएं सब में समान हैं यह सब कथाएं पीछे से बनाली
गई हैं। प्रकृत यह है कि जब भीष्म जैसे वीरों में बड़े २ विचित्र भाव पाए
जाते हैं फिर क्या जानें परशुरामादिकों में इन से क्या बढ़कर था, जि-
स से वे अवतार माने गये, हमारी समझ में भेद था तौ इन्हीं ऊं-
चनीच भावों का था कि विचारे भीष्म ने बड़े २ भीष्मव्रत धारण करके
इस क्षत्रिय कुल की तीन पुरुषा तक रक्षा की और प्राण त्यागने के समय
भी उस भारतयुद्धरूप दावानलदग्ध भारतवन को शान्तिपर्वरूपी
सुधावृष्टि के सिञ्चन कर गए ॥

और दूसरी तरफ़ अवतार परशुराम में यह नीच भाव कि
उस के पिता को एक क्षत्रिय ने मारा था, इस पलटा लेने के नीच भाव
से उस ने इक्कीसवार क्षत्रिय वंश का बीज नाश किया, क्या यही
अवतारों में अद्भुत भाव थे? जिसकी तुलना मर्य्यादापुरुषोत्तम पुरुष नहीं
करसके ?।

रही यह बात कि रामकृष्णादिकों में जो ऊंचभाव थे, इससे उन को हम मर्य्यादापुरुषोत्तम मानते हैं और वे मर्य्यादापुरुषोत्तम थे। यदि अवतार हेतु से ही उन में अद्भुतभाव होते तो आप के और अवतार परशुरामादिकों में क्यों न होते ?।

और जो कच्छ मच्छादि अवतारों में अद्भुत भाव बतलाए गए हैं वे भी शेष का पृथ्वी सिरपर धरे ही रखना, हिरण्य कशिपुका पृथ्वी उठालेजाना, अगस्त्य का उससमुद्र का आचमन करजाना जिस में वादी के मच्छ भगवान् साक्षात् भगवान् ने वृद्धि पाई, इन गप्पों से बढ़कर नहीं ?।

छठा प्रश्न यह है कि पूर्णावतार और अंशावतार में क्या भेद ? इस का उत्तर वादी ने यह दिया है कि जो एक ही किसी विशेष काम के करने के लिये आते हैं और उसे पूरा करके चले जाते हैं वे अंशावतार कहलाते हैं अथवा जो थोड़े ही उद्देश्यों का साधन कर तिरोहित हुआ करते हैं वह अंशावतार हैं और जो लगातार काम करते रहते हैं वे पूर्णावतार कहलाते हैं। एक २ काम करके चले जाने से वा थोड़ा काम करके चले जाने से मच्छ कच्छादि बड़े २ अवतारों को वादी ने अंशावतार की श्रेणी में रक्खा है और रामकृष्ण इन दो अवतारों को पूर्णावतार माना है।

पहिले तो यह बात पौराणिक सिद्धान्त से विरुद्ध है कि मच्छ कच्छवराहादि एक २ काम के लिये ही आए थे अथवा थोड़ा काम करने के लिये आए थे, देखो वराह पुराण अध्याय ११६। वराह भगवान् जी ने ऐसा गुप्त सर्ववेदशास्त्र का साररूप उपदेश उस पृथ्वी को किया है, जिस को राक्षस के हाथ से वराह जी छुड़ाकर लाए थे। इस उपदेश में निम्नलिखित स्तोत्र का पाठ बतलाया गया

है–" ओ३म् नमो नारायणाय, यजामहे दिव्यपरं परेश-मनादिमध्यान्तमनन्तरूपम्। भवोद्भवं विश्वकरं यजा-महे॥कान्तञ्च कालादिमरूपमाद्य मनन्तरूपञ्च महा-नुभावम्। संसारमोक्षाय कृतावतारं यजामहे सोमपथे भवन्तम्॥ सोमार्कनेत्रं शतपत्रनेत्रं जगत्प्रधानं जनलो-कनाथम्।श्रुत्युक्तसंसारविमोक्षणञ्च" ॥

यह स्तोत्र है, जिस का वराह भगवान् जी ने भवसागर से पार होने के लिये विधान किया है। वास्तव में उक्त स्तोत्र वेदशास्त्र का सार भूत है, इस में एक निराकार परमात्मा के ध्यान का विधान है-कठिनाई केवल इतनी ही है कि वराह जी ने यहां यह कहा है कि इस स्तोत्र को जो लोग मेरे चरणकमलों में चित्त देकर पढ़ते हैं। उन्हीं के सर्वकाम सफल होते हैं" यहां हम इस बात में चकित हैं कि वराहावतार कथनानुसार किसके चरण कमलों का ध्यान धरके यह स्तोत्र पढ़ना चाहिये? यदि पं० अम्बिकादत्त व्यास के कथनानुकूल कीचड़ में घुसने वाले वराह के चरण कमलों का ध्यान जिज्ञासु जन धरे तो उक्त स्तोत्र के आशय से विरुद्ध है। यदि विराट् स्वरूप के ध्यान का आशय निकालें तो वह स्तोत्रवर्णन में ही स्पष्ट है कि साक्षात् भूभारहर्ता वराह भगवान् जी को स्व चरण कमलों के ध्यान विधान करने की क्या आवश्यकता थी अस्तु इस गहराई का आशय तो हमारे थियोसोफिष्ट भाई ही निकाल सकते हैं। इन बुझारतों के बूझने का उन्हीं को अधिकार है। प्रकृत में इस उदाहरण से यह अंश विवक्षित है कि उक्त वराहादि अवतार जिन्होंने न केवल पृथिवी छुड़ालाने का ही काम किया किन्तु उपदेश में भी कृष्णजी से किसी प्रकार कम नहीं, जिसको सन्देह हो वह उनके वराह पुराण के उप-

देशों को पढ़के देखले, एवं मत्स्य भगवान् ने भी सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म्मों का मत्स्यपुराण में उपदेश दिया है फिर उक्त अवतारों को पं० अम्बिकादत्त अंशावतार कैसे कह सक्ता है।

और जो यह कहा है कि रामचन्द्र और कृष्णजी दोनों ही पूर्णावतार थे यहां रामचन्द्रजी को पूर्णावतार केवल हिन्दू राम भक्तों की प्रसन्नता के लिये कहा है **"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वम्"** इस भागवत के आशय से सर्वथा विरुद्ध कहा है क्योंकि उक्त श्लोक में केवल कृष्णजी को ही पूर्णावतार माना गया है और जो यह कहा है कि कृष्णजी में तो पूर्णता चारों ओर से बर्षी पड़ती थी। हमारे विचार में यह तो ठीकही कहा है क्योंकि पं० अम्बिकादत्त पूर्णावतार के यही चिन्ह मानते थे जिसमें कोई भी कमी नहो, सो कृष्णजी उनकी राय में सभी कामों में पूरे थे, रासलीला में देखो तो पूरे, विहारलीला देखो तो पूरे, चीरलीला देखो तो पूरे, कहां तक लीलाओं की लड़ियें कथन करें उनके विचार में कृष्णजी सब काम में ही पूरे थे,पर हम उनकी इस पूर्णावतार की परिभाषा को नहीं समझे क्या " पूर्णस्यावतारः पूर्णावतारःवा पूर्ण एव अवतारःपूर्णावतारः"

यदि प्रथम विकल्प मानें जिसके अर्थ यह हैं कि पूर्ण के अवतार को पूर्णावतार मानते हैं तब तो अंशावतार ही सिद्ध हुआ यदि दूसरा विकल्प मानें जिसका अर्थ यह है कि पूर्ण ही जो अवतार हो वह पूर्णावतार कहलाता है तो क्या कृष्णजी से शेष ब्रह्म नहीं रहा था सारा पूरे का पूरा ही कृष्णरूप होगया, **"कृत्स्नप्रसक्ति निरवयवत्वशब्दकोवा"** २।१।२६।

इत्यादि शास्त्र से तो दोनों प्रकार कृष्ण ईश्वरावतार नहीं सिद्ध हो सक्के, उक्त वेदान्तसूत्र का आशय यह है कि यदि सारा ब्रह्म

एक में आगया तो शेष ब्रह्म न रहा, यदि आधा या कोई अंश आ-जाना मानों तो निरवयव विधान करनेवाला शास्त्र व्यर्थ हो जावेगा, यदि उक्त शास्त्र के विरोध को छोड़कर भी पं० अम्बिकादत्तजी पूर्णावतार और अंशावतार के निर्वचन को ठीक मानें तब भी कृष्ण पूर्णावतार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि कृष्णावतार के समय कई एक और अवतार भी थे। नारदावतार थे, व्यासावतार थे, बलभद्रावतार थे, उक्त चार अवतार के एक ही समय में भिन्न २ विद्यमान होने पर कृष्ण पूरा ब्रह्म कैसे था ? ॥

यदि पं० अम्बिकादत्त के इस अवतार के निर्वचन को भी अङ्गीकार किया जाय जो तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहा है। वस्तुतस्तु सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा कहीं अपने दिव्य आकार को प्रकटकर देते हैं, आप सर्व व्यापक ही रहते हैं और एक देश में आकार रहता है। तब भी अंशावतार और पूर्णावतार का मन्तव्य ठीक नहीं ठहरता, क्योंकि जो एक देशमें आकार प्रकट किया यह अंशावतार कहलाया और जो शेष रहा वही ब्रह्म रहा। तब भी तो कृष्ण पूर्णावतार न हुए ॥

और एक देश में आकार प्रकट कर देने का हम प्रथम खण्डन कर आए हैं एवं परीक्षा करनेसे सार यह निकला कि इस अंशावतार और पूर्णावतार के मन्तव्य ने तो अवतारवाद को सर्वथा शिथिल कर दिया, क्योंकि "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" "**अंशो नाना व्यपदेशात्**" इत्यादि गीता और वेदान्त के प्रमाण से सब जीव ही अंशावतार हुए। हमारे मत में तो अंशके अर्थ यहां ब्रह्मान्तर्गत रहनेवाले जीव के हैं इसीलिये गीता के पूर्वोक्त प्रमाण में उसे सनातन कहागया है। यदि ब्रह्म ही अंश

हो जाता तो सनातन कदापि न कहा जाता, क्यों कि उसके अंश-रूप होने से प्रथम अंश का अभाव था एवं अवतार रूप अंश व जीव रूप अंश ब्रह्म ही होगया यह सर्वथा असम्भव है इस बात को इस सातवें प्रश्न में स्पष्ट करते हैं।

सातवां प्रश्न यह है कि अवतारों के शरीर पाञ्चभौतिक हैं वा मायिक ?। इस प्रश्न के उत्तर में पं० अम्बिकादत्त ने तो सब उत्तर दाताओं से अलौकिक ही लीला की है, जो अवतारों के शरीरों में कुछ पाञ्चभौतिकत्व और बहुतसा अलौकिकत्व माना है। इस पार्थिव शरीर के अधिकांश पार्थिव भाग के सम अधिकांश अलौकिकत्व और अल्पांशालौकिकत्व है, यह उनका आशय है। भौतिकत्व अल्प होने से भी भौतिक शरीर के दोष बने ही रहेंगे फिर निर्वाह कैसे होगा? अथवा अवतार शरीरों को सर्वथा अलौकिक मानें तब भी निर्वाह नहीं हुआ क्योंकि, अलौकिक यह तो एक गोल मोल आशय रखने वाला शब्द है, इस के अर्थ तो यही हुए कि जो लोक की वस्तु न हो उस को अलौकिक कहते हैं पर प्रश्न तो फिर भी वैसा ही रहा कि अवतारों के शरीर किस वस्तु के हैं ? निर्विशेष वादी इस प्रश्न को यों उठाते हैं कि अवतारों के शरीर भौतिक हैं वा अभौतिक ? स्वकर्म्मार्जित हैं वा परकर्म्मार्जित ? मायिक हैं वा अमायिक ? यह छः विकल्प हुए। पहली बात भौतिक अर्थात् इन पांच भूतों के बने हुए, कोई कह नहीं सकता, क्योंकि इस पक्ष में और जीवों से विशेषता क्या ?। यदि अभौतिक कहें तो शरीर क्या ?। फिर अपने कर्म्मों से बने हुए हैं वा दूसरे लोगों के कर्म्मों से? अपने कर्म्मों से तो कह नहीं सकते क्योंकि ईश्वर कर्म्मफलभोक्ता नहीं। यदि पर पुरुषों के कर्मों से ईश्वर का शरीर मानें तो जिसको पराए पुरुषों के कर्म बन्धन में डाल सकते हैं

वह ईश्वर ही क्या ?। फिर ये दो विकल्प और रहते हैं कि अवतारों के शरीर माया के है वा नहीं? यदि माया के मानें तब भी ईश्वर का अलौकिक शरीर सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि हम यहां अवतार-वादियों से यह अवश्य पूछेंगे कि माया आप किसे कहते हैं? उपनिष-त्कारों के मत में माया नाम प्रकृति का है, इस निर्वचन को कई एक स्थानों में शङ्कराचार्य्य जी ने भी शङ्करभाष्य में माना है जैसे **"मायान्तुप्रकृति विद्धि मायिनन्तु महेश्वरम्"** १।४।९ के भाष्य में देखो, इस निर्वचन से हमारे तुम्हारे सम ईश्वर का श-रीर भी प्रकृति का ही सिद्ध हुआ और प्राकृत शरीर से जन्म मर-णादि भाव कोई हटा नहीं सकता, यदि माया के अर्थ वह माने जायं जो स्वामी रामानुज ने गीता के अ० ४ श्लो० ६ के भाष्य में किये हैं कि माया नाम ज्ञान का है सो ज्ञान का शरीर असम्भव है यही निर्वचन निरुक्तकार ने भी माना है **"मीयन्ते परिच्छि-द्यन्ते अनया पदार्था इति माया"** निघण्टु अध्याय १। **अज्ञानंनाम अनादिभावरूपत्वेसति ज्ञाननिवर्त्तत्वम्** इस माया अर्थ कोमानें तब भी वादी का मायावी शरीर मानना उलटा हो जाता है क्योंकि ज्ञान से निवृत्त होने से वह शरीर रज्जु सर्पादिकों के सम प्रा-तिभासिक हुआ।

हम यहां वादी को स्वामी शङ्कर ने जो गीता भाष्य में माया के अर्थ माने हैं उन्हीं में पकड़ते हैं। अवतार वादियों की अवतार सिद्धि का यह मुख्य श्लोक है। गी० अ० ४।६ **"अजोऽपि सन्नव्या-त्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया"** इस श्लोक के भाष्य में स्वामी शङ्कर माया के यह अर्थ करते हैं कि **"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय वशी-**

कृत्य संभवामि देहवानिवभवामि जातइवात्ममायया न परमार्थतो लोकवत्" आनन्दगिरि स्वामी शङ्कर के शिष्य उक्त भाष्य के यह अर्थ वर्णन करते हैं कि **"आवृतज्ञानवतो लोकस्य जन्मादिविषये परमार्थत्वाभिमानः सम्भवतीत्याह लोकवदिति"**

अर्थ—अज्ञान से ढके हुए ज्ञान वाले लोक के जनों को अपने २ जन्मों में परमार्थ सचाई का अभिमान होता है वह ईश्वर को नहीं होता अर्थात् ईश्वर अपने ज्ञान से अपने शरीर को प्रातिभासिक समझता है यह और लोगों से विशेषता है इस कथन से भी ज्ञानी पुरुषों से ईश्वर का कोई निरालापन नहीं पाया जाता। क्योंकि ज्ञानी भी अपने शरीर में अभिमान कर उसे नित्य नहीं समझते। अस्तु, ज्ञानियों से ईश्वर की यहां कोई विशेषता हो वा न हो इस प्रकरण में इसका मुख्य प्रयोजन नहीं। मुख्य प्रयोजन तो यह है कि माया के अर्थ यहां परमार्थ के हैं अर्थात् प्रातिभासिक के हैं केवल भ्रममात्र के हैं यदि ऐसा शरीर ईश्वर का वादी को अभिमत है तो उसी को शोभित हो यह अपरमार्थ शरीर जगत् का क्या कल्याण करेगा, यदि यहां कोई यह शङ्का उठावे कि अपरमार्थ हो वा कैसा ही हो पर यहां शङ्कराचार्य्य ने ईश्वर का शरीर तो मान लिया इसको उत्तर यह है कि हम यह कब कहते हैं कि स्वामी शङ्कराचार्य्य सर्वथा सब स्थलों में हमारे मन्तव्यों को मानते हैं हम तो यह कहते हैं कि बहुत जगह स्वामी शङ्कर अवतार वाद को नहीं मानते जैसा कि हम पूर्व लिख आए हैं यदि कहीं २ पौराणिक प्रभाव में आकर मानते भी हैं तो उससे अवतारवादियों का कुछ सिद्ध नहीं होता क्योंकि वे अपनी वेदान्त फिलासफी के ढंग का ही अवतार मानते हैं जो स्वयं कल्पित है मृगतृष्णा के सम झूठा है ऐसा अवतारवाद वादी

को क्या तारेगा? अस्तु, तारे या डुबोवे हमें क्या? पूर्व प्रकृत से यहां फल यह है कि पूर्वकृत छः विकल्पों से जो ईश्वर के शरीर निरूपण की असिद्धि कही गई है उसको शङ्करादि मुख्याचार्य्यों ने भी सिद्ध नहीं किया, और न पं० आम्बिकादत्त के सम ईश्वर के शरीर को अलौकिक माना। हम दृढ़प्रतिज्ञा से कहते हैं कि आज कल के अवतारवादियों की तो गणना ही क्या कोई तार्किक भी ईश्वर का शरीर तर्क से निरूपण नहीं करसकता, और वेद से तो हम तृतीय समुल्लास में ही ईश्वर के शरीर धारण का निषेध स्पष्ट कर चुके हैं फिर क्या जाने इन अवतारवादियों को वाद करने की क्या वादी पड़ी है जो वैदिक मन्तव्यों को छोड़ मन घड़त नए २ मन्तव्य घड़ते जाते हैं और स्वमुख से उनको वैदिक बतलाते हैं अतएव हम इस पौराणिक मन्तव्य निरास में पं० ज्वालाप्रसाद कल्पित मन्तव्यों का समीक्षण करते हैं।

इति तर्क निरीक्षणंनाम चतुर्थः समुल्लासः समाप्तः

ओ३म्

अथ पौराणिकमन्तव्यनिरासोनाम पञ्चमःसमुल्लासः प्रारभ्यते ।

(१) ईश्वर, जिसके अनन्त नाम हैं वह निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, निराकार साकार है। अनेकविध अवतार धारण करता है सच्चिदानन्दरूप, तर्करहित, उसकी महिमा वेदादिशास्त्रों से जानी जाती है, इसका भेद मनुष्य नहीं जान सक्ते ॥

समीक्षा—इस प्रथम मन्तव्य में ईश्वर को निराकार और साकार माना है, यह कथन वेद, शास्त्र और तर्क से सर्वथा विरुद्ध है"**सर्वे निमेषाजज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि नैनामूर्द्धन्नतिर्यञ्चन मध्ये परि जग्रभत्** ॥ य० ३२ । २ इत्यादि वेद विरुद्ध है "**न स्थानतोऽप्यस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि**" ३ । २ । ११ वेदान्त सूत्र। किसी स्थान में प्राप्त होने से परमात्मा **साकार निराकार दो विरुद्ध धर्मों वाला नहीं हो सक्ता** इत्यादि शास्त्र विरुद्ध है, यह हम मिथ्यार्थसमीक्षण में दिखला आए हैं कि एक ब्रह्म स्थिति गति के सम विरुद्ध धर्म्म वाला नहीं हो सक्ता इसी आशय से स्वामी शङ्कर ने ब्रह्म के जगदाकार रूप को कल्पित माना है। जब एवं सब आचार्य्य अपने२ मत के मन्तव्यों का परिशोधन करगए हैं तब यह आधुनिक धर्मावलम्बी क्यों चुप हैं? जो यह नहीं बतलाते कि निराकार और साकार रूप में से परमार्थ कौन है?

आगे लिखा है कि अनेक विध अवतार धारण करता है।

समीक्षा–फिर अवतार धारण से प्रथम तो निराकार ही हुआ, अवतारधारण का निषेध हम पूर्ण रीति से चतुर्थसमुल्लास में कर आए हैं और जो यह लिखा है कि उसका भेद मनुष्य नहीं जानता तो आपतो जानते हैं? जो ईश्वर के नानाविध अवतार धारण की शक्ति का भेद वर्णन करते हैं इस हिसाब आप को क्या समझें ॥ १

(२) वेदमंत्र और ब्राह्मण दोनों भागों का नाम वेद है। दोनों अंगअंगी होने से निर्भ्रान्त प्रमाण हैं क्योंकि इन ग्रंथों में से एक अलग करें तो यह भाग कहे जाते हैं, जैसे "मत्र भाग" "ब्राह्मणभाग" इस कारण दोनों का नाम वेद है। दोनों ही स्वतः प्रमाण हैं॥

समीक्षा—वेद और ब्राह्मण दोनों स्वतः प्रामण हैं। यह वेद विषय में पौराणिक मन्तव्य है, यहां प्रष्टव्य यह है कि वेदों की इयत्ता तो चारों संहिताओं के ग्रन्थन से सर्व सम्मत है एवं उचित था कि आप ब्राह्मणों की इयत्ता भी बतलाते, पर सो क्यों ? आपको तो भविष्य पुराण के सम वेदों का बढ़ना ही इष्ट है अन्यथा गणेशोपनिषदादि सब अल्लम गल्लम कैसे वेदसिद्ध हो सकता था। पर यहां यह स्मरण रखने की बात है कि जब आप इस श्वेताश्वतरोपनिषद् के वचन से " **यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोतितस्मै**" यह मानते हैं कि प्रथम ईश्वर से ब्रह्माजी को ही वेद मिले थे तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थ भी उसी समय ब्रह्मा जी को मिले? क्योंकि आप के मत में तो उक्त ग्रंथ भी वेद हैं यदि स्वीकार करो कि उसी समय सब ब्राह्मण ग्रंथ भी वेद होने से ब्रह्माजी को मिले तो फिर आदि सृष्टि में जनकादिकों की कथाएं तुम्हारे माने हुए ब्राह्मण ग्रंथरूप

वेदों में कौन लिख गया ? यदि यह उत्तर दिया जाय कि भविष्यत् का ध्यान धर के भविष्य पुराण के सम लिखी गई तो एवं संहिता में भविष्यत् का ध्यान धर के लिखी जातीं तो आप के मन्तव्यों में हेरा फेरी कर के राम कृष्ण जो शब्द वेदों में सायणादिकों के मत में अन्धेरे वा कालेपन के लिये आए हैं उनके अर्थ परिवर्तन करने की आपको आवश्यकता न रहती, और नहीं रामतापनी आदि उपनिषदें बनाकर रामावतार वेद में प्रवेश करना पड़ता, और" **यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्**" यह लेख तुम्हारे मत में ब्रह्मा पर वेद प्रकट होना सिद्ध नहीं करता क्योंकि ब्रह्मा से उक्त वाक्य में तात्पर्य्य हिरण्यगर्भ का है जो पौराणिक परिभाषा में छोटा ईश्वर है, और ब्रह्मा विष्णु महेश इस मूर्त्तित्रय से भिन्न है, जिस को सूत्रात्मा भी कहते हैं उस का सूक्ष्म प्रकृति ही शरीर है और कोई भिन्न शरीर नहीं। देखो शङ्करभाष्य पृ० ३४१ "**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । इति च श्रुतेः । या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परमापरप्रतिष्ठा । सेह महानात्मेत्युच्यते**" अर्थ— जो हिरण्यगर्भ की बुद्धि है वह सब बुद्धियों से बड़ी है उसका "**बुद्धेरात्मा महान् परः**„ इस वाक्य में कथन है इस प्रकार यहां शरीरी ब्रह्मा की बुद्धि का कथन नहीं किन्तु हिरण्यगर्भ की बुद्धि का कथन है एवं शङ्कराचार्य्य ने भी उक्त उपनिषद् वाक्य के अर्थ ब्रह्मा पर उतरने के नहीं माने, उक्त वाक्य के वास्तव में यही अर्थ हैं कि जिस परमात्मा ने इस ब्रह्माण्ड को पैदा किया और जिसने ब्रह्माण्ड के मनुष्यों को वेदोंका ज्ञान दिया फिर इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद देना कैसे सिद्ध हो सकता है? ।

और वादी ने भी "**हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्**" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मा के अर्थ हिरण्यगर्भ के स्वीकार किये हैं । फिर चतुर्मुख ब्रह्मा चार वेद वक्ता कहां रहा, एवं मीमांसा करने से दूसरा मन्तव्य वादी का सर्वथा असङ्गत है ॥

(३) धर्म, जिसकी वेदादि शास्त्रों में विधि है वह धर्म, और जिसका निषेध है वह अधर्म है और जो मनुष्यों ने अपनी ओर से कल्पना कर लिया है वह धर्म नहीं ॥

समीक्षा—जिसकी वेदादि शास्त्र में विधि है उसको आप ने धर्म कहा है, यहां परीक्षणीय यह है कि स्वतः प्रमाण तो आप केवल वेद ब्राह्मण को ही मानते हैं फिर वेदादि शास्त्र कथन की क्या आवश्यकता थी ? क्या आपको वेद और ब्राह्मण दोनों मिला कर इतना महदाकार वेद बनाकर भी उस शास्त्र की आवश्यकता बनीही रही ? जिसमें आपकी मूर्त्तिपूजादि धर्मों की विधि हो "जिसकी वेदादि शास्त्रों में विधि हो वह धर्म है" यह धर्म का लक्षण करके तो यह स्पष्ट कर दिया कि वेदों में आपके मूर्त्तिपूजादि धर्मों की विधि नहीं "**कुर्य्यात्, क्रियेत्, कर्त्तव्यं, भवेत्, स्यादिति पञ्चमञ्**" ऐसा करें, करा जाय, करना चाहिये, "**एवं भवेत्**"यह ऐसे हो, स्यात्, हो इस प्रकार के विधान जिसमें पाये जायं उसको विधि कहते हैं, ऐसे विधान मूर्त्तिपूजा विषय में आपको वेद में नहीं मिलते, इसी लिये धर्म के लक्षण **वेदादिशास्त्रप्रतिपाद्यो धर्म्मः** यह कथन करना पड़ा ॥

(४) जीव, जो कर्मबन्धन से युक्त है, वह जीव कर्म बन्धन छूटने से आत्मा की जीव संज्ञा नहीं रहती ।

समीक्षा—यदि कर्मबन्धन छूटने से आत्माकी जीव संज्ञा नहीं रहती तो "**अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपे व्याकर-**

वाणि" इस उपनिषद् में आत्मा को जीव क्यों कहागया है और आपके मन्तव्य में यह उस समय का वाक्य है जब शुद्ध ब्रह्म का प्रवेश माना गया है, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि जीवरूप से ब्रह्मही प्रवेश हुआ, और इसी हेतु से जीव को ब्रह्मस्वरूप बतलाया जाता है। इसी सिद्धान्त की छाया लेकर आपने भी जीव को ब्रह्म बनाया है फिर बतलाएं कि प्रवेशावस्था में शुद्धात्मा को सर्वथा कर्मबन्धनरहित को जीव क्यों कथन किया गया ? यदि इस बात में सन्देह हो कि शुद्धात्मा की जीव संज्ञा स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने नहीं मानी तो देखो शङ्करभाष्य पृ० ३६२-१।४।२२ भाष्य "**अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि, विज्ञानात्मभावेनावस्थादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति, काशकृत्स्नाचार्य्यो मन्यते तथा च ब्राह्मणम्, अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीत्येवं जातीयकम्**" अर्थ-इसी परमात्मा की ही जीवरूप से स्थिति पाई जाने से जीव ब्रह्म का अभेद कथन करना सिद्ध है इस अर्थ में "**अनेन जीवनानु प्रविश्य**" यह ब्राह्मण प्रमाण दिया है कि परमात्मा ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। यदि यह कहाजाय कि यह तो एक आचार्य्य का मत है। इसका उत्तर यह है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इसी मत को श्रुत्यनुसारी माना है "**तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति**" अब बोलिये आपके मत में शुद्धात्मा की यदि जीव संज्ञा न थी तो जिसको आप इस छठे मन्तव्य में मानते हैं कि अनादि पदार्थ एक ही है तो उस समय शुद्ध से भिन्न जीव कौन से खज़ाने से निकाला ?

(५) जब यथार्थ ज्ञान होता है तब जीव ईश्वरका भेद मिट जाता है ॥

समीक्षा--जब यथार्थ ज्ञान से जीव ईश्वर का भेद मिट जाता है।

तो सारांश यह निकला कि आप भेद को अज्ञानकृत मानते हैं, परिणाम यह हुआ कि अयथार्थ ज्ञान से भेद की कल्पना हुई थी सो यथार्थ ज्ञान से मिट गई तो पहिले अयथार्थ ज्ञान आपके एक ब्रह्म में कहां से आया ? और दूसरी बात यह है कि भेद मिथ्या है इसका कोई भी प्रमाण सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र में नहीं ॥

(६) अनादि एक ईश्वर है उसके अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् प्रकृति सहित उत्पन्न होता है ॥

समीक्षा—इसमें जो वादी ने एक ब्रह्म को ही अनादि माना है यह "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० २० इत्यादि वेद मंत्र से विरुद्ध है। इस विषय में गीता का विरोध हम पूर्व भी लिख चुके हैं और इस षष्ठ मन्तव्य में वादी ने जीवात्मा की उत्पत्ति मानकर स्वमन्तव्य को शास्त्रमर्य्यादा से सर्वथा बाहर कर दिया। देखो आत्माधिकरण वेदान्त सू० २ । ३ । १८। इस सूत्र में जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं मानी, इसमें यह सिद्ध किया है कि श्रुतियों में जीवात्मा अजन्मा माना गया है "**अजोनित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः**" इत्यादि उपनिषद्वचनों में जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध किया है। इस अर्थ को गीता में इसी प्रकार ग्रन्थन किया है। स्वामी शङ्कराचार्य्य स्वामी रामानुजाचर्य्य भी यहां यही मानते हैं कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता , फिर क्या जाने इस नए फ़िलासोफ़र सनातन धर्मी ने जीवात्मा की उत्पत्ति कहां से निकाली ?॥

(७) सृष्टि, जो ईश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से रचता है वही उसकी सृष्टि है और वह सृष्टि विविध प्रकार के द्रव्यों का मेल कर्मों का मेल

ईश्वर की रचना का चमत्कार है। इन सबका कर्त्ता ईश्वर है इस कारण यह सृष्टि सकर्तृक कही जाती है ॥

समीक्षा—इस सातवें मन्तव्य में जो वादी ने सृष्टि का लक्षण किया है सो हमें स्वीकार है। हमें पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के सम यह पक्षपात नहीं कि सत्य को भी असत्य ही कहें जैसे इन्हों ने आर्य्य समाज के नियम समीक्षा में किया है "संसार की उन्नति करना आर्य्य समाज का मुख्य उद्देश है" इसकी समीक्षा में आप यों कहते हैं कि आप ने तो ईश्वर को सर्वाधार सर्वेश्वर जान उपासना की है। फिर संसारकी उन्नति में हस्ताक्षेप करना उपास्य की बराबरी करना है। धन्य है! समीक्षक और अपूर्व है यह समीक्षा! क्या समीक्षक अल्पेश्वर जानकर उपासना किया करता है जो उसे पुस्तकादि लिख कर संसारोन्नति वा स्वधर्मोन्नति करनी पडती है ?। हम तो यहां यह कहेंगे कि आर्य्य-समाज के प्रकाश से समीक्षक को ऐसी बातें सूझी तो पुस्तक लिखकर अपना तथा देश का उद्धार समझा, वरन अपने कलियुगी अवतार निष्कलङ्क के शिर सब बोझ देकर समीक्षक सो रहता ॥

(८) बन्धन, कर्मों के विद्यमान रहने से होता है चाहे अच्छे हों या बुरे क्योंकि दोनों का फल पराधीन हो भोगना पड़ता है ॥

समीक्षा—जब आप कर्मों के विद्यमान होने से ही बन्धन मानते हैं तो वह कर्म्म बन्धन के हेतु कहां से आये? आप तो अपने छठे मन्तव्य में एक ब्रह्म ही अनादि मान आये हैं ॥

(९) मुक्ति, सम्पूर्ण कर्म्म और वासनाओं के क्षय होने से मुक्ति होती है, जिसको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

समीक्षा—"वासनाओं के क्षय होने से मुक्ति होती है" यह क्या यहां आकर अपने मन्तव्य से क्यों पतित होते हो? तुम्हारे मत में तो

भेद ज्ञान निवृत्ति से मुक्ति होनी चाहिये, जैसा पांचवें मन्तव्य में मान आये हो। यदि वासना के क्षय से मुक्ति मानोगे तो वासना तो कर्म्म से क्षय होती है और कर्म्म जन्य मुक्ति मानोगे तो नित्य न रहेगी, फिर समझ सोच कर कहो। वासनाक्षय से मुक्ति मानना समुच्चयवादी का मत है, तुम्हारा नहीं। दार्शनिक बातों में बिना सोचे समझे बढ़ना तुम्हारे लिये ठीक नहीं, यह मूर्त्तिपूजादि खण्डन की समीक्षा नहीं जो अन्धाधुन्द ही लिख मारें।

(१०) मुक्ति के साधन, वेदान्त विचार, उपासना, ध्यान योगाभ्यासादि।

समीक्षा—मुक्ति के साधनों में तो वादी ने अपने आधुनिक वेदान्त मार्ग को सर्वथा ही परित्याग कर दिया, जो उपासना, ध्यान, योगाभ्यासादिकों को ही मुक्ति का साधन मान लिया। यदि यह कहा जाय कि अंतरङ्ग साधन वेदान्तविचार मानलेंगे, वह भी तो हम लिख आये हैं। यही तो हम कहते हैं कि वादी को इस विषय की सूझी नहीं, अभेदज्ञान से मुक्ति मानने वालों के मत में श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि वेदान्त विचार भी बहिरङ्ग साधन हैं। अन्तरङ्ग तो "**अहं ब्रह्मास्मि**" इत्याकारक अपरोक्ष ब्रह्मात्मक ज्ञान ही है। वह ज्ञान पापक्षय से होता है, एवं परंपरा से कर्म भी अभेदवादियों के मत में मुक्ति का मुख्य साधन जो अभेदज्ञान उसकी उत्पत्ति में सहायक हैं, एवं योगाभ्यासादि कर्म्म मुक्ति के साक्षात् साधन नहीं, यह सिद्धान्त है। फिर यहां में "ब्रह्म हूं" इतना बड़ा ज्ञान क्यों छिपा लिया? और योगाभ्यासादिकों का लालच क्यों दिया? किसका डर था? साफ़ कहना था कि हमारी मुक्ति कोई साध्य वस्तु नहीं, नित्य प्राप्त है, दुराचारी से दुराचारी को भी प्राप्त है, केवल अप्राप्ति की भूल है। हाथ के कंकणके सम केवल भूल दूर करनी है वह भूल ज्ञान से दूर होती है, कर्म से

कदापि नहीं । देखो शङ्करभाष्य चतुःसूत्री । फिर अपने आचार्यों से विमुख होकर मुक्ति में भक्त क्यों बनते हो, ज्ञानी क्यों नहीं बनते? ॥

११ और १२ मन्तव्य ठीक हैं ॥

(१३) वर्ण, जन्म से होता है कर्म से नहीं ।

समीक्षा—इस में वादी ने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि जन्म में क्षेत्र प्रधान माना जायगा वा वीर्य्य ? यदि क्षेत्र प्रधान होने से वर्णव्यवस्था स्थिर की जाय तो अष्टादश पुराण के कर्त्ता आप के व्यासजी क्या माने जावेंगे? ।

यदि वीर्य्य से जन्म माना जाय तो पाण्डु धृतराष्ट्रादि क्षत्रिय कैसे ? इस मन्तव्य से व्यवस्था स्थिर रखनी हो तो महाभारत को जलाञ्जलि दो, जिसमें सहस्रों आदमी ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय हुए* एवं स-

---

*एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥
आ० प० अ० १०४ श्लो० ५

अर्थ----इस प्रकार जब परशुराम ने भारतवर्ष को क्षत्रिय रहित कर दिया फिर वेदवेत्ता ब्राह्मणों ने नियोग से क्षत्रिय पैदा किये । इस से यह पाया जाता है कि ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय पैदा हुए फिर जन्म से वर्णव्यवस्था कैसे स्थिर रही? यदि यह माना जाय कि क्षेत्र प्रधान वर्णव्यवस्था है तो व्यासादिक ब्राह्मण कैसे रहे क्योंकि वहां तो वीर्य्य के प्रधानत्व से ही ब्राह्मणत्व स्थापन किया जाता है । सार यह है कि इस प्रकार समीक्षा करने से वीर्य्य तथा क्षेत्र दोनों प्रकार से पौराणिकों की वर्णव्यवस्था ठीक नहीं रहती । क्योंकि इस बात की कलई पुराणों में भले प्रकार खोलदी गई है कि सैकड़ों शूद्र जाति की स्त्रियों में ब्राह्मणों के वीर्य्य से ब्राह्मण हुए हैं और सहस्रों क्षत्रिय जाति की स्त्रियों में ब्राह्मणों के वीर्य्य से क्षत्रिय हुए हैं ॥

इसों आप के माने हुए देशाभाव से भी ब्राह्मण हुए। अब कोई नया शास्त्र बनाओ तो काम चलेगा अन्यथा नहीं ॥

(१४) देवता, मनुष्यभिन्न देवलोकादि में रहने वाले हैं और असुर राक्षस पिशाच भी पृथक् जाति हैं।

समीक्षा — यदि देवता आपके देवलोक में ही रहते हैं तो आप के परमेश्वर ने उनकी रक्षा के लिये कै एक मनुष्य अवतार क्यों धारण किये ? उस देवलोक में देव योनि में ही अवतार लेना था फिर भारत में अवतार का क्या काम था ? यहां तो " **द्वौभूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैवआसुर एव च** " १६ । ६ इत्यादि गीता के श्लोकों को भूल गए जिन में इस लोक में देव और असुर दो प्रकार की सृष्टि कृष्णजी ने मनुष्यों में मानी है और आपने देवताओं को देव-लोक में ही माना। अस्तु, गीता की दैवी आसुरी सृष्टि को जाने दो, पर यह तो बतलाया होता कि देवासुर दो प्रकार की सृ-ष्टि में से मनुष्य कौन सृष्टि हुई ? । आप तो अग्निर्देवता इत्यादि के मानने वाले हैं फिर आप के देवता देव लोक में कैसे? लो इसे भी जाने दो, अग्नि देव लोक का पदार्थ ही सही, पर यह पृथिवी जिस पर आप दिन रात पैर रखते हैं, आप के मत में यह तो जीता जाग-ता देवता है, विपत्ति पड़ने पर गोरूप धारण कर परमेश्वर के पास जाती है, आवश्यकता पड़ने पर वराह भगवान् जी से वराह पुराण द्वा-रा वर्णाश्रम धर्म्म श्रवण करती है। यदि इस को भी आप ने कहीं अ-पनी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिये देवलोक में भेज दिया तो फिर वराहावतार की आवश्यकता आन पड़ेगी और जहां २ देवासुर संग्राम होता रहा है वहां २ मानव सृष्टि के लोगों की गणना पाई जाती है। जैसे

विश्वामित्र भरद्वाजादि, तो क्या ये देवता न थे ? और असुर के अर्थ तौ यही हैं कि जो " सुर " देव न हो, फिर आप ने असुर अलौकिक जाति कहां से घड़ली ! यदि यह किसी समय में दोनों जाति विशेष ही थीं तो अब किस के डर से भारतवर्ष त्याग गईं, इतने पक्षपाती क्यों बनते हो? जो सब जगह स्वामी से उलटा मानना ही इष्ट मानते हो, देखो उपनिषद् प्रमाण, " **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव**" यदि देवता देवलोक में ही थे तो यहां माता आदिकों को "देव" क्यों माना गया ? ॥

(१५) पूजा—देवता, अतिथि, माता, पिता और ईश्वर की करनी योग्य है ईश्वर और देवताओं की पूजा मूर्त्तियों में करनी योग्य है ॥

समीक्षा—भला इस में इतना तो माना कि माता पिता और अतिथि की भी पूजा होती है जो यह कहा कि देवता और ईश्वर की पूजा मूर्ति में ही करनी योग्य है। अस्तु, इसी योग्यता से चलें, पर इसका क्या कीजियेगा जो आठ वसुओं में अमूर्त्त देव हैं उन की पूजा कैसे हो सकेगी? और जो अमूर्त्त ब्रह्मरूप से वायु और अन्तरिक्ष दो देवता अमूर्त्त माने गए हैं उन की उपासना कैसे होगी ? और तुम्हारे इस मूर्तिपूजक धर्म में यह भी दोष आवेगा कि "**आत्मा वारे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" इत्यादि ईश्वरोपासना पूजा न कहलायेगी क्योंकि उक्तवाक्यबोधितोपासना किसी ईश्वराचार्य्य के मत में भी मूर्त्ति में नहीं की जाती ॥

और आत्मत्वोपासनाधिकरण में जो अन्य देवताओं की उपासना का निषेध किया गया है जैसे " **अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योसौऽन्योहमिति न स वेद** " इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मभिन्न देवताओं की उपासना का निषेध कर आत्मोपासना अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना भी तुम्हारे मत में उपासना

न कहलावेगी। बहुत क्या? यदि मूर्ति में ही उपासना को आप ईश्वर उपासना तथा ईश्वर पूजा मानेंगे तो सब आध्यात्मिक शास्त्र का परित्याग करना पड़ेगा।

(१६) पुराण, वे ग्रन्थ हैं जो ऐतरेय, शतपथ, इतिहास, कल्प, गाथा, आदि से भिन्न हैं और प्राचीन हैं, जिन्हें व्यास जी ने संग्रह कर भागवतादि नाम से प्रसिद्ध किया है।

समीक्षा— इस में जो पुराण ग्रन्थ शतपथादि से भिन्न व्यास निर्म्मित भागवतादिकों को ही पुराण माना है तो जो शतपथ में पुराण शब्द आया है जैसे "**इतिहासपुराणसूत्राणि**" इत्यादि यहां पुराण शब्द क्यों आया? क्योंकि व्यासकृत पुराणों का तो उस समय जन्म ही नहीं हुआ था। हम तो यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि आप के भागवत पुराण का नाम शङ्कर भाष्य में भी नहीं आया, जहां भगवद्गीता और महाभारतादिकों का नाम अनेक वार आया है। फिर धन्य है आप की लीला, जो उन्हें प्राचीन ग्रंथ कहते हैं, जिनका जन्म शङ्कर के समय भी * न था॥

(१७) तीर्थ, गंगादि नदी, पुष्करराजादि सरोवर तथा काशी स्थानादि जिन के दर्शन से पाप दूर होते हैं।

समीक्षा-- इसमें आपने तीर्थ जल स्थलादि स्थान विशेष को माना है, फिर उनके दर्शन से पापनिवृत्ति मानी है, परन्तु इसी का खण्डन आपके भागवत पुराण में है कि "**नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः**" जलमय तीर्थ नहीं, न देवता मिट्टी और

*यदि शङ्कर के समय आप का श्रीमद्भागवत होता तो गीता के सम अद्वैतासिद्धि के लिये शंकर अवश्य सहस्रवार उस के वाक्य उद्धृत करते॥

शिलाओं के हैं और यह बहुत देर में पवित्र करते हैं और साधुलोग दर्शन मात्र से पवित्र कर देते हैं। यहां तो साधुओं के दर्शनों से पापनिवृत्ति मानी है तीर्थों से नहीं। यदि यहां वादी यह कहे कि उन से भी तो पापनिवृत्ति मानी है फिर उनमें तीर्थत्व धर्म क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि आपका पुराण ही यह कहता है कि " **नह्यम्ममयानि तीर्थानि**" पानी के तीर्थ नहीं, फिर हम क्या कहें ॥

(१८) प्रारब्ध और पुरुषार्थ में प्रारब्ध मुख्य है, प्रारब्ध पुरुषार्थ से सिद्ध होता है ॥

समीक्षा-यदि यहां मुख्य से अभिप्राय अवश्य भोक्तव्य का है तो परीक्षणीय नहीं, वरन "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः**" इस वेद मंत्र से विरुद्ध है। इस मंत्र में पुरुषार्थ को ही मुख्य माना है ॥

(१९) संस्कार, जन्म से लेकर मरण पर्यन्त १६ हैं। यह कर्त्तव्य हैं और मृतकों के लिये दान श्राद्धादि करना प्रबल वैदिक सिद्धान्त है।

समीक्षा-संस्कार १६ वादी को मन्तव्य हैं फिर यह जो कहा कि "मृतकों के लिये दान श्राद्धादि करना प्रबल वैदिक सिद्धान्त है," यह कौनसे संस्कार में आया? मनु ने तो आप के इस श्राद्धकर्म को पितृयज्ञ के नाम से लिखा है जिसका उल्लेख नित्य कर्म्मों में है, फिर सोलह संस्कारों में आपने कैसे लिख मारा ? ।

(२०) यज्ञ, अश्वमेधादि राजों को कर्तव्य हैं, ब्रह्म विचारशील ब्राह्मणों को ब्रह्मयज्ञ कर्त्तव्य है, जिसकी विधि मीमांसा शास्त्र में लिखी है ॥

समीक्षा—ब्रह्मयज्ञ की विधि जहां मीमांसा शास्त्र में लिखी है वहां का पता तो देना था। क्या स्वामी दयानन्द जी की बातों ने हृदय भेदन

कर दिया जो ब्रह्मविचारशील ब्राह्मणों के लिये केवल आप ब्रह्मयज्ञ ही मानते हो। आपके मत में पशुमेधादि यज्ञ जो कराए जाते हैं क्या अब उनमें ब्रह्मविचारशील ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं रही? जो सारा बोझ राजाओं के शिर धर किनारे हो गए? क्या अब आप के अश्वमेधादिकों में जहां असंख्यात पशुओं का वध है उनकी विधि आपके ब्रह्मविचारशील बतलावेंगे अथवा "**नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौ वर्ज्यौ द्विजातिभिः**" ब्रह्मपुराण॥ अर्थ-नरमेध और अश्वमेध कलियुगमें द्विजाति न करें और मद्यपान भी न करे, इस निषेध से डरकर कलियुगी बन मीमांसा के मनमाने ब्रह्मयज्ञ का ओर झुक पड़े यज्ञ की परिभाषा में घबराते क्यों हो! तुम तो ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद मानते हो, पं० भीमसेन के सम भूत भविष्यत् वर्त्तमानी तो नहीं हो, तुम उक्त तीनों कालों में तीन रङ्ग बदलने वाले तो नहीं और न उक्त पं० जी के सम ब्राह्मणों का पशुवध बोधक भाग छोड़कर दूसरे को वेद मानने वाले हो? किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के अनन्य भक्त हो। फिर अश्वमेधादि राजाओं का कर्त्तव्य कह कर ही क्यों भाग चले! अभी तो उस भाग का अधिकारत्व आप का शेष है जिस में यज्ञ शेष के हिस्से बांटने लिखे हैं॥

२१—२२ मन्तव्य में कोई विशेषता नहीं।

(२३) शिष्टाचार व सदाचार जो वृद्धों से चला आता है वह वेदानुसार ही है।

समीक्षा—वृद्धों से चला आने वाला यदि सदाचार स्वीकृत है तो नियोग तो वृद्धों से ही चला आता है फिर अस्वीकार क्यों?।

(२४) प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण हैं।

समीक्षा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों के मानने वाले आपने असम्भव बातों के भण्डार पुराणों को कैसे माना? जिन में मच्छ के

सींग के साथ पृथ्वी बांध कर प्रलयकालीन रक्षा लिखी है यहां आप का सम्भव प्रमाण किस काम आया ! अथवा आठ की संख्या पूरी करने के लिये ही लिखा था ।

(२५) आप्त, उस को कहते हैं जिस के वाक्य में कभी सन्देह न हो, सदा निश्चित यथार्थ बोले, जिसे अपने वाक्य का बदल न करना पड़े ।

समीक्षा-यदि अपने वाक्य के न बदलने से ही आप्त बनता है तो बहुत दाम्भिक है, जो स्ववाक्य नहीं बदलते और जिसके वाक्य में कभी सन्देह नहो ऐसा कौन वाक्य और कौन आप्त है? आप कह सक्के हैं जिस वाक्य में किसी को सन्देह नहो? पहले स्वमन्तव्य ही देखो, शङ्करवाक्य में रामानुज को सन्देह इस प्रकार शङ्कर आप्त न रहे, रामानुजवाक्यमें शङ्कराचार्य्य के शिष्यों को सन्देह एवं यह आप्त न रहे, आप के वाक्यों में हमें सन्देह तो आप आप्त न रहे।यदि सन्देह करने से आप्तत्व जाता है तो आपके बहुत आप्त उड़ जावेंगे, कपिल, कणाद, पतञ्जलि वाक्यों में शङ्कराचार्य्य को सन्देह ही नहीं प्रत्युत वेदविरुद्ध मानकर उक्त स्वामी उन का खण्डन करते हैं फिर कपिलादि आप्त कैसे रहे ? यदि यह अभिप्रेत है कि यथार्थ ज्ञाता स्ववाक्य में सन्देह न करने वाला स्ववाक्य बदलने वाला, आप्त है तो यथार्थ ज्ञाता कथन करने से ही सन्देह का अभाव कह दिया, फिर सन्देह के अभाव को लक्षण में निवेश क्यों ? और वाक्य तौ दुराग्रही और दाम्भिकभी नहीं बदलते । यह हम कह आए हैं फिर आप्तका लक्षण क्या रहा ? ।

(२६) पांचप्रकार के वाक्यों से परीक्षा होती है प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण निगम उपनयन, इन्हीं से सबकुछ निश्चय हो जाता है और

वह वाक्य हेत्वाभास रहित विध्यनुसार शास्त्रयुक्त हो।

समीक्षा—परीक्षा लक्षण में तो वादी ऐसा परीक्षित हुआ है कि स्वसिद्धान्त भी छोड़ बैठा, जब उक्त पांच प्रकार के वाक्य से परीक्षा वादी को अभिमत है तो शब्द प्रमाण छोड़ बैठा, क्योंकि शब्द प्रमाण की परीक्षा प्रतिज्ञादि पञ्चावयवों से नहीं की जाती। वह वाक्य शास्त्र युक्त हो। इसके कुछ भी अर्थ नहीं, जब यह पञ्चावयव जो न्याय शास्त्र में माने हैं इन को घटा देगा तो वह शास्त्र युक्त ही होगा, पर ऐसे वाक्य से वेद की परीक्षा आस्तिक लोग नहीं मानते, यहां आकर तो वादी ने संहिता ब्राह्मण दोनों के स्वतस्त्व को परतस्त्व करदिया, और केवल न्यायशास्त्रोक्त पञ्चावयवोपपन्न वाक्य ही स्वतः प्रमाण माना॥

(२७) स्वतन्त्र ईश्वर सदा सब काल में स्वतन्त्र है विपरीत ज्ञान रहित सर्वसामर्थ्य युक्त है, जीव सदा सब काल में परन्तत्र है।

समीक्षा—वादी ने जीव को सर्वथा परतन्त्र माना है व्यास सू० २। ३। ४१ के विरोध का भी विचार नहीं किया कि इस सूत्र में तो जीव की स्वकर्म्म में स्वतन्त्रता मानी गई है इसी कारण पाप पुण्य कर्त्ता जीव कहलाता है पर यह विचार कैसे? यहां तो स्वामी दयानन्दजी की बातों से सर्वथा उलटा चलना ही इष्ट है, चाहें वे बातें सर्वतन्त्रसिद्ध ही क्यों न हों।

शास्त्र का विचार तो तब हो जब इतना ज्ञान हो, पर वादी ने तो यहां यह भी नहीं सोचा कि मैं जो स्वंभूमिका पृ० २ में भारत को आलस्य भण्डार कह आया हूं, स्वामी दयानन्द पर एक नया मत चलाने का दोष लगा आया हूं, वह क्यों? जब जीव परतन्त्र है तो बिचारे भारत के आलस्यग्रस्त होने में दोष क्या? एवं स्वामी ने भी

ईश्वराज्ञा से ही प्रचार किया है फिर उनपर रुष्टता क्या ? ॥

(२८) स्वर्ग पृथ्वी के ऊपर लोकविशेष है ॥

समीक्षा-चौरासी सहस्र योजन ऊंचाई वाले सुवर्ण के मेरु पर्वत के शिखर पर स्वर्ग है एवं पौराणिकों ने तो स्वर्ग लोक की बहुत वि-शेषताएं वर्णन की हैं वादी तो केवल लोक विशेष कह कर ही रह गया क्यों रहे, सनातन समय में सनातनियों का स्वर्ग स्वर्ण का न था। एक समय स्वर्ग में अप्सराओं का नाच हो रहा था उसको देखकर अग्नि देवता का वीर्यपात हो गया लज्जा के मारे अग्नि ने स्ववस्त्र में ही ढक लिया, जब वस्त्र झाड़ डाला तो बीच से गिर पड़ा गिरते ही स्वर्ण होगया और पड़ा पड़ा बढ़ गया। उससे फिर सुमेरु पहाड़ बना जिस पर अब का आधुनिक स्वर्ग है। यह ब्रह्मवैवर्त्त पु-राण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड १३१ । ३२ । ३७ में है। अब ऐसे स्वर्ग के विशेष वर्णन में चुप न रहें तो और क्या करें ? ॥

(२९) नरक, स्थान विशेष जिस में केवल दुःख ही होता है, यमराज की यातना भोगनी पड़ती है।

समीक्षा—नरक केवल दुःख स्थान ही है और वहां का राजा यम है। यह अनृत कथा नासिकेत के अनुकूल मानने वाला वादी कठोपनिषद्कार का क्या उत्तर देगा कि यदि वहां दुःख ही दुःख था तो नाचिकेता को यह दुःख वहां क्यों नहीं हुआ? यदि कहा जाय कि नचिकेता वहां गया ही नहीं, यह केवल अलङ्कार मात्र है तो आपका नरक लोक विशेष है यह अलङ्कार मात्र क्यों नहीं ? वादी के मन्तव्य ग्रन्थों में भी कर्म्मों का फल रूप नरक इसी लोक में वर्णन किया गया है। देखो गीता—**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाश-नमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं**

त्यजेत्" काम क्रोध लोभात्मक यह तीनों प्रकार का नरक का दरवाजा है, इस से तो यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य के कर्म्मों से यहां ही नरक स्वर्ग है। यदि वादी यह कहे कि यह गीता का श्लोक उपचार से नरक कहता है मुख्य नरक लोक विशेष ही है तो हम यहां यह पूछेंगे कि गीता उपचार है तो क्या वह पुराणों का नरक कौन सत्य का भण्डार है जिस में गरुड़ पुराण की असम्भव गप्पें ही हैं ? ॥

(३०) मन्तव्य कोई विशेष समीक्षणीय नहीं ॥

(३१) नियोग करना वेदाज्ञा नहीं, स्त्रियों को एक पति के विना दूसरा पति कभी कर्तव्य नहीं ।

समीक्षा—यदि नियोग वेदाज्ञा न होती तो महर्षि व्यास जी जैसे सदाचारी क्यों करते।देखो महाभारत आदिपर्व*यहां कहां मुख

---

* **इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।**
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ? ॥
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो ! धर्मंकर्त्तुमिहार्हसि ॥
आदि प० अ० १०३ श्लो० ९।१०

अर्थ- सत्यवती ने भीष्म पितामह को यह कहा कि हे भीष्म ! ये दोनों रानियें आपके विचित्रवीर्य्य भाई की हैं और काशिराज की कन्यायें हैं। रूप यौवन से सम्पन्न हैं और पुत्र की कामनावाली हैं। हमारे कुल की वृद्धि के लिये इन में तुम सन्तान पैदा करो, मेरी आज्ञा से तुम इस धर्म को करो।

विचित्रवीर्य्य के मर जाने पर सत्यवती ने भीष्मपितामह को यह उपदेश किया और इस नियोग की प्रणाली को धर्म कहा। इस प्रकरण में सहस्रों श्लोक हैं जिन में नियोग का विधान है ॥

छिपाओगे? यहां तो बहुत स्पष्ट रीति से लिखा हुआ है। एक महाभारत क्या देखो याज्ञवल्क्य और मनु ॥

यहां केवल स्वामी दयानन्द जी को बुरा भला कहने से काम कदापि नहीं चलेगा, यहां शास्त्रमर्य्यादा से चलना होगा, केवल मन माने ग्रंथ रचकर नियोग का वियोग आप स्वमन्तव्य पुस्तकों से कदापि नहीं दिखला सक्ते।

३२, ३३ में कुछ विशेष नहीं॥

(३४) उपासना, मूर्ति में ईश्वर का अर्चन वन्दन करना, यही उपासना कहाती है।

वाह रे पक्षपात!! पक्षपात होतो ऐसाही हो कि वेदशास्त्रोपनिषद् सब एक ओर हों सो हों पर आपको दूसरी ओर ही पक्षपात का पक्षी होकर उड़ना चाहिये, एवं वादी इस स्वसिद्धान्त में इतना आग्रह कर के कहता है कि "**मूर्ति में ईश्वर का अर्चन वन्दन करना यही उपासना कहाती है**" फिर आगे जाकर मन्तव्य ३५ में प्रार्थना और स्तुति निर्गुण की भी मानी है पर कब सम्भव था कि आग्रह को छोड़कर उपासना भी निर्गुण सगुण दोनों प्रकार की मान लेते। अस्तु, मानते वा न मानते यह तो इनके घर की बात है, परयहां इतना तो वादी को अवश्य ध्यान देना चाहिये था कि जिन२ निराकारोपासना के वेद मंत्रों में और उपनिषद् बचनों में "उपास्ति" क्रिया है और उपसना की विधि आती है वहां २ हम केवल मूर्त्ति में ही इश्वरोपासना मानने वाले क्या उत्तर देंगे?।

हम उन वेद मंत्रों के तथा उपनिषद् वाक्यों के यहां उदाहरण देते हैं जिनमें उपासनाविधायक क्रिया आती है। जैसे "**अस्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः**" बृहदा० उ० नि० इस में

"आत्मा" ईश्वर के साक्षात् के लिये श्रवण मनन निदिध्यासन की विधि है। तथा **"ये प्राणं ब्रह्मोपासते"** इस उपनिषद् में उपासना क्रिया आई है। और व्यास सूत्र पा० १ अ० १ सू० १८ सूत्र से स्पष्ट कर दिया है कि प्राण यहां ब्रह्म का नाम है। **"अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते"** बृहदा० उ० नि० यहां अन्य देवता की उपासना का निषेध करके ब्रह्मोपासना की विधि है । **"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते"** यजु० अ० ४ मं० १२ क्या इत्यादि वेदोपनिषद् वाक्यों में उपासना मूर्त्तिद्वारा विधान की गई है! यदि है तो बतलाएं यहां कौन मूर्त्ति उक्त वाक्यों में वर्णित है ।

(३५) सगुण निर्गुण प्रार्थना स्तुति आदि निराकार परमेश्वर का वर्णन, निर्गुण स्तुति साकारादि अवतार युक्त परमेश्वर का गुण कथन करना पूजन करना सगुण उपासना स्तुति प्रार्थना कहाती है ।

समीक्षा—जब इस में वादी यह मानता है कि निराकार परमेश्वर की निर्गुण स्तुति कहाती है, और अवतार युक्त परमेश्वर का गुण कथन करना, पूजन करना सगुणोपासना प्रार्थना कहाती है तो निराकार की उपासना क्यों नहीं कहावेगी ।

(३६) भू आदि सप्त लोक ऊर्ध्व और पातालादि सप्तलोक नीचे के हैं, इनमें देवता, राक्षस, पिशाच, मनुष्यादि रहते हैं, सात समुद्र और इनके सिवाय अनन्त लोक हैं ।

समीक्षा—यहां वादी ने यह निर्णय नहीं किया कि वे समुद्र किन किन वस्तुओं के हैं ! पुराणों के समुद्र लवण, रस, शराब, घी, दूध, मदिरा, इक्षुरसादिकों के सात समुद्र पौराणिकों के घर में ही होंगे, लोक में तो कहीं भी नहीं । यदि हों तो क्या जलयात्रा में एक मात्र सब से अग्रगण्य अंगरेज़ों को भी न मिलते, दैवगति से मिल जाते तो रेल द्वारा ही दूध की दुर्लभता दूर हो जाती और

शराबियों के शराब निकालने का भी टण्टा जाता रहता, आपके म-दिरा के समुद्र सेही भरलाते, और यदि आपका सुवर्ण का मेरु अंग्रेज़ समझते तो तुम्हारे स्वर्गीय जीवों से ही खटाखट खड़कतं। फिर ट्रांसवालआदि युद्ध पीछे ही किया जाता।

(३७) ब्रह्मा इन्द्र शिवादि देवता पूर्ण ऐश्वर्य्य युक्त और गणेश जी देवी आदि सब उपास्य हैं ॥

समीक्षा—ब्रह्मादि देवता यदि पूर्णशक्तियुक्त होते तो ब्रह्मा के नाक से आप के भगवान् को वराह क्यों निकालने पड़े ? ब्रह्मा जी ही हिरण्यकशिपु से पृथिवी क्यों न खोसलाए, आप के शिव की पूर्ण-शक्ति तो मोहिनीरूप ने ही पूर्ण करदी और गणेश देवी आदि की उपासना आप के शङ्कराचार्य्य जी ने ही खण्डन करदी, और तुम से यह भी न बन पड़ा कि कोई देवी अवतार की सिद्धि का भी वेद से मन्त्र निकालते और "**त्वं स्त्री त्वं पुमानसीत्यादि**" शङ्कर के अहं ब्रह्म सागर में ही पड़कर गोते न खाते।

(३८) श्राद्ध, जो मृतक पितरों के उद्देश से किया जाता है।

समीक्षा-इस में वादी ने यह माना है कि श्राद्ध वही कहलाता है जो मृतक पितरों के उद्देश से किया जाता है। पितर शब्द तो वादी की सम्मति में जीवित और मृतक दोनों में आता है,इसी अभिप्राय से यहां मृतक शब्द दिया है। जब पितृ शब्द के अर्थ से दोनों प्रकार के पितरों का अर्थलाभ होना वादी अस्वीकार नहीं कर सकता तो फिर कौनसा विशेष हेतु है जिस के कारण वादी मृतकोद्देश्य से किये जाने वाले कर्म्म को ही श्राद्ध कहता है ?।

यदि यह कहा जाय कि मनु प्रभृति महर्षियों ने पितृयज्ञ से वा पितृश्राद्ध से आशय मृतक पितरों के उद्देश से कर्म्म करना ही लिया है तो इस का उत्तर यह है कि प्रथम तो मनु से मृतक पितरों के उद्देश से ही जो कर्म्म किया जाय उस का नाम श्राद्ध है, यह सिद्ध

नहीं होता क्योंकि मनु में श्राद्ध स्वाध्याय कर्म्म के सम नित्यकर्म्म मान गया है, जिस से मृतक पितरों का आशय नहीं, किन्तु जीवित पितरों का है। यदि मनु आदिकों में नैमित्तिक श्राद्ध कर्म्म से यह अभिप्राय स्पष्ट भी करलिया जाय कि मृतकोद्देश्य से भी श्राद्धकर्म्म होता है, तब भी वादी का यह आग्रह कदापि सिद्ध नहीं होता कि श्राद्ध कर्म्म मृतक पितरों के ही उद्देश से किया जाता है, क्योंकि जब पितर नाम जीतों का भी है और उनकी श्रद्धा से सेवा करना भी पितृकर्म्म कहलाता है तो फिर कौन कह सकता है कि श्राद्धकर्म्म जीतों का नहीं। प्रत्युत वे लोग जो मृतकों का श्राद्ध नहीं मानते वह ऐसा कह सकते हैं कि श्राद्ध कर्म्म जीते पितरों का ही होता है, मृतकों का नहीं। जिस में प्रमाण निम्न लिखित ऐतरेय उपनिषद् का है कि-

"देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" *मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" "यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचारितानि तानि त्वयोपास्यानि,, तैत्तिरीय शिक्षावल्ली ॥ २ ॥

अर्थ-वेदका अध्यापन कराके शिष्य को आचार्य्य यह उपदेश करता है-विद्वानों का सेवनरूप देवयज्ञ, माता पिताआदिकों की सेवारूप पितृयज्ञ, इत्यादि यज्ञों में तुम्हें प्रमाद नहीं करना चाहिये, इसी बात का आगे आचार्य्य यह विवरण करते हैं कि तुम माता देवता वाले बनो, पिता देवता वाले बनो और आचार्य्य अतिथि देवता वाले बनो, इस

---

* यहां भीमसेन भी अपने उपनिषद् भाष्य में पितृ कर्म्म जीते पितरों की सेवाही बतलाता है, जो अब जीते पितरों का पितृकर्म्म कहना गाली देना समझता है ॥

प्रमाणसे स्पष्ट होजाता है कि औपनिषद् समय में लोग पितृयज्ञ जीते पिता माता की सेवा को ही मानते थे। जब जीने आचार्य्य और अतिथि का सहचार है तो किसका सामर्थ्य है कि उक्त उपनिषद् को मृत पितरों के श्राद्ध में लगावे। स्वामी शङ्कराचार्य्यादि सब आचार्य्यों ने यहां पितृ-कर्म्म का अर्थ जीते पितरों की सेवा का ही किया है। यदि कोई यह शङ्का करे कि इस पितृ कर्म्म को श्राद्ध नहीं कह सकते क्योंकि यहां श्राद्ध का नाम नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि यहां इसी प्रकरण में "**श्रद्ध-या देयम्**" "देयम्" यह शब्द है, जिससे श्राद्ध कर्म्म स्पष्ट पाया जाता है, और यदि श्राद्ध शब्द के आने से ही श्राद्ध कर्म्म का बोध वादी माने तो जितने वैदिक मन्त्र वादी लोग श्राद्ध में प्रमाण देते हैं उनमें कहीं भी श्राद्ध शब्द नहीं, फिर उनको मृतक श्राद्ध बोधक कैसे मानाजाय?।

हम यहांतक दृढतासे कहते हैं कोई वादी आजतक वेद संहिताओं से मृतकश्राद्ध शब्द नहीं निकाल सका, फिर जीवित पितरों का श्राद्ध मानने वालों पर कैसे यह आक्षेप हो सकता है कि "जीवितों का श्राद्ध कहना एक प्रकार की गाली देना है" देखो आ० सि० अं० ११ भा० २ में। पं० भीमसेन यह कहते हैं कि "जीवितों की सेवा का नाम श्राद्ध है, ऐसा स्पष्ट लेख मूल संहिताओं में दिखावें, जबतक न दिखावें तब तक हमारा यह कथन सत्य रहेगा कि जीवितों का श्राद्ध कहना, मानना वेद विरुद्ध है" आ० सि० ११।२ भी० से०। हम यहां वादी से यह पछते हैं कि जो आप जीवितों के श्राद्ध को वेदविरुद्ध बतलाते हैं, कहिये वह कौन से वेद का कौनसा मन्त्र है, जिससे जीवितों का श्राद्ध मानना वेदविरुद्ध है और जो आपने इस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि हम ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद तुल्य मानते हैं उन से विरुद्ध होने से वेदविरुद्ध है, तब भी तो ब्राह्मणग्रन्थविरुद्ध हुआ न कि वेदविरुद्ध, और हमने तो ऐतरेय ब्राह्मण से पितृकार्य्य श्राद्ध को

जीवितपितृविषयक सिद्ध कर दिया, फिर ब्राह्मण ग्रन्थ विरुद्ध जीवित श्राद्ध कर्म्म कैसे ? यदि कहा जाय कि कई एक स्थल ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे हैं जिनसे यह जीवितों का श्राद्धबोधक लेख विरुद्ध है तो क्या ब्राह्मण ग्रन्थों में भी परस्पर विरोध है ? ।

आपतो आज ब्राह्मण ग्रन्थों के अनन्य भक्त बने हैं पर इस भक्ति से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि जो२ बातें ब्राह्मण ग्रन्थों से अविरुद्ध हैं वही वेदविरुद्ध हैं । देखो प्रलयकाल में इस डूबती हुई पृथ्वी को मच्छ के सींग के साथ बांध कर बचालेना ब्राह्मण ग्रन्थ विरुद्ध नहीं पर ऐसी गप्पें वेदविरुद्ध हैं । यज्ञ में पशुओं को मारकर पुण्योत्पत्ति मानना वेद विरुद्ध है । **मुग्धादेवा उत शुनायजन्त** अथर्व । ७ । १ । ५ इसमें पशुओं से यज्ञ करने का खण्डन किया है। पर ब्राह्मण ग्रंथ विरुद्ध नहीं एवं सहस्रों बातें हैं जिनके संशय में आकर आपभी वेदों की शरण लेते हैं फिर वेदों का आश्रय लेकर जीवित श्राद्ध वेदविरुद्ध क्यों बतलाते हो? ।

आप से क्या कहें, आप तो " **संशयात्मा विनश्यति** " इस वाक्य के अनुकूल संशयरूपी नौकापर सवार हैं, न इसपार हैं न उसपार। आपने आर्य्यसिद्धान्त पर अनन्त पोथे लिख मारे पर आप के सिद्धान्त का अन्त स्वयं आप ने भी नहीं पाया। यावदायुष साध्य कोटि और विचारकोटि को ही कूटते रहे, अब हम उन वादियों से कहते हैं जो निश्चयात्मा हैं और मनु आदि ग्रंथों की शरण लेकर आर्य्य लोगों के इस सिद्धान्त को शिथिल बतलाते हैं कि जीवितों का श्राद्ध कर्म्म नहीं होता, श्राद्ध मुर्दों का ही होता है। प्राचीन सूत्र स्मृतियों में सर्व स्थान, मुर्दों का ही श्राद्ध लिखा है। इस का उत्तर यह है कि जिन स्मृतिसूत्रों के प्राचीनत्व पर मोहित होकर आप अपना वैदिक

विश्वास गिराते हैं, उन ग्रन्थों में भूत प्रेतादि योनियों की कथाएं वि-
द्यमान हैं। कहीं ऐसा भी है कि किसी को भूत ने ग्रसा, किसी ने कि-
सी को शाप देकर मार डाला, कहीं कहीं उन ग्रंथों में यज्ञों में यज्ञ-
मूर्ति विधान है, कहीं२ असम्भव अनुष्ठान हैं, बहुत क्या कहें सहस्रों अ-
विद्या की बातें उन ग्रन्थों में ऐसी हैं जिनके नाम से तुम भी भागो-
गे। फिर क्या कारण जो तुम्हें उन ग्रन्थों का श्राद्ध ही मीठा लगता
है और सहस्रों बातें उन ग्रन्थों की तुम को ऐसी कड़वी लगती हैं
जिनका तुम नाम भी नहीं लेते। फिर कैसे यह कहा जा सक्ता है कि
उन ग्रन्थों की प्रत्येक बात वैदिक है। यदि वैदिक होने का अभिमान
है तो वेदों से हमारे उक्त मन्तव्य का खण्डन करो, और जो यहां
यह शङ्का की जाती है कि वेदों में किसी बात की साफ़२ विधि न-
हीं तो मृतक श्राद्धों का स्पष्ट कथन हम कैसे दिखलावें। इसका उ-
त्तर यह है कि वेदों में मुख्य२ सिद्धान्त सब स्पष्ट हैं, जैसे-१ निराका-
रेश्वरोपासना स्पष्ट, २ जीवेश्वर का भेद स्पष्ट, ३ सत्यादि धर्मों के पालन
की विधि स्पष्ट ४ विवाह में एक स्त्री विधान की विधि स्पष्ट।
ऐसे अनन्त विषय हैं जो वेदों में स्पष्ट रीति से वर्णन किये गए हैं।
फिर क्या आप का मृतक श्राद्ध ही ऐसा तुच्छ था जिसका वेद भग-
वान् वर्णन न करते, जिस श्राद्ध को वादी ऐसा मुख्य कर्म्म मानते हैं,
जिस विषय में उन की मति में प्राचीन ग्रन्थकारों ने सहस्रों पत्र काले
किये हैं फिर क्या कारण जो ऐसे मुख्य विषय में वेद उदासीन हैं

हमारी सम्मति में तो इस से बढ़कर अनुपलब्धि प्रमाण क्या हो
सक्ता है जो ऐसे मृतक श्राद्ध का वर्णन वेद में नहीं पाया जाता।
और जो यह कहा जाता है कि फिर तुम्हारा जीवितों का श्राद्ध कर-
ना ही वेद ने जीवित कर्म्म लिखकर स्पष्ट क्यों न कर दिया, इसका
उत्तर यह है कि हमारे पक्ष में तो सम्भव प्रमाण ही निर्णय करता

है कि जीवितों का ही श्राद्ध होता है, भोजनाच्छादनादिकों से मृतकों का श्राद्ध असम्भव है और हम वादी से यह पूछते हैं कि यह कहां लिखा हुआ है कि विवाह जीते का ही होता है, ब्रह्मचारी जीता ही होता है, संन्यास विधि जीते की ही है, वानप्रस्थ जीता ही होता है। * अब कहिये जिन के मत में सम्भव असम्भव का विवेक नहीं उन के लिये तो सभी सम्भव था। फिर वेद भगवान् ने विवाह के साथ जीवित शब्द क्यों न जोड़दिया, क्योंकि वादी के मत में विवाहादि कर्म्म मुर्दों के भी सम्भव हैं। जहां अब तुलसी शालिग्रामादि का विवाह है वहां मृतक का विवाहादिकर्म्म क्या असम्भव है? हमारे मत में तो सम्भव को निर्णायक समझकर श्राद्ध कर्म में जीवित कहने की आवश्यकता न थी, हां अन्त्येष्टि कर्म मृतकों का ही सम्भव था, वहां वेद ने मृतक स्पष्ट कह दिया॥

और जो ऐसे मन्द मति हैं की जीवित और मृतक शब्द आने से विना वैदिक कर्म्म का तत्व नहीं समझते, उनकी बुद्धि का ध्यान धर के यदि वेद भगवान् का लेख होता तो श्राद्ध के साथ अवश्य जीवित वा मृतक शब्द रहना चाहिये था, एवं मीमांसा करने से यह सिद्ध होता है कि श्राद्ध कर्म जीवित पितरों का ही होता है, फिर वादी का यह कथन कि "**मृतकोद्देश्य से किये जाने का नाम श्राद्ध है**" यह कथन आग्रह मात्र है।

(३९) मन्तव्य यहां पौराणिक भाव नहीं।

(४०) तप-वन पर्वतों में कुटी बनाकर परमेश्वर की प्रसन्नता के हेतु जितेन्द्रिय होकर जो अनुष्ठान किया जाता है सो तपस्या कहाती है।

---

*पं० भीमसेनने आ० सि० में इसी तर्कसे जीवित पितरों का श्राद्ध सिद्ध किया है॥

समीक्षा—यहां तप को फिर वन पर्वतों की ओर ले भागे, "सत्यं तपः" इत्यादि औपनिषद तप तो त्यागा सो त्यागा पर यहां तो वादी गीता के तप का भी त्याग कर गए।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं उच्यते ॥ मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । मनसः शुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ गीता० अ० १७ श्लो० १४ । १५ । १६

उक्त श्लोकों का भाव यह है कि सत्पुरुषों की सेवा सत्कारादि से पूजन, पवित्र रहना, "ब्रह्मचर्य्य" स्त्री स्पर्शादि से रहित, रहना अहिंसा किसी प्राणी को पीड़ा न देना यह शरीर का तप कहलाता है, किसी के दिल को न दुखाने वाला सत्य और प्यारा वाक्य और वेदादि सच्छास्त्रों का अभ्यास यह वाणी का तप कहलाता है। मन को प्रसन्न रखना "सौम्यत्व" क्रूर प्रकृति न रखना प्रयोजन मात्र बोलना मनको स्ववश रखना, सङ्कल्प शुद्ध रखना यह मनका तप कहलाता है।

उक्त तीनों प्रकार के तप में से वन पर्वतों का तप कौन हुआ, यदि वादी यह कहे कि उक्त तप वन पर्वतों में ही हो सकता है तो यही तो हम कहते हैं कि पौराणिक रीति से वादी ने उक्त "स्वाध्याय" वेदाध्ययन सत्यादि तप को वनवास देकर सब संसार को सत्य स्वाध्यायादि कर्म्मों से वञ्चित कर दिया।

इत्यार्य्यमन्तव्यप्रकाशे पौराणिकमन्तव्य निरासो नाम पञ्चमसमुल्लासः समाप्तः ॥

ओ३म्

अथ स्वमन्तव्यप्रकाशोनाम षष्ठः समुल्लासः प्रारभ्यते

यहां सत्य धर्म्मानुरागियों से यह प्रष्टव्य है कि पूर्वोक्त पौराणिक दृश्य पर दृष्टि डालने से किसका हृदय दुःखित नहीं होता कि जहां ऋषियों के ब्रह्मचर्य्य, स्वाध्यायादि अनन्त वैदिक "तप" थे वहां आज वन, पर्वत और घाटों के किनारों के केवल दम्भ मात्र के तप रह गये हैं। जहां "मातृदेवो भव पितृदेवो भव" इत्यादि अनुपम औपनिषद् व्याख्यानों से वर्णित श्रद्धाभक्तियुक्त माता पिताओं की सेवा की जाती थी, वहां आज नाम के श्राद्ध मृतकोद्देश्य से किये जाते हैं, जहां एक अद्वितीय ब्रह्मवाद भारतभर का एक मात्र भरोसा था, न केवल भारतभर अपितु वैदिक मात्र का मन्तव्य था। वहां आज ब्रह्मा इन्द्र गणेश देवी आदि अनन्त देव इस भारत वनको दावानल बनकर ईश्वरानुपासनारूप पापाग्नि से दग्ध कर रहे हैं, क्या आर्य्य सन्तान का ऐसे समय में यह कर्त्तव्य नहीं कि वह आर्य्य मन्तव्य रूपी सुधा छिड़ककर इस पापाग्नि को बुझावे ? क्या आर्य्य सन्तान का ऐसे समय में यह कर्त्तव्य नहीं कि वह स्वसिद्धान्तरूपी सूर्य्य से उक्त दावानल धूमाच्छन्न नयन पुरुषों के नेत्र खोलदे, जिससे पौराणिक तिमिर से निकल कर आर्य्य सन्तान स्वस्वनेत्रोन्मीलन करके स्वधर्म्म में अविद्यक लोगों के लगाए हुए कलङ्कों को देख सकें, जिससे श्रीरामचन्द्र श्रीकृ-

ष्णादि मर्य्यादा पुरुषोत्तम पुरुषों के पवित्र जविन प्रतीत होने लगें। इस प्रतीति का फल यह हो कि लोग पौराणिक "कृष्णइज़्म" कृष्ण दासत्व को छोड़ "यद्यदाचराति श्रेष्ठ" इत्यादि वाक्यों से सदाचारी कृष्ण के भक्त बनें। फिर यह आवश्यकता न रहेगी कि कृष्ण को ईश्वर बनाकर ही विहारलीलादि का मण्डन करें और उन में ईश्वर भाव का आरोप करके ही उन के आचार और जीवन को अलौकिक बनावें, वा येन केन प्रकार से अशास्त्रीय और सदाचारमर्य्यादा से पतित बातों को सिद्ध करने में ही जन्म बितावें। यह सब सम्भावना तब की जासकती है जब सब मिलकर एक मात्र वेद की शरण आवें॥

इस प्रकार मिथ्यार्थरूपी तिमिर त्याग से ही यह कल्याण का मार्ग लब्ध हो सकता है, तभी शास्त्रों का सामञ्जस्य होता है, तभी पौराणिक अर्थवादरूपी सागर से भारत सन्तान का बेड़ा पार हो सकता है, तभी भारत का सुधार हो सकता है, तभी सदसद् विचार हो सकता है, तभी एक मात्र ब्रह्मोपासना का आधार हो सकता है।

अन्यथा ऐसे समय में क्या आशा है जब कि दूध दधि घृत मंदिरादि के समुद्र माननेवाली भारतसन्तान है, सोने के मेरु पहाड़ के चारों ओर सूर्य्य के रथ का घूमना मानने वाली भारतसन्तान है, उक्त मेरु शिखरपर स्वर्ग माननेवाली भारतसन्तान है, पाताल में नरककुण्ड माननेवाली भारतसन्ताम है, शेषनाग के शिरपर पृथिवी माननेवाली भारतसन्तान है, जिस को सत्यार्थनिरूपक शास्त्र छोड़कर उक्त मिथ्या गपोड़ों पर ही अभिमान है।

इस अवस्था में जब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह विचारा कि यह क्या? कहां वेदों का वह मन्तव्य जिन में अनृत का नाम न था।

"**सत्यञ्च मे श्रद्धा च मे**" यजु० १८।५ इत्यादि मंत्रों से सत्य का आश्रय था, "**असन्नेव सभवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्**" तैत्तिरीय उ०नि० ब्रह्मवल्ली। अर्थ—वहस्वयं नाश हो जाता है जो असत् ब्रह्मको मानता है इत्यादि उपनिषद् वचनों से जड़ पूजा का निषेध था, जब देखा कि अब पार्थिवाकार बनाकर असद् ब्रह्म इस भारत में पूजा जा रहा है, और ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, देवी, देवता, गणेश आदि भिन्न२ देवता ईश्वर माने जाते हैं। "**येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढा**" यजु० ३२। ६ इत्यादि विशेषणों वाले एक मात्र देव की पूजा भारत में नाममात्र भी नहीं रही। "**तद् विष्णोःपरमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**" ऋ० १।७२।७। इस वैदिक मन्तव्य को लोग नहीं मानते। उक्त व्यापक विष्णु के पद को भूलकर जड़ देवी देवताओं के पांव पूजे जा रहे हैं और विष्णु के उस परमपद की कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं की जाती, जो पद आर्य्यसन्तान को भवसागर से पारक-रने का एक मात्र हेतु था, यह वह पद है जिसको पौराणिकसमय के भाष्यकार भी सिर झुकाते हैं, सायण, महीधर, शङ्कर, रामानुजादि सब आचार्य्यों ने इस उच्चपद को उल्लङ्घन नहीं किया। महीधर कहता है कि वेद पारग विद्वान् उस विष्णु के "**पद**" स्वरूप को रुकावट के बिना आकाश में व्याप्त चक्षु के सम व्यापक देखते हैं। सायण क-हता है कि जैसे बिना रुकावट चक्षु आकाश में साफ देखता है इस प्रकार विद्वान् लोग शास्त्र दृष्टि से उस शास्त्रप्रसिद्ध पद को देखते हैं। उपनिषद् भाष्य में कठ १।३। शङ्कर कहता है कि '**पदम्**' के अर्थ व्यापक ब्रह्म के हैं। अत्राधिकरण में वैदिक लोगों की मुक्ति वर्णन करता हुआ रामानुज यह कहता है कि वह विष्णु पद मोक्षरूप है। उपनिषद्कार ने कठोपनिषद् में "**सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्-**

विष्णोःपरमंपदम्" इस वाक्य में नचिकेता को ब्रह्म विद्या का उपदेश करते हुए गुरु ने विष्णु के परमपद से विष्णु व्यापक ईश्वर की प्राप्ति का आशय स्पष्ट कर दिया है।

एवं विष्णु पद जो वेद के आशय से शास्त्र द्रष्टा ज्ञानी लोगों के लिये आकाश में निरावरण चक्षु के दृश्य के सम स्पष्ट दृष्ट पड़ता था, अर्थात् ज्ञान दृष्टि से देखा जाता था। जब उस परम पद को पाषाणमय कल्पना करके भारत सन्तान उसके पैर धोकर पीने लगी।

और आश्रय यह लिया कि "**इदं विष्णुर्विचक्रमे**" इस वेद मन्त्र में उस निराकार परमात्मा के तीन पैर कथन किये गए हैं **"वामनंरूपमास्थाय त्रैलोक्यंविक्रमैः स्वकैः बलेर्गृहीतं तं बध्वा तस्मै ब्रह्मात्मने नमः"**

जिस परमात्मा ने वामनरूप धारण करके वालि राजा को बांधकर तीनों लोक जीते ऐसे ब्राह्मण रूप के लिये नमस्कार है। इस प्रकार के वेद विरुद्ध श्लोकों से वेद का आशय अन्यथा वर्णन करने लगे और साथ ही इस बात की भी सहायता लेने लगे कि सायण महीधरादि आचार्य्यों ने उक्त मंत्र के भाष्य में वामनावतार की सूचना दी है। तब भारत सन्तान के उद्धार कर्ता श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उस विष्णु पद पर आरूढ़ करने के लिये भारतसन्तान का बेड़ा इस भवसागर से पार करने के लिये उक्त विष्णु पद में मूर्त्तिपूजादि अविद्या तिमिर का तिरस्कार करने के लिये और सत्य वेदार्थ का पुनः प्रचार करने के लिये एक मात्र भारतसन्तान का उद्धार करने के लिये निम्न लिखित आर्य्य मन्तव्यों का प्रकाश किया है।

१--प्रथम "**ईश्वर**," कि जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है जिसके गुण कर्म्म स्वभाव पवित्र

हैं जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान् दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फल दाता आदि लक्षण युक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं ॥

२-- चारों "वेदों" (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर प्रणीत संहिता मंत्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं और चारों वेदों के ब्राह्मण, छ अङ्ग, छ उपाङ्ग, चार उपवेद और ११२७(ग्यारहसौ सत्ताईस)वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रंथ हैं उन को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण, और जो इन में वेद विरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं ॥

३--जो पक्षपातसहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त, ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको "धर्म्म" और जो पक्षपातरहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद विरुद्ध है उसको "**अधर्म्म**" मानता हूं ॥

४--जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादिगुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को "**जीव**" मानता हूं ॥

५--जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न, और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था न है, न होगा और न कभी एक था न है न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूं ॥

६--"**अनादि पदार्थ**" तीन हैं एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा

प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण इन्हीं को नित्य भी कहते हैं जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण कर्म्म स्वभाव भी नित्य हैं ॥

७--" **प्रवाह से अनादि** " जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिस से प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उन में अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा, तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूं ॥

८--"**सृष्टि**" उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना ॥

९--"**सृष्टिका प्रयोजन** " यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण कर्म्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसीने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं ? उसने कहा देखने के लिये, वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्म्मों का यथावत् भोगकरना आदि भी ॥

१०—" **सृष्टिसकर्तृक** " है इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का " **कर्त्ता** " अवश्य है ॥

११—" **बन्ध** " सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है जो २ पाप कर्म्म ईश्वराभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करनेवाले इसीलिये यह " **बन्ध** " है कि जिस की इच्छा नहीं, और भोगना पड़ता है ॥

१२—"**मुक्ति** " अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बंध रहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्य्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना ॥

१३- " **मुक्ति के साधन** " ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्म्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य्य से विद्या प्राप्ति आप्तविद्वानों का संग, सत्य विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं ॥

१४— " **अर्थ** " वह है कि जो धर्म्म ही से प्राप्त किया जाय, और जो अधर्म्म से सिद्ध होता है उस को अनर्थ कहते हैं ॥

१५— " **काम** " वह है कि जो धर्म्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय ॥

१६—' **वर्णाश्रम**" गुण कर्म्मों की योग्यता से मानता हूं ॥

१७— " **राजा** " उसी को कहते हैं जो शुभगुण कर्म्म स्वभाव से प्रकाशमान पक्षपात रहित, न्याय धर्म का सेवी, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते, और उन को पुत्रवत् मानके उन की उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे ॥

१८— " **प्रजा** " उस को कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राज विद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते ॥

१९— जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बाढ़वे अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे सो " **न्यायकारी** " है उस को मैं भी ठीक मानता हूं ॥

२०— " **देव** " विद्वानों को, और अविद्वानों को "**असुर**" पापियों को " **राक्षस** " अनाचारियों को " **पिशाच** " मानता हूं ॥

२१— उन्हीं विद्वानों माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, न्या-

यकारी, राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री, और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना " **देवपूजा** " कहाती है इससे विपरीत अदेव पूजा। इन की मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं॥

२२— " **शिक्षा** " जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं॥

२३— " **पुराण** " जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मणपुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, और नाराशंसी नाम से मानता हूं अन्य भागवतादि को नहीं॥

२४— " **तीर्थ** " जिससे दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्या दानादि शुभकर्म है उन्ही को तीर्थ समझता हूं इतर जलस्थलादि को नहीं॥

२५— " **पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा** " इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिस के सुधरने से सब सुधरते और जिस के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है॥

२६—"**मनुष्य**"को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं॥

२७—"संस्कार" उस को कहते हैं कि जिस से शरीर मन और आत्मा उत्तम होवें, वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है इस को कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये॥

२८—" यज्ञ " उस को कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उस से उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्रादि जिन से वायु वृष्टि जल औषधि की पवित्रता कर के सब जीवों को सुख पहुंचाना है उस को उत्तम समझता हूं ॥

२९---जैसे " आर्य्य " श्रेष्ठ और " दस्यु " दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसेही मैं भी मानता हूं ॥

३०—" आर्य्यावर्त्त " देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इस की अवधि, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक, और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है इन चारों के बीच में जितना देश है उस को आर्य्यावर्त्त कहते हैं और जो इन में सदा रहते हैं उनको भी आर्य्य कहते हैं ॥

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह"आचार्य्य " कहाता है ॥

३२--" शिष्य" उस को कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्म्मात्मा विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य्य का प्रिय करने वाला है ॥

३३--" गुरु " माता, पिता, और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है ॥

३४--" पुरोहित " जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे

३५--"उपाध्याय"जो वेदों के एक देश वा अंगों को पढ़ाता है॥

३६--" शिष्टाचार " जो धर्म्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य

का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इस को करता है वह शिष्ट कहाता है ॥

३७-- "प्रत्यक्षादि " आठ प्रमाणों " को भी मानता हूं ।

३८--" आप्त "जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है उसी को आप्त कहता हूं ॥

३९--" परीक्षा " पांच प्रकार की है इस में प्रथम जो ईश्वर उस के गुणकर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यौहार, और पांचवीं, अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या, इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये ॥

४०--" परोपकार " जिस से सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े उस के करने को परोपकार कहता हूं ॥

४०--" स्वतन्त्र " " परतन्त्र " जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्म्म फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतंत्र है ॥

४२--" स्वर्ग "नाम सुख विशेष भोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है ॥

४३--"**नर्क**" जो दुःख विशेष भोग, उसकी सामग्री का प्राप्त होना है ॥

४४--"**जन्म**" जो शरीर धारण कर प्रगट होना है सो पूर्वापर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं ॥

४५--शरीर के संयोग का नाम "जन्म" और वियोग मात्र को मृत्यु कहते हैं ॥

४६--"**विवाह**" जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छ

करके पाणिग्रहण करना वह विवाह कहाता है ॥

४७-"**नियोग**" विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना॥

४८—"**स्तुति**" गुणकीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं ॥

४९—"**प्रार्थना** " अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञानादि प्राप्त होते हैं उनके लिये ईश्वर से याचना करना और उसका फल, निरभिमान आदि होता है ॥

५०—"**उपासना**" जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय, योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ॥

५१-"**सगुण निर्गुण स्तुति प्रार्थनोपासना**" जो २ गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो २ गुण नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुण निर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपनी आत्मा को उसके, और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुण निर्गुणोपासना कहाती है ॥

इतिश्री आर्य्यमन्तव्यप्रकाशे स्वमन्तव्य-
प्रकाशो नाम षष्ठः समुल्लासः समाप्तः
ग्रन्थश्चायं समाप्तः

॥ विषय सूचीपत्रम् ॥

ओ३म्

॥ भूमिका ॥

आर्य्यमन्तव्यप्रकाश द्वितीय भाग

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ अथर्व०
गी० ४ । २४

इस मंत्रमें इस अर्थका प्रकाश कियागया है कि (अर्पणं) जिस से हवि अग्निमें अर्पण कियाजाता है वह स्रुगादि वस्तु ब्रह्म सम्बन्धि हों, और (हविः) हवनीय द्रव्य ब्रह्म सम्बन्धि हों, और अग्नि ब्रह्म सम्बन्धि हो, और ब्रह्म साधन द्वारा हवन कियाजाय, इस प्रकार ब्रह्म साधन द्वारा हवन करने से (ब्रह्मकर्मसमाधिना) नाम ब्रह्म सम्बन्धि कर्मों में निष्ठा रखने वाले पुरुष को परब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

"ब्रह्मार्पणम्" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म शब्द वेद का वाचक है, यह अर्थ इसी अध्याय के श्लो० ३२ में सिद्ध है कि ब्रह्म नाम इस यज्ञ विषय में वेद का है । एवं वेद वाची ब्रह्म शब्द मानने से आशय यह निकलता है कि जो लोग वैदिक अर्पण से, वैदिक हवि से, वैदिक अग्निमें यज्ञ करते हैं उन्हीं को ब्रह्मप्राप्ति होती है ।

इस प्रकार यहां वेदों का महत्व वर्णन कियागया है ।

वस्तुतः निस्सन्देह बात भी यह है कि जबसे लोग वैदिक कर्म को भूलगए तबसे परब्रह्म प्राप्ति तो क्या? अपितु (अपरब्रह्म) वेद प्राप्ति भी उनको नाम मात्र ही रहगई। इसी कारण वेदार्थ में यहांतक विप्रतिपत्ति बढ़गई कि कोई नित्यशुद्धबुद्धिमुक्तस्वभाव सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त ईश्वर के परापररूप से दो भेद करता है अर्थात् एक छोटा ईश्वर है दूसरा बड़ा ईश्वर है। जैसा कि शङ्करमत में हिरण्यभर्ग और परब्रह्म का भेद है, कोई सर्व ब्रह्मवादी बनकर चिदाचिद् कीट पतंग ईंट आदि वस्तुओं को भी ब्रह्म बना बैठता है, जैसा कि शङ्करमत में पूर्वोक्त गीता श्लोक के यह अर्थ कियेजाते हैं कि यह सब वस्तुएं ब्रह्म हैं। इस अभिप्राय से अर्पणादिकों को ब्रह्म कथन किया है, इस स्थल में स्वामी शङ्कराचार्य्य "यथा शुक्तिकायांरजिताभावं पश्यति तद्वदुच्यते" अर्थ—जैसे सीपी में ज्ञानी चांदी के अभाव को देखता है इस प्रकार सब संसार के अभाव को ज्ञानी ब्रह्म में देखता है, अर्थात् ब्रह्मही ब्रह्म देखता है अन्य कुछ नहीं, पर इस अर्थ का स्वीकार सनातनियों के और आचार्य्य नहीं करते। रामानुजादि उक्त श्लोकके यह अर्थ करते हैं कि अर्पणादिकों में ब्रह्मबुद्धि करना, वास्तव में अर्पणादि ब्रह्म नहीं, यह अर्थ श्लोकके आशय से मिलता है कि यहां सब वस्तुओं का ब्रह्मविधान का तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि यह यज्ञ का प्रकरण है, इस प्रकरण में ब्रह्म सम्बन्धि वस्तुओं का वर्णन है, इससे आगे के श्लोक में यह लिखा है कि "दैवमेवापरेयज्ञंयोगिनः पर्युपासते" जिसके अर्थ यह है कि योगी लोग परमात्मा की उपासनारूपी यज्ञ को करते हैं, इस श्लोक में स्वामी

शङ्कराचार्य्य भी इस अर्थ को मानते हैं कि (योगी) कर्मी लोग उपासनारूपी यज्ञ को करते हैं। यदि पूर्व श्लोक का सब वस्तुओं को ब्रह्म बोधन का तात्पर्य्य होता तो फिर योगी कौन और किस की उपासना करते?

उक्त ब्रह्मार्पणं के अर्थ में जब शङ्कराचार्य्य और रामानुजादि औपनिषद्दर्शन के द्रष्टा विप्रतिपन्न हैं तो फिर आधुनिक सनातनियों की क्या कथा जो विचारे सहस्रशीर्षारूपी सागर में निराकार साकार की विप्रतिपत्तिरूप लहरों में गोते खारहे हैं।

एवंविधविप्रतिपत्तिग्रस्तवादियों को देखकर हमने वेदार्थ संग्रह करना आवश्यक समझा इसलिये "सहस्रशीर्षादि" मंत्रों को उपक्रम में रखकर इस ग्रन्थ का प्रारम्भ कियागया है, उक्त मंत्रों में यह दिखलाया है कि इन मंत्रों का तात्पर्य्य साकार बोधन में नहीं, और इसमें पूर्वोक्तवादियों के अभिमतअर्थों से भी सत्यार्थ की सिद्धि कीगई है। यह ग्रंथ श्री १०८ स्वामी दयनन्द सरस्वती जी के बावन मन्तव्यों पर क्रम से लिखा गया है।

इस क्रम के अवलम्बन करने का कारण यह है कि आजकल जो लोग श्रीस्वामीजी और स्वामीजी के लेखों पर आक्षेप करते हैं वह केवल स्वामीजी और स्वामीजी के लेखों को ही उद्देश्य रखते हैं, हम उनको स्मरण दिलाते हैं कि ऐसे आक्षेपों से आर्य्य धर्म की क्षति नहीं होती। आर्य्यधर्म वह है जो बावन मन्तव्यों में लिखा है, और स्वामीजी ने उक्त मन्तव्यों को उपसंहार में इसी अभिप्राय से लिखा है कि वैदिक मन्तव्य इतर पन्थों के

समान किसी मनुष्य की पूजासे पन्थ न बन जायं, इस अभिप्राय से अपने सम्पूर्ण लेखों को उपसंहार में बावन मन्तव्य लिखकर शोधन करदिया। हमने इस ग्रंथमें आक्षेपता वादियों को ललकार के लिखा है कि आओ उक्त आर्य्य मन्तव्यों पर आक्षेप करो हम समाधान करते हैं।

अपूर्वता के हेतु इस ग्रंथ में निम्नलिखित हैं-

(१)-पुरुषसूक्त पर जो भाष्य कियागया है उसमें वेद की सङ्गति द्वारा वेदार्थ का संग्रह कियागया है और वादी विरोध से वादियों के मत का खण्डन किया है।

(२)-उपनिषदों से, व्याससूत्रों से, और वादियों के मतों से, मुक्तिमें पुनरावृत्ति सिद्ध कीगई है।

(३)-श्राद्ध और नियोगादि विषयों में सब मंत्र लिखकर उनपर विस्तार पूर्वक पूर्वोत्तर पक्षद्वारा विचार कियागया है जिस से इन विषयों में कई एक स्थलों में लेख बहुत विस्तृत हैं।

(४)-सनातनधर्म के मण्डन कर्ताओं में से मुख्ययोद्धा पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्र और पण्डित भीमसेन के लेखों की समीक्षाओं से यह ग्रंथ सज्जीकृत है तत्रापि पं० भीमसेन के आर्य्यसमाज छोड़ने के कारण और आर्य्यसमाज न छोड़ने की प्रतिज्ञाएं सङ्गति बांधकर अधिकतया सूचित कीगई हैं।

(५)-यमयमी की कथा जो वेदाशय न समझने से वैदिक लोगों को भयप्रदा प्रतीत होती है और इतर धर्मानुयायी ईसाई महम्मदी

आदि लोग जिसपर अनन्त आक्षेप करते हैं। उसका समाधान सम्यग् रीति से इस ग्रंथमें कियागया है।

(६)–आर्य्यसमाज के आविर्भावकर्त्ता श्री१०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को इस ग्रंथ का समर्पण कियागया है जिनकी शास्त्रीय दिव्य दृष्टि से ग्रंथकर्त्ता का आविद्यक दोषदूरद्वारा इस ग्रंथ का निर्माण हुआ।

उक्त स्वामीजीके यथावस्थित गुण वर्णन में महर्षिदयानन्दाष्टक लिखा है जो संस्कृतश्लोक और भाषा छन्दोग्रन्थन में है, इत्यादि अपूर्वता के हेतु अनेक हैं, जिनको पाठक लोग पढ़कर जान सक्ते हैं। अतएव हम उक्त षट्क परही समाप्ति करते हैं।

अन्तिम विनय यह है कि दक्षिण हैदराबाद में एक मास तक रहने के कारण इस ग्रंथ के शोधन का भार प्रायः ऐसे पुरुषों पर रहा है जो इसके योग्य न थे, इस कारण कईएक स्थलों में मात्रा और वर्णों की अशुद्धियें पाई जाती हैं, उनको पाठकलोग क्षमा करें। और वह शुद्धि पत्र में सुधार दी गई हैं॥ ओ३म् शमिति॥

आर्य्यमुनिः

समर्पण

यह ग्रन्थ श्री १०८ स्वामीदयानन्दसरस्वती
जीको समर्पण कियागया।

उक्तमहर्षि के गुणानुवाद में यह अष्टक है

॥ महर्षिदयानन्दाष्टकम् ॥

वेदाऽभ्यासपरायणोमुनिवरोवेदैकमार्गैरतः ।
नाम्नायस्यदयाविभातिनिखिलातत्रैवयोमोदते ॥
ये नाम्नायपयोनिधेर्मथनतः सत्यंपरंदर्शितम् ।
लब्धं तत्पदपद्मयुग्ममनघं पुण्यैरनन्तैर्मया ॥

भाषाछन्द-सवैया

(१)-उत्तम पुरुष भये जग जो वह धर्मके हेतु धरें जग देहा । धन धाम सभी कुर्बान करें प्रमदा सुत मीतरु कांचन गेहा । सन्मार्ग से पग नाहि टरे उनकी गति है भव भीतर एहा । एक रहे दृढ़ता जगमें सब साज समाज यह होवत खेहा ॥

(२)-इनके अवतार भये सगरे जगदीश नहीं जन्मा जगमाहीं । सुखराशी अनाशी सदा शिव जो वह मानव रूप धरे कबो नाहीं। मायिक होय

वही जन्मे यह अज्ञ अलीक कहें भवमाहीं। यह मत है सब वेदन का वह भाष रहे निज बैननमाहीं॥

(३)—धन्य भई उनकी जननी जिन भारत आरत के दुखटारे। रविज्ञान प्रकाश किया जगमें तब अंध निशाके मिटे सब तारे। दिनरात जगाय रहे हमको दुःखनाशक रूप पिता जो हमारे। शोक यही हमको अब है ज़ब नींद खुली तब आप पधारे

(४)—वैदिक भाष्य किया जिनने जिनने सब भेदिक भेद मिटाए। वेद ध्वजा करमें करके जिनने सब वैर विरोध नसाए। वैदिक धर्म प्रसिद्ध किया मत वाद जिते सब दूर हटाए। डूबत हिन्द जहाज़ पिखा अब जासु कृपा कर पार कराए॥

(५)—जाप दिया जगदीश जिन्हें इक और सभी जप धूर मिलाए। धूरतधर्म धरातलपै जिनने सब ज्ञान की आग जलाए। ज्ञान प्रदीप प्रकाश किया उन गप्प महातम मार उड़ाए। डूबत हिन्द जहाज़ पिखा अब जासु कृपाकर पार कराए॥

(६)–सो शुभ स्वामी दयानन्द जी जिनने यह आर्य्य धर्म प्रचारा। भारतखण्ड के भेदन का जिन पाठ किया सब तत्व बिचारा। वैदिक पंथ पै पांव धरा उन तीक्ष्णधर्म असी की जो धारा। ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा॥

(७)–व्रत वेद धरा प्रथमे जिसने पुन भारतधर्म का कीन सुधारा। धन धाम तजे जिसने सगरे और तजे जिसने जगमें सुतदारा। दुःख आप सहे सिर पे उसने पर भारत आरत का दुःख टारा। ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा॥

(८)–वेद उद्धार किया जिनने और गप्पमहात्म मार बिदारा। आप मरे न टरे सत पंथ से दीनन का जिन दुःख निवारा। उन आन उद्धार किया हमरा जो गिरें अब भी तो नहीं कोई चारा। ऐसे ऋषिवर को सज्जनों कर जोड़ दोऊ अब बंद हमारा॥

ओ३म

आर्य्यमन्तव्यप्रकाश, वेदार्थसंग्रहोनाम सप्तमः समुल्लासः प्रारभ्यते ।

इस समुल्लास में जो २ मंत्र विवादास्पद हैं उन सबका भाषार्थ किया जायगा। इस वेदार्थ संग्रह से प्राचीनार्य्यों के मन्तव्य स्पष्ट रीति से ज्ञात होंगे कि क्या थे, और आज कल के आधुनिक सनातन नामधारी वेद मंत्रों का अनर्थ करके कैसे २ वेदार्थ को विगाड़ रहे हैं यह भाव इस समुल्लास में दिखलाया जायगा। प्रथम–ईश्वर विषयक मन्तव्य में जो २ मंत्र सनातनी उद्धृत करते हैं उनका अर्थ यहां प्रकाश किया जाता है ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिँ सर्वं तस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ यजु० अ० ३१ मं० १

पं० अम्बिकादत्त व्यास मूर्तिपूजा पृ० २० में अपने साकारेश्वरवाद के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए ईश्वर के सहस्रों शिर, आंखे पांव, कथन करते हैं। मूर्ति रहस्य में यह मंत्र ईश्वर की मूर्ति सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया गया है, आज कल कौन सनातन धर्म्मी है जो उक्त मंत्र का ईश्वर के सहस्र शिर बनाने में नहीं उपयोग करता, अस्तु पर यहां हम ने यह दिखलाना है कि हमारे आधुनिक सनातन नामधारी भाई सनातन पथ से कहां तक गिरे हैं

सायण महीधर उव्वट यह सब भाष्यकार उक्त मंत्र से ईश्वर का सर्वान्तरात्मत्व और ईश्वर की महान् महिमा सिद्ध करते हैं ॥ "अत्र सर्वप्राणीनां शिरांसित देहान्त: पातित्वा त्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्" ॥ यहां सब प्राणियों के शिरादि अवयव उस परमात्मा के भीतर होने से उसका नाम "सहस्र शीर्षा" है यह अर्थ सामवेद में सायणाचार्य्य ने इस मंत्र के किये हैं एवं उव्वट और महीधर ने भी, "सभूमिंसर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठ दशाङ्गुलम्" के अर्थ सर्व व्यापक के किये हैं, फिर जो लोग "सहस्रशीर्षा" के अर्थ सहस्र शिर वाले मूर्त्तिमान ब्रह्म के करते हैं उनके मत में वह सर्व व्यापक कैसे हो सकता है ? क्योंकि मूर्त्ति पदार्थ सर्व व्यापक कदापि नहीं हो सकता, और "एतावानस्यमहिमातोऽयायांश्चपूरुष:" यह तीसरा मंत्र पौराणिकों के सहस्र शिरों वाले अर्थ को सर्वथा काट देता है, इसके अर्थ यह हैं कि यह जो कथन किया गया है यह ईश्वर की महिमा है और पुरुष इस से बड़ा है। इस से सार यह निकला कि सहस्र शिरादि अवयव ईश्वर की विभूति कहे जा सकते हैं स्वरूप नहीं। यदि यह कहें कि विभूति स्वरूप से भिन्न नहीं, यह सर्वथा असङ्गत है, अन्यथा गीतादि पुस्तकों में विभूति रूप से निरूपित पृथिव्यादि जड़ वस्तु समूह भी ईश्वर ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार सहस्र शिरादि अवयव ईश्वर के मूर्तिरूप में उपयोग नहीं रखते, किन्तु सहस्र शिरादि अवयव धारी पुरुष ईश्वराधार में हैं इस अभिप्राय से "सहस्रशीर्षा" है। उक्त मंत्र के इसी अभिप्राय को वेद भाष्या

चार्य्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स्व निर्म्मित भाष्य में प्रकाश किया है जिससे सब आधुनिक सनातन धर्म्माभिमानी घबराते हैं। मंत्रार्थ यह है॥

भाषार्थ—

(सहस्रशीर्षा) इस मंत्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं, पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है, पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को, उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अंतर्यामी है वह पुरुष है। इस अर्थ में निरुक्त आदिका प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है सो देख लेना। सहस्र नाम है सम्पूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है, सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं क्योंकि वह अनंत है, जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नही है इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (सभूमिᳬसर्वतस्पृत्वा०) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठद्द०) दशांगुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है अंगुलि शब्द अंग का अवयव वाची है, पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं, तथा पांच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार और दशवां जीव, और शरीर में जो हृदय देश है सो भी दश अंगुल

के प्रमाण से लिया जाता है जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है इससे वह पुरुष कहाता है, क्योंकि जो उस दशांगुल स्थान का भी उल्लंघन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है ॥

पुरुषएवेद॑᳚सर्वंयद्भूतंयच्चभाव्यम् । उतामृतत्वस्ये शानोयदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

भाषार्थ—

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था जो होगा और जो इस समय में है इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है दूसरा कोई नहीं, सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥

"एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः । पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" ॥ ३ ॥

भाषार्थ—

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सब इस पुरुष की ही महिमा है, प्र०—जब उसकी महिमा का परिमाण है तो अंत

भी होगा ? उ०-(अतोज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष की अनंत महिमा है क्योंकि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में वसता है (त्रिपादस्यामृतंदिवि) और जो प्रकाश गुण वाला जगत् है सो उससे तिगुना है, तथा मोक्ष सुख भी उसी ज्ञान स्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है ॥

इस प्रकार ईश्वर के सामर्थ्य का वर्णन उक्त मंत्रों में स्पष्ट है जिसको विगाड़ कर मूर्त्तिरहस्य पृ० ५ में ज्वाला प्रसाद भार्गव यह लिखते हैं कि उस ब्रह्म का अमृत त्रिपाद स्वरूप गो लोक में विराजमान है वही ब्रह्मा नारायण का अवतार हुआ और इसी विषय में इस चतुर्थ मन्त्र को भी लगाते हैं ॥

त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशनेअभि ॥ ४ ॥

सायणाचार्य्य इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि वही त्रिपात्पुरुष माया में आकर पुनः पुनः संसार रूप होते हैं और इसी अर्थ को गीता के इस श्लोक से मण्डन करते हैं कि अस्यसर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनास्थितोजगदिति ॥ अर्थ—इस जगत् को परमात्मा का अंश होना भगवान् कृष्ण ने भी कहा है कि मैं ही इस सबका सहारा होकर एक अंश से जगत् रूप हूं, यहां महीधर ने भी यही मायावाद वेदान्त का वेश पहनाया है कि सर्व वस्तु चराचररूप परमात्मा ही स्वयं हो गया । उव्वट ने उक्त मंत्र के

अर्थ, सायण महीधर दोनों से विरुद्ध किये हैं कि यह सब जगत् परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है इस प्रकार परमात्मा को जगत् का कारण कथन किया है, आधुनिक सनातन धर्म्मियों ने तीनो आचार्य्यों की मर्य्यादा को उल्लंघन करके उक्त मंत्र को अवतार विषय में लगाया है। मंत्रार्थ यह है कि वह परमात्मा अमृत रूप त्रिपाद् से ऊपर है अर्थात् त्रिपाद से उसकी इयत्ता नहीं कथन की गई, और जो चतुर्थांश रूप पाद था वह संसार रूप हुआ। (पादोऽस्येहाभवत्पुनः) "अस्य परमेश्वरस्य पादः इह संसारे अभवत्। ततश्चात्साशनाअनशने" सब जड़ चेतन की रचना में उद्देश से (व्याक्राम्यत्) व्याप्त हुआ, अर्थात् सब जगत् का कारण अंश रूप प्रकृति से जगत् को रचा और वह परमात्मा उक्त चार पादों से भी महान् है, चार पाद रूप उसकी सीमा नहीं, यह मंत्र का आशय है॥

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि उस निराकारेश्वर से जो कूटस्थ नित्य है जिसकी यह शिरादि अवयव महिमा है उस से यह साकार जगत् कैसे हुआ, इसके उत्तर में यह कहा है, कि—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः॥ ५॥

अर्थ—उस निराकार सर्व व्यापक परमात्मा से विराट उत्पन्न हुआ। विविधा राजन्ते वस्तु नियंत्रेति विराट—जिस में नाना प्रकार का कार्य्य जगत् रहे उसका नाम विराट है, अर्थात् यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ और यह ब्रह्माण्ड परमात्मा के उस अंश

रूप पाद से उत्पन्न हुआ, जो मृत्यु रूप चतुर्थ पाद अर्थात् परिणामी नित्य प्रकृति रूप पाद है, इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है, और उपादान कारण प्रकृति है इस प्रकार परमात्मा से जड़ जगत् की उत्पत्ति उसको विकारी सिद्ध नहीं करती । उस विराट प्रकृति कार्य्य रूप ब्रह्माण्ड से, (अधिपूरुषः) पुरुष में होने वाली सूक्ष्म प्रकृति, अंशो का कार्य्य जीवों का देह, अर्थात् प्राण वायु जिससे मिलके परिछिन्न चेतन जीव संज्ञा को धारण करता है जीव प्राण धारणे—इस धातु से जीव शब्द की सिद्धि है इससे भी यही पाया गया कि अधि पुरुष से प्राण वायु का अभिप्राय है, अन्यथा भूमि आदिकों से प्रथम जीव देह का वर्णन असङ्गत होता, पौराणिक लोग "अधि पूरुषः" के अर्थ ब्रह्मा के करते हैं जो उनके मत में वेद और सृष्टि का कर्ता है । यह अर्थ इन दो युक्तियों से खण्डन हो जाते हैं । (१) विराट जड़ जगत् से ब्रह्मा की उत्पत्ति उनके स्वमत विरुद्ध है । (२) इसी सूक्त के छठे मंत्र में यज्ञरूप परमात्मा से वेदोत्पत्ति मानी है जिससे पौराणिक ब्रह्म से वेदोत्पत्ति मानना खण्डन हो जाती है । (सजातः) का अन्वय "अधिपूरुषः" के साथ है और जिस पुरुष से यह विराट और इस प्राणधारी जीव का आविर्भाव हुआ वह "अतिरिच्यते"जीव प्रकृतिभ्यां भेदेनवर्त्तत" इत्यर्थः फिर भूमि आदि पृथक २ पुर उत्पन्न हुए, इस भेद के कथन करने की आवश्यक्ता इस लिये पड़ी कि कोई पुरुष (ततोविराडजायत) के अर्थ ईश्वर के अभिन्ननिमित्तोपादान के न समझ जाय । और इस बात को और भी स्पष्ट कर देने के लिये यह

छठा मंत्र हैं ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूस्तां-श्चक्रे वायव्या नारण्या ग्राम्याश्चये ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दाᳪसिजज्ञिरे तस्माद्यजुस्त स्मादजायत ॥७॥

अर्थ—उस परमात्मा से अन्न घृतादि सब पदार्थ उत्पन्न हुए और सब प्रकार के पशु आदि प्राणि, इस मंत्र से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष सूक्त में इस प्रकरण से सृष्टि उत्पत्ति और सृष्टि विद्या संक्षेप से वर्णन की गई है । इसमें अवतार का कोई प्रकरण नहीं। इसी बात को यह सातवां मंत्र स्पष्ट सिद्ध करता है कि उस यज्ञ रूप परमात्मा से ऋग् यजु आदि वेद उत्पन्न हुए, जब उस निरा-कार ईश्वर से ऋगादि वेद उत्पन्न हो गए तो फिर सृष्टि उत्पन्न होने में क्या कठिनाई थी, इस मंत्र में वेदों की उत्पत्ति मानना सर्व सम्मत है । ज्वाला प्रसाद भार्गव इस मंत्र के अर्थ यह करते हैं कि उस यज्ञ महामारायण से जो ब्रह्म का प्रथम अवतार है और सनातन धर्म्म के चतुर्विंशति अवतारों से वहिष्कृत है, उससे वेद उत्पन्न हुए, यह अर्थ भी यह सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मा जी से वेदों की उत्पत्ति मानना सनातन धर्म्मियों का वेद विरुद्ध है इसी न्यूनता के कारण पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने उक्त मंत्र को वेदोत्पत्ति में नहीं लिखा, अस्तु प्रकृत यह है कि इस पुरुष सूक्त से जो सनातन धर्म्मी लोग अवतार सिद्ध करते हैं यह बात इस सूक्त से कदापि सिद्ध नहीं हो सकती ॥

और जो इस सूक्त से ब्रह्म की साकारता सिद्ध की जाती है वह भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यदि इस सूक्त का साकार वाद में अभिप्राय होता तो, "एतावानस्यमहिमा" इस मंत्र में प्रकृति रूप अंश को पादरूप कथन करके ब्रह्म का अमृत स्वरूप न कथन किया जाता, और नाही "त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः" इस मंत्र में असीम स्वरूप परमात्मा का निरूपण किया जाता इत्यादि तर्कों से इस सूक्त का साकार वाद में तात्पर्य्य नहीं। और जो ज्वालाप्रसाद मिश्र यह लिखता है कि यदि ब्रह्म निराकार था तो निराकार से निराकार ही होना चाहिये था, यह साकार सृष्टि क्या स्वामी जी के घर से आगई तिमिर भास्कर पृ० ८५ यह दिव्य दृष्टि का तर्क मिश्र जी को तभी तक सूझता है जब तक सनातन धर्म्म के बड़े २ आचार्य्यों के घर तक मिश्र जीकी दृष्टि नहीं पड़ी। यदि मिश्र जी तर्क पाद के सू० ११ के शङ्कर-भाष्य को देखते तो ऐसे तर्क से कदापि तृप्त न होते कि "निरा कार से तो निराकार ही होना चाहिये था" क्योंकि उस में काणाद मत निराकरण करते हुए स्वामी शङ्कराचार्य्य ने यह माना है कि चेतन ब्रह्म से भी अचेतन सृष्टि हो सकती है। मिश्र जी के मत में तो जड़ ब्रह्म से ही जड़ सृष्टि होनी चाहिये, इस लिये यह आधुनिक मिश्र, वेदान्त परिष्कार कर्ता वाचस्पति मिश्र के सम सनातन धर्म्म परिष्कार करते हुए ब्रह्म को जड़भी अवश्य मानेंगे॥

और जो यह लिखा है कि इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है स्वामी जी गुण कर्म्म के गीत गाने लगे, यह तर्काभास

वादी को भी कलङ्कित करता है क्योंकि वादी भी सृष्टि की उत्पत्ति में जन्म से ब्राह्मणादि के गीत गाते हैं, यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मणादि जाति की उत्पत्ति तो उत्पत्ति प्रकरण में है ? इसका उत्तर यह है कि एवं गुण कर्म्म से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति भी सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण में ही श्री स्वामी दयानन्द जीने निरूपण की है फिर यह गीत कैसे ॥

पर सच है वादी को "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र के स्वामी कृत अर्थ गीत क्यों न मालूम हों क्योंकि उसको तो इस बात का कष्ट है कि "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" के अर्थ मुखादि अवयवों को उपचारार्थ मानके क्यों किये गए, क्योंकि उपचार मानने से इनका ईश्वर साकार उड़ जाता है, और जो वादी प्रकरण का अनुसरण करके "मुखंकिमस्यासीत" का प्रश्न उठाकर मुखादि अवयवों के मुख्यार्थ को दृढ़ करता है, और स्वामी कृत अर्थ का उपहास करता है, वह यह नहीं देखता कि मैं "तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋच:" इस मंत्र को वेदोत्पत्ति प्रकरण से निकालकर सृष्टि उत्पत्ति में डाल क्यों चुप चाप रह जाता हूं। यों तो निराकार ईश्वर से वेदोत्पत्ति होने में आप नाना प्रकार के तर्क करते हैं पर इस मंत्र के अर्थ करने में वादी के मुख से एक भी अक्षर नहीं निकलता, केवल अपने वाग् व्यापार से इधर उधर के गीत गाकर ही मंत्रार्थ करने से सर्वथा शून्य रह जाता है और तर्क यह देता है कि (गाय, घोड़े, बकरी कहां से उत्पन्न हो गए क्या इनका भी किसी के हृदय में प्रकाश कर

दिया था) तिमिरभास्कर पृ० ८५ यहां तो मिश्रजी ने योग्यता की पूरी योग्यता प्रकट कर दी, जो गाय, घोड़े, बकरी आदि का प्रकाश वेदों के समय किसके हृदय में हुआ यह प्रश्न किया, पर यह नहीं सोचा कि यह दोष तो ब्रह्मा के हृदय में वेद प्रकाश मानने वालों के मत में भी तुल्य है, क्या जब आपके मत में ब्रह्मा को वेद दिये गये तो क्या गाय, घोड़े ब्रह्मा जी के हृदय में ही प्रकाश किये गये। कहीं निराकार ईश्वर सिद्ध न हो जाय इस भय से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का प्रकाश आपने माना है तो क्या आपके साकार ईश्वर ने ब्रह्मा जी के हृदय में वेद पकड़ा दिये थे? अस्तु, पर यह बतलाएं क्या गाय घोड़े का रस्सा लगाम भी परमेश्वर ने ब्रह्मा जी के हाथ में पकड़ा दिया था? या गाय घोड़ों की उत्पत्ति के लिये आपके साकार ने कोई आकार प्रथम ही बना छोड़ा था? यदि पौराणिक मत की शरण लेकर इस प्रश्न से बचोगे तो मनुष्याकृति स्त्रियों से पशु आदिकों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जैसी कि भागवत में मानी है। यदि "तस्मादश्वाअजायन्त" उस परमात्मा की शक्ति से सब अश्वादि उत्पन्न हुए, इस वैदिक सिद्धान्त की शरण लें तो यह बतलावें कि आपके साकार ईश्वर ने तो मुखादि अवयवों से सृष्टि पैदा की, कहो पशु कौनसे अङ्ग से पैदा हुए? क्या इन की भी अपनी वर्ण व्यवस्था के सम गाय को ब्राह्मण की उत्पत्ति का स्थान देकर वृषभ को स्वकल्पित ब्राह्मण का सहोदर बनावेंगे, एवं क्षत्रियादिकों का किस पशु को सहोदर बनायेंगे॥

यहां स्वमत को तो स्पष्ट करना था, वा वर्षा के समय आपके

ईश्वर ने हाथी घोड़े ऊपर से फेंक दिये, या मेंड्कों के सम वर्षा-काल में उत्पन्न हो गए? हमारे वैदिक सिद्धान्त में तो पश्वादिकों की उत्पत्ति ईश्वर शक्ति से मानी है जिस में स्त्री पुरुष के जोड़े से उत्पत्ति का क्रम पश्वादिकों में कहीं भी नहीं। और जो ज्वाला प्रसाद मिश्र ने ब्रह्मा जी की उत्पत्ति का आक्षेप आर्य्य सिद्धान्तों पर करके यह लिखा है कि "तो आपने ईश्वर की भी लुगाई बनाई होगी, जिस से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए" तिमिर भा० पृ० ४२ यह अपनी घरों की पौराणिक बात का झूठ मूठ स्वामी जी के मन्तव्यों पर दोष लगाकर यह मिथ्या आक्षेप किया है। स्वामी जी ने पौराणिक लोगों के सम ब्रह्मा को सब से प्रथम कहीं नहीं माना, और न कहीं स्त्री पुरुष के जोड़े से प्रथम मनुष्यों की उत्पत्ति मानी है अतः ईश्वर की लुगाई मानने की आवश्यक्ता तो आधुनिक सनातन सिद्धान्त में है न कि आर्य्य सिद्धान्त में। रही यह बात कि आर्य्य सिद्धान्त में पश्वादिकों की उत्पत्ति बिना माता पिता पूर्व काल में कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा की शक्ति से पश्वादि, स्वेदज जन्तुओं के सम प्रथम ईश्वर नियम से उत्पन्न हुए इसी बात को यह अष्टम मंत्र कथन करता है॥

तस्मादश्वा अजायन्त येकेचोभयादतः। गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

अर्थ—उस परमात्मा से गौ अश्वादि सब पशु उत्पन्न हुए। सनातन धर्म के उव्वट और महीधराचार्य्य इस मंत्र का यह आशय बतलाते हैं कि यह मंत्र यज्ञ के प्रकरण को चलाता है क्योंकि

यज्ञ पशुओं से विना सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये इस मंत्र में पशुओं की उत्पत्ति कथन की गई है उब्बट और महीधर की प्रतीक यह है, "नह्निपशुभिर्विना यज्ञः सिध्येत्" अर्थ—पशुओं से बिना यज्ञ सिद्ध नहीं होता। यहां पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र यदि अपने उब्बट महीधराचार्य्य की शरण में रहते तो अपने बीसवें सिद्धान्त में यज्ञ की परिभाषा करते हुए यज्ञ में पशुवध से किनारा न करते ॥

दूसरी बात यह है कि यदि उक्त भाष्यों तक दृष्टि पहुंचती तो गुण कर्म के अर्थ को गीत न बतलाते, क्योंकि यहां तो सनातन धर्म्म के सब आचार्य्यों ने इस जगदुत्पत्ति प्रकरण में यज्ञ प्रकरण भी माना है, और इस नवम् मंत्र से यज्ञ में पशुवध स्पष्ट सिद्ध किया है, इसी लिये आज कल के सनातनधर्म्मी इस मंत्रार्थ से किनारा करते हैं, ज्वालाप्रसाद भार्गवादि इसको स्व पुस्तक में लिखते ही नहीं, और प्रकरण के अनुसरण का बड़ा दम्भ भरने वाले पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र भी "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र में श्री स्वामी दयानन्द जीके अर्थों को खण्डन करते हुए प्रकरण यों बतलाते हैं कि जिस परमेश्वर का यजन किया उसकी कितने प्रकारों से कल्पना हुई, उसका मुख भुजा उरु कौन हुए, और कौन पाद कहे जाते हैं ? इसके उत्तर में (ब्राह्मणोस्येति) यह मंत्र है ति० भा० पृ० ८३। यहां साफ ही उस बात पर पड़दा डाल गए जिसका यज्ञ किया जाना महीधर उब्बट मानते थे, उसको उलटा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के अर्थों को मानकर यह लिखते हैं कि जिस परमेश्वर का यजन किया यहां यह स्मरण

रहे कि परमेश्वर विषयक इस मंत्र को स्वामी दयानन्द जी ने ही लगाया है सन्देह हो तो देखो पुरुष सूक्त भाष्यभूमिका पृ० १२५

मंत्रार्थ स्पष्टतया यह है कि (तंयज्ञं) उस यज्ञ परमात्मा को यज्ञ यहां परमेश्वर का नाम है यह अर्थ "तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋच:" इस मंत्र से उभय पक्ष को सम्मत है (बर्हिषि) हृदय स्थान में स्मरणात्मक संस्कार से (पुरुषं जातमग्रत:) यह उस यज्ञ पुरुष का विशेषण है कि कैसे पुरुष को जो सृष्टि से प्रथम (जातं) जनि प्रादुर्भावे से जात शब्द निष्पन्न हुआ है जिस के अर्थ प्रकट के हैं अर्थात् सृष्टि से प्रथम जो सब जगह प्रगट था उसी से देव विद्वान् साध्या: साधन सम्पन्न ज्ञानी लोग "ऋषयो मंत्र द्रष्टार:" ऋषि मंत्रार्थों के परम ज्ञाता लोग उसी परमात्मा से पूर्व कल्पों में यज्ञ करते रहे यह मंत्र के अर्थ हैं। जिस में महीधर ने "यूप" यज्ञस्तम्भ में बांधे हुए पशु के किये हैं, इसी कारण इसमंत्र को गोप्य करके "यत्पुरुषं व्यदधु: कतिधा व्यकल्पयन्" इस मंत्र से तिमिर भास्कर में प्रकरण चलाया है अस्तु इस प्रकरण से भी उनका मत सिद्ध नहीं होता, इस मंत्र में (व्यकल्पयन्) कल्पयन् क्रिया इस अर्थ को सिद्ध करती है कि उस पुरुष के मुखादि अवयव कल्पना किये गए हैं वास्तव में उसके मुखादि नहीं। यही अर्थ "चन्द्रमा मनसोजात:" इस मंत्र के भाष्य में उव्वट ने किये हैं कि "चन्द्रमा मनस: चेतस: जात: प्रजायतेति कल्पना" चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ यह कल्पना है और इसी बात को मंत्र १३ में स्पष्ट कर दिया है कि

यह जो परमात्मा के अवयवों की कल्पना की गई है यह कल्पित है वस्तुतः नहीं, इसी लिये उव्वट लिखता है कि "तथैव सर्वान् लोकान् पुरुषस्यावयव भूतान् अकल्प यदिति" अर्थ-इसी प्रकार पुरुष के अवयव रूप सब लोकों की कल्पना की गई। यहां यह प्रश्न होगा कि यहां उव्वट के अर्थ क्यों प्रमाण किये जाते हैं, और जहां २ उव्वट भाष्यकार के अर्थ अपने से विपरीत आते हैं वहां क्यों छोड़ दिये जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जब वादी के माने हुए सनातन भाष्यकारों में से एक भी उनके विपरीत हो तोभी हमारा पक्ष दृढ़ होता है क्योंकि उनके पक्ष का भाष्यकार जब ईश्वर की अवयव कल्पना कल्पित मानता है तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज कलके सनातन धर्म्मी जो पुरुष सूक्त से ईश्वर को साकार सिद्ध करते हैं यह उनकी भूल है। पुरुष के अवयवों की कल्पना को न केवल उव्वट ही मानता है किन्तु अद्वैत विद्याचार्य्य श्री शङ्कराचार्य्य स्वामी रामानुजाचार्य्य प्रभृति सब परमार्थ विद्या के आचार्य्य लोग साकार निरूपण को उपचार ही मानते हैं इस बात को हम बहुधा स्पष्ट कर चुके हैं जैसे कि "द्यौ मूर्द्धानं यास्य विप्रा वदन्ति खंवै नाभी चन्द्र सूर्य्य चनेत्रे" इत्यादि प्रमाणों से पूर्वोक्त आचार्य्यों ने मूर्द्धादि अवयवों की कल्पना उपचार से मानी है अब यह सिद्ध हुआ कि मुखादि अवयव उस पुरुष के कल्पित हैं अर्थात् उपचारार्थ वाले हैं तो फिर उन मुखादि अवयवों से जो ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति मानी है वह मुख्य कैसे समझी जाय ॥

यदि वादी स्वमत के दृढ़ आग्रह से यह कहे कि "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि पुरुष सूक्त के मंत्रों में जो२ ईश्वर के अवयव कथन किये हैं वह सब मुख्यार्थ वाले ही हैं उपचारार्थ इस सूक्त में कहीं भी नहीं तो हम यह पूछेंगे कि १५वें मंत्र में जो "अबध्नन्न पुरुषं पशु" यह पाठ है इसके क्या अर्थ हैं, आपके भाष्यकार यहां पुरुष में पशु बुद्धि करते हैं कि वह यज्ञ पुरुष पशु रूप से यज्ञ में स्थित है वास्तव में पशु नहीं तो क्या आप यहां उस परमात्मा पुरुष को साक्षात् पशु बना देंगे? यह हम दृढ़ प्रतिज्ञा से बल पूर्वक कहते हैं कि सहस्रों सनातन नामावलम्बी पुरुष सूक्त को साकारवाद में लगाने वाले यदि एक तरफ होकर प्रबल बल लगाएं तब भी यहां पुरुष को पशु कहना मुख्य सिद्ध नहीं कर सक्ते किन्तु गौण ही सब मानेंगे, फिर मुखादि अवयव उसके मुख्य कैसे माने जाते हैं? परिणाम यह निकला कि जब मुखादि अवयव ही परमेश्वर के आरोप से कथन किये गए तो उनसे ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति कैसे? और "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्याद मंत्रों से साकार ईश्वर की सिद्धि कैसे? परमात्मा के मुखादि अवयव मुख्य मानकर ब्राह्मणादि वर्णों को जन्म से सिद्ध करना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है। उक्त दोनों मंत्रों का अर्थ यह है, कि (यत) (यदा) जिस समय में (पुरुषं) परमात्मा के अङ्गों की (व्यदधुः) कल्पना की गई (कतिधा) (व्यकल्पयन्) कितने प्रकारों से कल्पनां की गई (मुखं) मुख (किं) क्या (अस्य) परमात्मा का (आसीत्) था (किं) क्या

(बाहू) भुजाएं (किं) क्या (उरू) जंघा (पादा) पांव (उच्येते) कथन किये गए, मंत्रार्थ यह हुआ कि परमात्मा में जो अङ्गों की कल्पना की गई वह कितने प्रकारों से की गई मुख बाहू उरूपाद क्या २ कल्पना किये गए? इस प्रश्न के उत्तर में "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" यह मंत्र है, इस सङ्गति को पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र भी स्वीकार करते हैं फिर कैसे कह सक्ते हैं कि ब्राह्मणादि वर्ण परमात्मा के मुखादि अवयवों से उत्पन्न हुए, क्योंकि प्रश्न में यह बात स्पष्ट है कि "मुखं किमस्यासीत्" परमात्मा का मुख क्या था प्रश्न यह नहीं, किन्तु मुख से क्या उत्पन्न हुआ? क्या यह अनर्थ हो सक्ता है कि परमात्मा ने यह प्रश्न करके कि मुख क्या था और मुख से उत्पन्न होने वाले का उत्तर दिया, यह प्रश्न विरुद्ध उत्तर ज्वालाप्रसाद मिश्र को ही शोभता है ईश्वर को नहीं ॥

और जो वादी ने यह कहा है कि मंत्र में कोई ब्राह्मण क्षत्रिय के लक्षण नहीं पूछता है किन्तु ईश्वर विषयक प्रश्न है, जब ब्राह्मण क्षत्रिय के लक्षण नहीं पूछे तो जन्म कहां पूछा है? हमारा सिद्धान्त तो प्रश्नोत्तर में स्पष्ट है जो मुखादि अवयवों का प्रश्न था उसके उत्तर में ब्राह्मणादि वर्ण मुखादि रूप प्रतिपादन किये गए, ब्राह्मणादि वर्ण उपचार से उसके मुखादि कहे गये हैं यह आशय "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इस मंत्र में स्पष्ट है, अर्थ यह है कि (ब्राह्मणः) ब्राह्मण शब्द से यहां आशय यह है कि ब्रह्म नाम वेद का है ब्रह्मवेदस्तमधीते इति ब्राह्मणः- ऐसा ब्राह्मण उस परमात्मा का मुख है एवं क्षत्रियादि शब्दों के यौ-

गिक अर्थ से जो क्षत्रियादि वर्ण हैं उनमें से क्षत्रिय बाहू-वैश्य उरु-शूद्रपाद-उस पुरुष के कल्पना किये गए हैं। यद्यपि इस वेद मंत्र में गुण कर्म्म से ब्राह्मण वा जन्म से ब्राह्मण इसकी कोई व्याख्या नहीं तथापि गुण कर्म का पक्ष इस लिये दृढ़ पाया जाता है कि आदि सृष्टि में जन्म से जाति की प्रवृत्ति न थी और यह तर्क भी इस वात का बाधक है कि एक जन्म का ब्राह्मण माना हुआ और कर्म्म से रावणादिकों के सम राक्षस परमेश्वर का मुख कहलाने योग्य कैसे हो सक्ता, प्रत्युत अतिनीच समझा जाकर आधुनिक सनातन धर्म्मियों की सम्मति में भी ईश्वरावतार से बध किये जाने योग्य होता है तो परमेश्वर के मुख होने की कथा ही क्या ?

और जो "पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" इस में पञ्चमी विभक्ति के उत्पन्न होने के अर्थ वादी अत्यन्त वल से कहता है इसका उत्तर उन्हीं के मत से यह है कि "नाभ्या आसी दन्तरिक्षं" यहां पञ्चमी के अर्थ उव्वट यह करता है कि "तस्यैवं विध पुरुषस्य या नाभिः तदेवान्तरिक्षं नभः" अर्थ-पूर्वोक्त पुरुष की जो नाभी है वही अन्तरिक्ष आकाश है अर्थात् नाभि स्थानी आकाश है, यहां आपके उव्वटाचार्य्य ने उत्पत्ति के अर्थ क्यों नहीं किये, करते ही कैसे जव कि इस साकार प्रकरण को ही आचार्य्य लोग उस परमात्मा की अङ्ग कल्पना समझते हैं, देखो इसी मंत्र का उव्वट भाष्य, "यद्यौतत् शीर्षं शिरः समवर्त्तत इति कल्पितम्" अर्थ-जो द्यौलोक है वह शिर कल्पना किया

गया और जो "चन्द्रमा मनसोजात:" इस मंत्र से उत्पत्ति का प्रकरण सिद्ध करते हुए महाडम्बर से साकार वाद का आकार बांधते हुए पं:ज्वालाप्रसाद मिश्र ने स्वामीजी के उक्त मंत्र के मन के अर्थों पर रुष्ट होकर वर्णसंकर की रीति चलाने वाले इस प्रकार अनन्त गालियों की बोछाड़ झाड़ते हुए यह सिद्ध किया है कि मन के अर्थ मननशीला के नहीं किन्तु ईश्वर के मन के हैं। यहां भी अवयवार्थ से तो नहीं भाग सक्ते "मन्यते बुध्यते अनेनेति मन:" यह अर्थ तो मानना ही पड़ेगा, फिर इतना रोष क्यों जो श्री स्वामी दयानन्दजी का नाम लेकर गालियें दीं अस्तु हम इन की इस निन्दित प्रकृति की ओर ना जाकर इनके सम्प्रदायी मनके माने हुए अर्थों को खोलते हैं देखो गीता में कृष्ण जी कहते हैं "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना" यहां मनके अर्थ स्वामी शङ्कराचार्य्यादि भी यौगिक ही मानते हैं, वहुत क्या यहां तो आपके परमेश्वर स्वयं मन बन गए, फिर वह मन साकार कहां रहा जिससे चन्द्रमा उत्पन्न करेंगे। आपके मत में तो चन्द्रमा को मन का कार्य्य कहना एक ऐसा गोरख धंधा है जो आज तक किसी से भी नहीं सुलझा देखो "नक्षत्राणामहंशशी" इस गीता वाक्य से चन्द्रमा भी आपके भगवान ही वनगए, यदि चन्द्र रूप से कलङ्कित है तो भी आपके भगवान ही हैं, यदि गोतम की स्त्री पर आसक्त हैं तव भी आपके भगवान ही हैं, यदि ऐसे भगवान का ध्यान धरके आप इस पुरुष सूक्त का आशय समझते हैं तो तथास्तु पर इसकी व्यवस्था क्या करेंगे कि यहां तो "चक्षो: सूर्य्योऽजायत:" इस

वाक्य में आपके मत में साकार परमेश्वर की आंखों से सूर्य्य उत्पन्न हुआ और गीता में "ज्योतिषां रविरंशुमान्" इस वाक्य में सूर्य्य परमेश्वर है इस दुर्घट घाटी में तो आप सब नाम रूप को मलियामेट करके विवर्त्तवाद का आश्रय लेकर सब को ब्रह्मात्मक सिद्ध करेंगे, यह क्या विचित्र चित्र है कि यहां इतनी उदारता कि सब ब्रह्म विवर्त्त होने से कल्पित है और एक कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही सत्य है, वह सदा निराकार एक रस है, और इस पुरुष सूक्त के आशय वर्णन करने में इतनी कृपणता कि यहां ब्रह्म के मुखादि अवयवों का अलङ्कार रूप से वर्णन मानने में इतनी ननु नच करते हैं कि आपके मनके अवयवार्थ भी इतने चुभते हैं कि मनको भी साकार ही मानकर उससे चन्द्रमा द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं ॥

क्यों न हो यही तो न्याय और दार्शनिक विद्या का तत्व है एवं विध विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण ईश्वर को देह धारी कथन नहीं करता किन्तु रूप का उपन्यास करके ईश्वर की निराकारता सिद्ध करता है, अन्यथा "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" इत्यादि मंत्रों की सङ्गति इस पुरुष सूक्त में कैसे रहती ? उक्त मंत्र में उस पुरुष के ज्ञान का महत्व वर्णन किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि उक्त पुरुष के ज्ञान से भिन्न और कोई मुक्ति का मार्ग नहीं। इस मंत्र में जो महान् शब्द आया है उससे यह भी प्रकट हो गया कि यहां महान् शब्द का तात्पर्य्य असीम परमेश्वर का है फिर ससीम साकारादि रूप परमेश्वर का कैसे हो सक्ता है ॥

उव्वट भाष्यकार यह अर्थ करते हैं कि "महान्तं देशकालवस्त्व, दवच्छेदरहितं" अर्थ—महान्त का अर्थ देश काल वस्तु कृत परिच्छेद रहित का है उक्त त्रिविध परिच्छेद रहित वही वस्तु रह सक्ती है जो साकार न हो क्योंकि साकार वस्तु एक देश में होती है इस लिये देश कृत परिच्छेद वाली होती है एक काल में होने से काल परिच्छेद वाली होती है मूर्त्ति होने से वस्तु कृत भेदवाली होती है ॥

सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त ईश्वर उक्त दोषों से रहित है इस प्रकार मीमांसा करने से इस सूक्त में ईश्वर के साकार होने का गंध मात्र भी नहीं पाया जाता। पर एवं पूर्वोत्तर मंत्रों का विस्तार पूर्वक आशय वर्णन करने से ग्रंथ बढ़ता है अतएव हम मंत्रार्थ मात्र लिखते हैं। केवल संक्षेप से उन मंत्रों के पौराणिक अर्थ सूचित कर दिया करेंगे ॥

चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत। श्रोत्रा द्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त परमात्मा जिससे विराट उत्पन्न हुआ और जिससे ऋगादि वेद चतुष्टय उत्पन्न हुए, उसके (मनसः) मनन रूप सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ (चक्षुः) तेज रूप सामर्थ्य से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, और (श्रोत्र) सूक्ष्म आकाश रूप सामर्थ्य से (वायुः) साधारण वायु और प्राण वायु उत्पन्न हुई (मुखादग्निरजायत) मुख्य ज्योति रूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष एशीर्ष्णोद्यौः समवर्त्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोका २ ॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

अर्थ—उस परमात्मा की (नाभि)अवकाशरूप सामर्थ्य से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ (शीर्ष्णो) शिरोरूप उत्तम सामर्थ्य से (द्यौ) सूर्य्यादि लोक, (पद्भ्यां,) पादरूप अर्थात् स्थूलरूप होने से वा गतिरूप होने से पादरूप पृथवी के कारण परमाणुरूप सामर्थ्य से भूमि उत्पन्न हुई और (श्रोत्रात्) अवकाशरूप सामर्थ्य से पूर्वोत्तरादि दिशाएं उत्पन्न हुईं (तथालोकांअकल्पयन) तथा पूर्वोक्त प्रकार से लोक लोकान्तरों के कारणरूप सामर्थ्य से सब लोकान्तर उत्पन्न हुए ॥

"चन्द्रमा मनसोजातः" इससे और "नाभ्याऽसीत्" इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति उस पूर्ण परमात्मा के सामर्थ्य से दिखलाई गई, अब यज्ञ का प्रकार परमात्मा दिखलाते हैं ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। बसन्तो ऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

अर्थ—(यत्पुरुषेण हविषा) उस परमात्मा के दिये हुए हविः से देव लोग जो यज्ञ करते हैं उस यज्ञ में यह सामग्री हैं, बसन्त ऋतु उस यज्ञ का (आज्य) घृत है ग्रीष्म ऋतु (इध्म) समिधाएं और शरदृतु उस यज्ञ का (हविः)हवन की सामग्री, भाव यह है कि प्राकृत नियम से उक्त यज्ञ होता है जिसमें वसन्त काल में जो वनस्पति आदि फूलते हैं उनके रसादि ग्रीष्मकाल

रूपी अग्नि में घृत के समान हैं शरदृतु के पदार्थ हविः के समान हैं यह प्राकृत यज्ञ उस पुरुष परमात्मा के नियम से है और यह वक्ष्यमाण इस यज्ञ में परिधियें हैं एक विंशती समिधाएं हैं।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्त समिधःकृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

अर्थ— देवलोग जिस यज्ञ को करते हैं और (पुरुषं) परमात्मा अविशेषेण, सर्वं पश्यतीतिपशुःदृशि प्रेक्षणे से यह शब्द उणादि प्रत्यय होने से बनता है दृशिको पश्यादेश होजाता है, एवं विध सर्व द्रष्टा जो परमात्मा है उसको देव उपासक लोग (अबध्नन्) ध्यान द्वारा अन्तः करण में स्थिर करते हैं इस यज्ञ की पृथ्वी के ऊपर जो सात प्रकार के तत्वों की रचना है अर्थात् वायु आदिकों के चक्र हैं वही परिधि रूप हैं जो यज्ञ साधन वेदी की शोभा रूप हैं। पांच महाभूत, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञाने न्द्रिय पांच कर्म्मेन्द्रिय, इक्कीसवां मन, यह इक्कीस समिधा हैं, पूर्वोक्त साधन सामग्री से ध्यानी लोग परमात्मा देव का ध्यान करते हैं॥

पौराणिक लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि यह मंत्र पशु यज्ञ को सिद्ध करता है। "देवा इन्द्रादयः यथा यज्ञं पुरुष मेधाख्यं विस्तरयन्तः। पुरुषं पशुं अवध्नन् हतवन्तः" अर्थ—इन्द्रादि देव जिस प्रकार पुरुष मेध यज्ञ में पुरुष रूप पशु को हनन करते हैं एवं इस यज्ञ में उस परमात्मा रूप पशु को ध्यानी योगी लोग ध्यान द्वारा, दृष्टान्त दारष्टान्त का साम्य न होना पौराणिक मत का ही दोष है, हमें दर्शाना यह अपेक्षित

था कि पौराणिक लोग यज्ञ में पशुवध करना मानते हैं, जो पशु वध के दृष्टान्त से इस मंत्र में स्पष्ट कर दिया है ॥

वेद मंत्र का आशय हम ऊपर कथन कर आए हैं जिस में पुरुष का विशेषण पशु शब्द है जिसके अर्थ सर्व द्रष्टा के हैं अतएव वैदिक पथ पशुवध के कलङ्क से सर्वथा रहित है इसी बात को इस मंत्र से स्पष्ट करते हैं कि वैदिक लोग (यज्ञ) परमात्मा की उपासना से ही यज्ञ करते हैं नकि पशु आदिकों से ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । तेहनाकंमहिमानः सचन्त यत्र पूर्वेसाध्याःसन्ति देवाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञ) परमात्मा से (यज्ञं) यज्ञ का यजन करते हैं (तानि धर्म्माणि) वही धर्म्म (प्रथमाणि) सबधर्म्मों से मुख्य है, एवं विध यज्ञ करने वाले ही स्वर्ग को भोगते हैं । जिस स्वर्ग में (साध्या) साधन सम्पन्न लोग उक्त उपासना रूप यज्ञ करके पूर्व काल से सुखी हैं, स्वर्ग से यहां अवस्था विशेष का अभिप्राय है लोक विशेष का नहीं, अब इस यज्ञ प्रकरण के अनन्तर इस मंत्र में ईश्वर का जगत्कर्तृत्व का वर्णन करके परमात्मा के ज्ञान का महत्व कहते हैं ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्म्मणः समवर्त्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजा न मग्रे ॥ १७ ॥

लेने लगे हैं अन्यथा कब सम्भव था कि डाक्टर थीवो साहब की अनुमति से बने हुए ग्रंथ में श्री स्वामी दयानन्द जी के अर्थों का भाव झलके ॥

मंत्रार्थ दीपिका पृ० ७९ में "श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च" इस मंत्र के यह अर्थ किये हैं, हे पुरुषोत्तम ते तव श्रीलक्ष्मीश्च पत्न्यौ सह चारिण्यौ त्वामालभत इत्यर्थः चकार द्वयं तुल्य प्राधान्य ज्ञापनार्थं श्रीरैश्वर्य्यं लक्ष्मीर्धनं, यद् वशात् पुरुषो लोकानामाश्रयणीयो भवति यद् वशात् पुरुषः लोकानां वा सर्व लोकस्य लक्ष्मीर्दर्शनीयो भवति, लक्ष दर्शनाङ्कनयोरित्यस्यरूपम्। अहो रात्रे पार्श्वे अहन रात्रीश्च पार्श्वद्वयं अहः शब्दः परब्रह्म परः तस्य विद्यात्मकत्वेन प्रकाश रूपत्वात् रात्री शब्दः संसार परः प्रकृतिपरः तस्याविद्यात्मकत्वेन प्रकाशकत्वात् एतेन धर्मार्थकामात्मकः संसारः मोक्षश्च श्री परमेश्वर पार्श्वद्वयमित्युक्तं भवति॥

भाषार्थ–हे परमेश्वर श्री और लक्ष्मी यह दोनों आपकी पत्नी हैं अर्थात् आपके साथ सदा रहती हैं तुम्हीं को लाभ करती हैं यह अर्थ है, और दो चकार दोनों को बराबर बतलाने के लिये हैं श्री ऐश्वर्य्य का नाम है और लक्ष्मी धनका नाम है श्री से पुरुष सब लोगों के आश्रयण करने योग्य होता है, लक्ष्मी से सब लोगों के दर्शन योग्य हो जाता है अहः और रात्री यह दोनों उस परमेश्वर के पार्श्व हैं। अह शब्द परब्रह्म का वाचक है अर्थात् प्रकाशरूप होने से विद्यारूप है अप्रकाशरूप होने से रात्रि शब्द संसार का वाचक है इससे यह सार निकला कि धर्म्म और अर्थरूप यह संसार और मोक्ष यह दोनों पदार्थ परमे-

श्वर के पास हैं यह बात कही गई ॥

क्या कोई कह सक्ता है कि यह उत्तम अर्थ स्वामी दयानन्द जी की कृपा से नहीं निकले, उव्वट महीधर तो उक्त मंत्र को सूर्य्य पक्ष में लगाते हैं और उस सूर्य्य की श्री और लक्ष्मी यह दो स्त्रियें बनाते हैं इस अनर्थ को उल्लङ्घन करने का बल महामोह पाध्याय शत्रुघ्न शर्म्मा को सामाजिक प्रकाश से मिला है जिसको इस शतक में महर्षि स्वामीदयानन्द ने प्रकाशित किया है ॥

वास्तव में इस मंत्र में पुरुष सूक्त के भाव को कैसी उत्तमता के साथ उपसंहार किया है कि हे परमात्मन् संसार के सर्व ऐश्वर्य्य आपकी शोभा हैं सब सौन्दर्य्य आपके सौन्दर्य्य हैं यह दिन और रात आपके शुक्ल कृष्ण पक्ष की शोभा दे रहे हैं, एवं विध अनन्त शोभायुक्त आप हमारी एहिक पारलौकिक वासनाओं को पूर्ण करें, इस प्रार्थना से यह सूक्त समाप्त हुआ ॥

इतिपुरुषसूक्त व्याख्या समाप्तः ॥

"सहस्रशीर्षा" के समान साकारवाद में यह मंत्र भी असाधारण समझा जाता है प्रायः साकारवादी इसे स्व स्व ग्रंथों में उद्धृत करते हैं । स्वामी बालराम ने इसे अबोध ध्वान्त में लिख कर साकार का साधन किया है, मंत्र यह है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टि वर्द्धनम् ।
उर्व्वारुक मिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात् ॥

ऋ० अष्ट०५ अ०४ वर्ग० ३० ग्रन्थाङ्क २३ ।

(त्र्यम्बक) के अर्थ आधुनिक सनातन धर्म्माभिमानी यह करते हैं कि "त्र्यम्बक" तीन नेत्रों वाले शिव का नाम है उस त्रि नेत्र का पूजन इस मंत्र में लिखा है त्रि नेत्र होने से ईश्वर साकार सिद्ध हुआ ॥

संम्पूर्ण मंत्रार्थ से प्रथम हम "त्र्यम्बक" शब्द पर ही विचार करते हैं कि इसके क्या अर्थ हैं, सायणाचार्य्य इसके यह अर्थ करते हैं कि "त्रयाणां ब्रह्मा विष्णु रुद्राणां अम्बकं पितरं यजामहे" अर्थ-ब्रह्मा विष्णु रुद्र इन तीनों का पिता जो त्र्य-म्बक है हम उसकी पूजा करते हैं। इसप्रकार त्र्यम्बक के अर्थ जो तीन नेत्रों वाले के किये थे यह बात सायणाचार्य्य ने ही काट दी। रही यह बात कि(अम्बक)शब्द के क्या अर्थ हैं, अम्ब गतौ धातु से यह शब्द ण्वुल प्रत्यय से बना है, "अम्बति सर्वं चिद् चिद्दात्मकं वस्तु जातमिति ब्रह्मः" जो सब वस्तुओं में प्राप्त हो उसे "अम्बक" कहते हैं, एवं अर्थ यह निकला कि ब्रह्मा,विष्णु रुद्र, इन तीनों का अम्बक परमेश्वर है उसे "अम्बक" कहते हैं ॥

यदि (अम्बक) के अर्थ यहां नेत्र के भी माने जायें तब भी त्र्यम्बक शब्द से साकार तीम नयन वाला रुद्र सिद्ध नहीं होता। शब्दकल्पद्रुम में इसके यह अर्थ किये हैं, "त्रिणि अम्बकानि यस्यतत् त्र्यम्बकं ब्रह्मः" जिसके सूर्य्य चांद नक्षत्रादि यह तीन नेत्र हैं वह "त्र्यम्बक" है। इस प्रकार भी विराट का अधिकरण ब्रह्म ही त्र्यम्बक शब्द का वाच्यार्थ होता है ॥

अर्थ इस मंत्र के यह हैं कि हम "त्र्यम्बक" शिव की पूजा करते

हैं जो शिव परमात्मा "सुगन्धि" जिसकी सुष्टुर्गन्धि अर्थात् यश सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों में परिपूर्ण है और शारीरक आत्मिक सामाजिक तीनों प्रकार की (पुष्टि) उन्नति के बढ़ाने वाला है, एवं विध शिव रूप परमात्मा से प्रार्थना है कि हे परमात्मन् आप हमको मृत्युरूप बन्धन से छुड़ावें जिस प्रकार उर्व्वारुक फल स्वयं परिपक्व होकर लता से वियुक्त हो जाता है एवं हम आपकी कृपा से मृत्युरूप बन्धन से वियुक्त हों और अमृतरूप आपके स्वरूप से हम कदापि वियुक्त न हों ॥

इससे पूर्व मंत्र में भी ईश्वर से सब जीवों के कल्याण की प्रार्थना है । भेषजमसि भेषजंगवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै ॥ यजु० ३ । ५९ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर आप (भेषज) औषध रूप हैं, अश्व, पुरुष, और इनसे भी अल्पजीव मेष मेषी के लिये भी आप औषधरूप हैं अश्व पुरुषादि यहां प्राणी मात्र के उपलक्षण हैं अर्थात् आप प्राणीमात्र की पालना करने वाले हैं इससे यह सिद्ध है कि इस मंत्र में ईश्वर की उपासना की गई है और किसी मूर्त पदार्थ की नहीं । उव्वट महीधर ने भी इस मंत्र में कोई ननु नच नहीं की पशुमात्र के कल्याण की ही प्रार्थना है । अति गूढ़ार्थ इस मंत्र का वेदतत्व ज्ञाता कर्म्म काण्ड के आचार्य्य पं: भीमसेन जी को ही सूझा है जिन्होंने इसी मंत्र की शरण से आटे के मेष मेषी बनाकर यज्ञ में डाले, और इतना भी विचार न किया कि पशुमेध यज्ञके अनन्त श्रद्धालु यह लिखते हैं कि "अनेन मंत्रेण गृह पशूनां क्षेम प्राप्तिर्भवति" अर्थ—इस मंत्र से गृहके सब पशुओं की रक्षा

होती है, तो हम क्यों नकली पशुवध से असली पशुवध की ओर लोगों की रुचि बढ़ाते हैं। अस्तु प्रकृत यह है कि उक्त मंत्र त्र्यम्बक के साकार सिद्ध करने में कोई उपयोग नहीं रखता प्रत्युत निराकार ईश्वर की सिद्धि करता है। प्रायः साकार वादियों का यह भी कथन है कि यह मंत्र रुद्रका वर्णन करता है और रुद्र को यजुर्वेद के रुद्राध्याय में साकाररूप से वर्णन किया है इस लिये "त्र्यम्बकं यजामहे" यह मंत्र तीन नेत्रों वाले साकार शिवरूप ईश्वर को वर्णन करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह प्रतिज्ञा ही वेदार्थ विरुद्ध है कि रुद्राध्याय जिसको दूसरे शब्दों में नमस्ते अध्याय भी कह सक्ते हैं वहां रुद्र शब्द से सर्व स्थान में परमात्मा का ही ग्रहण है जैसा कि ज्वाला प्रसाद भार्गव ने निम्न लिखित गीता के श्लोक का आश्रयण करके लिखा है, "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्त: स्मृति ज्ञानमपोहनञ्चवेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यो वेदान्त कृत वेद विदेव चाहम्"। गीता० ॥

अर्थ—मैं सबके हृदय में हूं मेरे से स्मृति होती है और मैं ही ज्ञान को ढाप लेता हूं सब वेदों का "विद्य" जानने योग्य मैं ही हूं मैं ही वेदान्त का कर्ता हूं और वेदों का वेत्ता हूं। इस विषय की तो हम प्रथम ही मीमांसा कर आए हैं कि ऐसे श्लोकों को जहां कृष्ण जी सबका हर्त्ता कर्त्ता अपने को मानते हैं वहां मैं शब्द से अभिप्राय ईश्वर का है, अस्तु यहां यह बात प्रकरण में अपेक्षित नहीं, अपेक्षितांश तो यह है कि क्या वेदों का विषय

ईश्वर ही है जैसा कि इस श्लोक से भार्गव जी लेते हैं वा अन्य वस्तुएं भी वेदों का विषय है? पहले तो यह प्रतिज्ञा मुण्डकोपनिषद् के पांचवे श्लोक से ही विरुद्ध है कि वेदों में एक ईश्वर का ही वर्णन है अपराविद्या वेदों में नहीं ॥

दूसरी वात यह है जिसके विषय में सामान्य रीति से हम प्रथम भी लिख आए हैं कि रुद्राध्याय में रुद्रशब्द से सव जगह ईश्वर का ग्रहण नहीं, जहां तस्करों को नमस्कार है उसको "रुद्र" ईश्वर पक्ष में कोई भी नहीं कह सक्ता, उव्वट महीधरादि भी उन स्थलों में मौन वृत्ति से ही निर्वाह करते हैं। और जो श्री स्वामी दयानन्द जी पर यह आक्षेप किया गया है कि वह रुद्र के अर्थ राजा के मानते हैं जिस प्रकार से इस बात को कथन किया गया है यह ठीक नहीं, क्योंकि श्री स्वामीजी महाराज रुद्रशब्द के अर्थ ईश्वर के भी मानते हैं देखो सत्यार्थप्रकाश, पृ० १० तृतिया वृत्ति ॥

अव रही यह वात कि रुद्राध्याय में रुद्र शब्द के अर्थ स्वामी जी सव जगह ईश्वर के क्यों नहीं मानते? इसका उत्तर यह है कि जहां रुद्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं वहां स्वामी जी रुद्र शब्द को ईश्वर वाचक कैसे माने? जैसे कि "ये भूतानामधिपतय" यजु० १६।५९। उव्वट महीधर भी इस मंत्र में रुद्रशब्द को ईश्वर पक्ष में नहीं लगाते किन्तु भूतों के रक्षक पक्ष में लगाते हैं जिससे क्षत्रिय राजों का आशय भी निकल सक्ता है इतना ही नहीं देखो "येतीर्थानि प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः" यजु०।१६।६१।

इसके भाष्य में उव्वट यह लिखते हैं कि "ये रुद्रा तीर्थानि प्रयाग प्रभृति प्रचरन्ति सृका हस्ता सृका इत्यायुधनाम। आयुध हस्तानिषङ्गिणः तेषामित्युक्तम्" अर्थ-जो रुद्र प्रयागादि तीर्थों में शस्त्र हाथों में लेकर विचरते हैं (निषङ्गिणः) खड्ग धारण किये हुए हैं उनके विषय में यह कहा है और यही अर्थ महीधर ने किये हैं, इन अर्थों से यह सिद्ध होता है कि आपके भाष्यकार भी रुद्र शब्द के अर्थ सब स्थानों में ईश्वर के नहीं मानते, इन भाष्यकारों के मत में रुद्र शब्द क्षत्रिय विशेष वा देव विशेष का ही वाचक नहीं अपितु कहीं २ चोर डाकू का वाचक भी रुद्र शब्द है देखो इसी अध्याय के मंत्र ६० में उव्वट लिखते हैं "चोरादयोरुद्रावा" अर्थ-अथवा रुद्र शब्द के अर्थ चौरादि हैं, अब कहिये रोदयतीति, रुद्रः-इस व्युत्पत्ति लभ्यार्थ से घबराने का क्या काम है ॥

इस रुद्र शब्दार्थ विवेचन का सारांश यह निकला कि जहां साकार का वाचक रुद्र शब्द है वहां ईश्वर का वाचक नहीं, जैसे कि नमस्तेरुद्र मन्यवे उतते इषवे नमः। बाहुभ्यामुतते नमः। यजु० १६। १। अर्थ-हे रुद्र पापीजनों के दुःख देने वाले तुम्हारे क्रोध के लिये नमः हो और तुम्हारे धनुष के लिये नमः हो, और तुम्हारी भुजाओं को नमः हो, इस मंत्र में रुद्र शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं किन्तु राज पुरुष का है ॥ याते रुद्र शिवा तनूरघोरा पाप काशिनी। तया नस्तन्वा शान्त मया गिरिशन्ताऽभिचाकशीहि। य० २।

अर्थ–हे रुद्र जो तेरी कल्याण करने वाली तनू है (अघोरा) जो भयानक नहीं है और पापों के दूर करने वाली है उससे आप हमको देखें "गिरिशन्त गिरिवाची स्थित: शं सुखं तनोतीति गिरिशन्त" हे गिरिशन्त हे प्रिय वाणी बोलने वाले धर्मोपदेशक हमें कृपा दृष्टि से देखें ॥

इन मंत्रो को साकारवादी कैलाशवासी शिव में लगाते हैं (गिरिशन्त) के अर्थ "गिरिकैलाशे स्थित: शं सुखं तनोतीति गिरिशन्त" गिरि कैलाश में ठहरकर जो सुखका विस्तार करे उसे "गिरिशन्त" कहते हैं यह अर्थ करते हैं (गिरिशन्त) के अर्थ उव्वटादि आचार्य्यों ने तीन किये हैं एकतो जो (गिरि) वाणी में सुख विस्तार करे दूसरे जो (गिरि) मेघ द्वारा वृष्टि से सुख विस्तार करे, तीसरे जो (गिरि) कैलाश में स्थिर होकर सुख का विस्तार करे। क्या कारण जो हमारे सनातन भाई तीनों अर्थों में कैलाशवासी के अर्थ से ही प्यार करते हैं ? हमें तो इसका कारण यही मालूम होता है कि इनका पौराणिक शिव वेद से तभी सिद्ध हो सक्ता है कि जब (गिरि) के अर्थ कैलाश के ही माने जायें, इसी कारण से दूसरे दोनों अर्थों से अरुचि की जाती है ॥

हमारे मत में तो उक्त तीनों अर्थों से कैलाशवासी ईश्वरावतार इन मंत्रों से कदापि सिद्ध नहीं होता क्योंकि "गिरि" शब्द के अर्थ पर्वतमात्र के हैं उसमें रहकर सुख विस्तार करने से यह आशय है कि जो राज पुरुष हिमालय के उच्च शिखरों पर रहते हैं वह "गिरिशन्त" शब्द के वाच्य हैं (गिरि) शब्द के अर्थ कैलाश ही

लेने में कोई प्रमाण नहीं, वाणी द्वारा सुख विस्तार करने से सत्योपदेशक और राज पुरुष ही पाए जाते हैं, एवं मेघ द्वारा से आशय यह है कि जो मेघ की वृष्टि के सम अनवरत सत्योपदेश करता है वह "गिरिशन्त" कहलाता है ॥

इस बात को स्पष्ट कर देने के लिये कि इस अध्याय में साकार ईश्वर का वर्णन नहीं, प्रत्युत शस्त्रधारी क्षात्र धर्म्म के यहां योद्धाओं का और कई एक सत्कारार्ह जन्तुओं का वर्णन है इसलिये इस अध्याय के विशेष विवादस्पद मंत्रों पर विचार करते हैं, और उन मंत्रों को यहां सभाष्य लिखकर यह सिद्ध करते हैं कि कैलाशवासी पौराणिक शिव इस अध्याय का विषय नहीं।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे । शिवा ङ्गरित्र ताङ्कुरु माहिंसीः पुरुषंजगत्॥ यजु०१६।३

अर्थ—हे (गिरिशन्त) जिस वाण को शत्रु के ऊपर फेंकने के लिये आप हाथ में धारण किये हुए हैं हे (गिरित्र) "गिरौवेद वाण्यां स्थितः स्त्रायते वैदिकानिति गिरित्र" वैदिक मर्य्यादा पुरुषोत्तम क्षत्रिय जो (गिरि) वेदवाणी की मर्य्यादा में स्थिर होकर वैदिक लोगों की रक्षा करता है वह "गिरित्र" कहलाता है। इससे वैदिक धर्म्म की मर्य्यादा में स्थिर क्षत्रिय पाया गया, एवं विध क्षत्रिय से प्रार्थना है कि हे "गिरित्र" उस बाण को आप मंगल मय करें ताकि वह बाण धर्म्मार्थ काम मोक्ष इस फल चतुष्टय वाले जगत् की हिंसा न करे ॥

शिवेन वचसात्वा गिरि शाच्छावदामसि । यथा नः सर्व मिज्जगद यक्ष्मं सुमना असत् ॥ यजु० १६ । ४ ॥

अर्थ—हे राज वैद्य आप (सर्व इत् जगत्) इस सब जगत् को (अयक्ष्मं) यक्ष्मारोग रहित और (सुमना) शोभन मन बाला करें हे (गिरिश) आपसे यह प्रार्थना करता हूं आप हमारा मंगल करें, इस मंत्र में केवल एक गिरिश शब्द है जिसके अर्थ गिरि कैलाश में सोने वाला करके पौराणिक लोग कैलाश बासी शिव सिद्ध करते हैं वास्तव में इसके यह अर्थ हैं कि गिरौपर्वते औषधार्थं शेते रमते, इति"गिरिश"ः। जो पर्वतों में औषधों के ढूंढ़ने के लिये, शेते के अर्थ अत्यन्त दत्तचित्त होकर रम जाने के हैं और बात यहां यह भी स्मरण रखने योग्य है कि शिव यहां बाणी का विशेषण है और मङ्गल वाचक है जहां केवल शिवं भवतु, कहा जाता है वहां अर्थ यही होता है कि मङ्गल हो, इस प्रकार केवल शिव शब्द आजाने से भी ईश्वर का ग्रहण नहीं पाया जाता, आगे के इस पञ्चम मंत्र में भिषक शब्द स्पष्ट पड़ा है जिससे इस मंत्र में भी वैद्य का अभिप्राय है ॥

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्योभिषक् । अहींश्चसर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्चयातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥ यजु० १६ । ५ ॥

अर्थ—वैद्यक शास्त्रवेत्ता वैद्य मुझको (अध्यवोचत्) अधिवदतु

उपदेश करें, कैसा वैद्य वैद्यक विषय उपदेश करने योग्य होता है इस बात को खोलते हैं (अधिवक्ता) जो सर्वोपरि योग्यता रखता हो, मुख्य हो, (दैव्यः) विद्वान लोगों से हित करने वाला हो (भिषक्) इस प्रकार का वैद्य निम्न लिखित उपदेश करे कि तुम लोग सांप के सदृश विष फैलाने वाले सब रोगों की निवृत्ति करो और रोग करने वाली स्त्रियों को राक्षसी के समान समझ के उनसे दूर रहो ॥

उव्वट और महीधर इसके अर्थों में और कोई विशेष भेद नहीं करते अपने मनोर्थ मात्र के माने हुए रुद्र को वैद्य मानकर इस मंत्र को लगाते हैं, मंत्र के विषय से जो वैद्य का उपदेश पाया जाता है उसको नहीं छोड़ सक्ते, इतना भेद अवश्य करते हैं कि (यातुधान्यः) के अर्थ राक्षसियों के करते हैं, अमरकोष की रीति से यातुधान नाम राक्षस का है इसी कारण इस वेदार्थ में भूत प्रेतादि के सन्देह डालरहे हैं वास्तव में "यातुनि दुखानि प्राणिषु धारयन्तीति यातुधान्यः" जो प्राणियों में दुःख उत्पन्न करें उन्हें यातुधान्यः कहते हैं। इस अर्थ से दुखोत्पादिका दुराचारिणी स्त्रियेंपाई जाती हैं। इस मुख्यार्थ को छोड़कर भूत चुड़ैल का सामान वेद में ऐसे टीकाकारों ने उत्पन्न कर दिया है ॥

असौ यस्ताम्म्रोऽअरुणऽउतबभ्रुः सुमङ्गलः। येचैनंरुद्राअभितो दिक्षु श्रितास्सहस्र शोवैषां हेडऽईमहे ॥ यजु० १६ ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वह पूर्वोक्त राजा जिसका (नमस्ते रुद्र मन्यवे) आदि

मंत्रों में वर्णन आचुका है (ताम्रः) तांबे जैसे रङ्ग वाला अर्थात् राजस गुणों से रक्त वर्णवाला, अथवा कपिल वर्ण वाला, फिर वह कैसा है शोभारूप है मङ्गल जिसके, ऐसे राजा के चारों ओर रुद्ररूप वाले जो सहस्रों सैनिक पुरुष हैं उनके क्रोध को हम निवृत्त करें अर्थात् ऐसे राजा की आज्ञा से विरुद्ध कोई काम न करें जिस से वह रुष्ट हो ॥

उव्वट महीधर इन मन्त्रों को सूर्य्य पक्ष में लगाते हैं और यह अर्थ करते हैं कि इस रुद्ररूप सूर्य्य के चारो ओर जो सहस्रों किरणें हैं इनको हम भक्ति से प्रसन्न करें ॥

समीक्षक—क्या उत्तम भक्ति है, इन्हीं महात्माओं की कृपा से वेद जड़सूर्य्यादि उपासनाओं की झलक दे रहा है ॥

हमारे आधुनिक सनातनधर्म्मी भाई तो ऐसे मन्त्रों पर दृष्टि नहीं देते उदासीन दृष्टि से ही पार हो जाते हैं हां ऐसे मन्त्रों को बड़े प्रेम से स्व स्व पुस्तकों में उद्धृत करते हैं जैसा कि यह सातवां मन्त्र है इस में "नीलग्रीव" शब्द आया है इनको तो ईश्वर को साकार बनाने की लगन है और सूर्य्य चांद की उपासना से कोई प्रयोजन नहीं ॥

असौ यो ऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। उतैनं गोपा अदृश्रन्न दृश्रन्नुदहार्य्यः सदृष्टो मृडयातिनः॥ १६। ७

अर्थ—वह राजपुरुष नीलमणियों युक्त कण्ठवाला और जो दुष्ट लोगों के सदैव विरुद्ध रहता है ऐसे राजपुरुष को उसके

रक्षक भृत्य सदैव दृष्टिगोचर रखें और स्त्रियें भी उसे पूज्यभाव से देखें, (सदृष्टो) इस प्रकार देखा हुआ वह सबका सुख जनक होता है अर्थात् प्रजा जब उस राज्याधिकारी पुरुष को पूज्य-भाव से देखती है तभी प्रजा सुखी रहती है यह इस मन्त्र का भाव है ॥

आधुनिक सनातन धर्म्मी इसी नीलकण्ठ शब्द के सहारे समुद्र मथन और शिवजी के विषभक्षण की कहानी का बीज वेद में बतलाते हैं, अस्तु इनके सनातनत्व खण्डन के लिये उव्वटाचार्य्य का यही लेख बहुत है (नीलग्रीवा) "नीलग्रीव इवास्तं गच्छन् लक्ष्यते" अर्थ—सूर्य्य अस्त होते समय नीली ग्रीवा वाले के समान प्रतीत होता है, समुद्र मथन के समय शिव ने जो विष भक्षण किया उससे वह नीलकण्ठ कहलाया, इस गप्प में यदि कोई तत्व होता तो उव्वट सूर्य्य को नीलग्रीव क्यों कहता। इनको कोई पुराना आचार्य्य सहायता दे अथवा न दे पौराणिक धर्म्म का तत्व यही है कि कोई साकार विधायक शब्द मिलना चाहिये फिर क्या फिर तो पूरा २ पौराणिक भाव वेद में झलका दिया जाता है ॥

उदाहरण के लिये देखो अगले आठवें मन्त्र में "नीलग्रीव" का विशेषण "सहस्राक्ष" शब्द पड़ा है पौराणिकधर्म्मानुकूल जिसके अर्थ इन्द्र के हैं अमरकोष में सहस्राक्ष इन्द्र का नाम है और "नमुचिघ्ने नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते" इत्यादि महाभारत के प्रमाणों से भी सहस्राक्ष इन्द्र का नाम है "सहस्रशीर्षा"

इस मन्त्र से सहस्राक्ष परमात्मा का भी नाम है कोई वहुतही खैंच करे तो परमात्मा के भाव से पौराणिक विष्णु का भी सहस्राक्ष नाम हो सक्ता है पर रुद्र का सहस्राक्ष नाम कैसे? क्योंकि इनके पौराणिक रुद्र के तो तीन ही नेत्र कथन किये गए हैं केवल यहां नीलग्रीव का विशेषण होने से सहस्राक्ष को भी रुद्र की ओर ही खेंचा है ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरन्नमः।१६।८

अर्थ—हे सेनापते, नीलग्रीव शब्द से कहा गया है, सहस्र मनुष्यों में है अक्षि जिसकी, सर्व कार्य्य द्रष्टा होने से उसी को "सहस्राक्ष" कहा गया है (मीढुषे) वीर्य्य वाला, ऐसे सेनापति के लिये मैं (नमः) सत्कार करता हूं अर्थात् उसके योग्य अन्नादि पदार्थों से सत्कार करता हूं। और जो उसके भृत्य हैं उनका भी अन्नादि से सत्कार करता हूं ॥

महीधर भी इसके यही अर्थ करता है कि उस रुद्र के (भृत्य) नोकरों को नमस्कार करता हूं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह राजधर्म्म प्रकरण के मंत्र हैं अन्यथा नोकरों को (नमः) से क्या तात्पर्य्य, हमारे पक्ष में तो यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सेना पति के नौकर भी अन्नदानादिकों के योग्य हैं, पर सनातनधर्म्म पक्ष में उस रुद्र के नौकर सभी जातियों के होंगे, जिनको ब्राह्मण उनके मतके अनुसार नमस्कार नहीं कर सक्ता, इस लिये इस मंत्र में ब्राह्मण का अधिकार न रहेगा इसको कोई कहां तक

छिपा सकता है यह अध्याय साफ २ राजधर्म्म को वर्णन करता है। धन्य है श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी जिन्हों ने वेद को धर्म्मार्थ काम मोक्ष में लगाकर हमारे हिन्दू भाइयों को सरल मार्ग वतलाया, वरन सारे वेद को हमारे हिन्दू भाई तो रुद्रादि देवताओं के वर्णन विषय में ही लगाया करते थे, जैसा कि इन मंत्रों से प्रकट हो रहा है, देखो मंत्र ९ ॥

प्रमुञ्च धन्न्वनस्त्वमुभयोरात्न्योर्ज्याम्। याश्चते हस्तऽ इषवः पराता भगवोवप ॥ १६ ॥ ९ ॥

इस मंत्र के उव्वट महीधर और आजकल के पौराणिक मतानुयायी लोग सब यही भाष्य करते हैं कि (भगवः) हे भगवन् ऐश्वर्य्यादि षड्भग सम्पन्न आप धनुष के दोनों कोनों में स्थिर जो (ज्या) मौर्वी है उसको छोड़दें, और जो तुम्हारे हाथों में (इषु) वाण हैं उनको भी फैंकदें, यहां इस अर्थ को कोई भी नहीं खोलता कि बाणों के फैंकने वाला कौन है, पौराणिक रुद्र परमात्मा है वा कोई और ही भगवान् है। यहां तो ऐसे मितभाषी बनकर इस मंत्र का भाष्य करते हैं कि कुछ भी पता नहीं लगने देते, क्या यहां बाणों के हाथों से फैंकने का उपदेश इस अभिप्राय से किया गया है कि आपका रुद्र परमात्मा किसी को न मारे? अथवा किसी शत्रु पर फेंकदे? यदि पहली वात मानी जाय कि रुद्र अपने हाथों से वाण फेंककर शान्तरूप हो जाय, इस भाव का उपदेश इस मंत्र में किया गया है तो आपके रुद्र में रुद्रत्व ही क्या रहा? और यदि किसी शत्रुपर फैंकने का उपदेश किया

गया है तो उस शत्रुका नाम भी तो लेना था आपके परमात्मा का ऐसा प्रबल शत्रु कौन है जिसके वधके लिये यह सम्मति रुद्र का उपासक देरहा है? इत्यादि विकल्पों से इस मंत्रार्थ में सनातन धर्मियों के पक्ष में कोई भी सार नहीं प्रतीत होता ॥

सार हो ही कैसे जब परा अपराविद्याओं के भण्डार वेद को स्वार्थ सिद्धि के लिये रुद्रपक्ष में ही लगाया जाता है । सार यह है कि स्वामी दयानन्द सिंह के सम गर्जके इस मंत्र को क्षात्रधर्म्म में लगाता है सत्य है किसी ने सत्य कहा है सांच को आंच क्या? यथावस्थित भाव को कौन छिपा सक्ता था, देखो किस उत्तमता के भाव के साथ इस मंत्र में वीर रस भरा है ॥

अर्थ-(भगवः) हे ऐश्वर्य्य युक्त सेनापते तेरे हाथों में जो वाण हैं उनको धनुष के (ज्यां) मौर्वी में लगाकर शत्रुओं पर फैंक, और जो उनके परिहार किये हुए हैं उनको (परावप) दूरकर, भाव इस मंत्र का यह है कि जो सद्धर्म्म विरुद्ध और राजधर्म्म विरुद्ध शत्रु हैं उनको क्षात्र धर्म्मधारी योद्धा दण्ड धर्म्म से ठीक करें ॥

परमात्मा पक्ष में और रुद्र पक्ष में यह मंत्र इस लिये नहीं लग सक्ता कि परमात्मा का कोई शत्रु ही नहीं है और न उनके माने हुए रुद्र देवता का कोई शत्रु हो सक्ता है इस लिये यह प्रकरण राजधर्म्म का ही है ॥

विज्यं धनुकपर्दिनो विशल्ल्यो वाणवांउत। अने शन्नस्य याऽइषव आभुरस्य निषङ्गधिः ।१६ ।१०।

अर्थ-पौराणिक रुद्र पक्ष में इसके यह अर्थ हैं कि रुद्रका धनुष

बिना इज्या के हो अर्थात् उसमें बाण चलाने का साधन जो एक प्रकार की रस्सी होती है वह ना रहे और वाण उसके बिशल्य हों विना फलके हों, और उसके शर नष्ट हो जायं (निषङ्गधिः) उसके खड्ग का जो कोष है वह खाली हो जाय अर्थात् उस रुद्र के सब शस्त्र नष्ट हो जायें। समीक्षक—क्या उत्तम प्रार्थना है भक्त होंतो ऐसे ही हों जो स्व स्वामी के प्रभुत्व के नाश की प्रार्थना करें क्यों न करें और क्या करें, जब इस अध्याय को क्षात्रधर्म्म में न लगाने की सौगन्द खा रखी है तो और उच्चार्थ कहां से लावें॥

उव्वट और महीधर भी इस पौराणिक रुद्र के भय से भयभीत होकर यही प्रार्थना करते हैं कि "**रुद्र अस्मान् प्रतिन्यस्तसर्वशस्त्रोस्त्वित्यर्थः**" रुद्र हमारे लिये सब शस्त्रों से रहित हो। और रुद्र के लिये सब शस्त्रों से रहित होने की प्रार्थना मंत्र ११ के आशय से सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि ११वें मंत्र में शस्त्रधारी रुद्रसे पालना की प्रार्थना की गई है इस लिये इस मंत्र का अर्थ शस्त्र-नाशकी प्रार्थना का कदापि ठीक नहीं हो सक्ता। मंत्रका सत्यार्थ यह है कि (कपर्दी) जटाजूट सेनापति के (उत) यदि (अनेशन्) शस्त्रनाश हो गए हों (धनुः) धनुष इज्या से रहित हो गया हो (वाण) विशल्य फलों से रहित हो गए हों, खड्ग कोषं खड्ग से रहित होगया हो, ऐसी अवस्था में उसे सहायता देनी चाहिये यह अध्याहारार्थ है, यह अर्थ आगे के मंत्र के साथ सङ्गति रखता है॥

याते हेति मीढुष्टमहस्ते वभूव ते धनुः। तया

स्मान् विश्वतस्त्वभयक्ष्मया परिभुज ॥ १६ । ११

हे अतिशय वीर्य्य वाले सेनापते जो तुम्हारा (हेति) वज्र है और जो तुम्हारे हाथ में धनुष है इनसे (अयक्ष्मया) पराजयादिकों की पीड़ा निवृत्त करने वाली जो रक्षा है उससे हमारी पालनाकर॥

अब निम्न लिखित चार मंत्रों में राज और प्रजा का सम्बन्ध भले प्रकार दिखलाया गया है कि राजा प्रजा शासन शस्त्र से न करें किन्तु न्यायरूप राज्य शासन से करें ॥

परिते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः ।
अथोयऽइषुधिस्तवारेऽअस्मन्निधेहितम् १६।१२

अर्थ—हे सेनापते आपका जो धनुष सम्बन्धी आयुध है (विश्वतः) सर्वतः सब ओर से (अस्मान्) हमको (परिवृणक्तु) त्यजतु, अर्थात् न मारे और जो तुम्हारा बाण है उसको भी तुम हमारे से दूर रखो अर्थात् उससे हमारा हनन कदापि न करो ॥

अवतत्य धनुष्ट्व ँ सहस्त्राक्षशतेयुधे । निशीर्य्य
शल्ल्यानां मुखाशिवोनः सुमना भव ॥१६।१३

अर्थ—हे सहस्रों मनुष्यों को अक्षिगोचर रखने वाले सहस्राक्ष, हे शतेयुधे, सैकड़ों धनुषों वाले सेनापते, तुम हमारे प्रति शिव कल्याणकारी (सुमना) सुष्टु मन वाले हो, इस प्रकार सुमना और कल्याणकारी आप बनें कि धनुष की (ज्या) गुणको उतार दें और बाणों के जो (मुख) फल हैं उनको भी हिंसा रहित करदें। भाव इस मंत्र का यह है कि जब प्रजा के साथ

राजा का स्व स्वामी भाव सम्बन्ध हो जाता है उस समय राजा उस प्रजा पर शस्त्रों से काम न ले, किन्तु न्याय से शासन करे। और वह प्रजा भी निम्न लिखित मंत्र के आशय के अनुकूल उस राजा से वर्त्ते ॥

नमस्ते आयुधायानातताय धृष्णवे। उभाभ्यामु ततेनमो वाहुभ्यान्तवधन्वने ॥ १६ । १४

हे राजन् तुम्हारे आयुध को (नमः) सत्कार है, कैसा वह आयुध है जो शत्रुओं के धर्षण करने के स्वभाव वाला है और तुम्हारी दोनों भुजाओं के लिये (नमः) सत्कार है तुम्हारे अनारोपित ना तने हुए धनुष को (नमः) है अर्थात् तुम आज्ञा-शील प्रजा के लिये अपने धनुष को नहीं चढ़ाते किन्तु राज धर्म्म विरोधी लोगों के लिये ही स्व शस्त्रों का उपयोग करते हो, इस प्रकार के आप और आप के शस्त्रों को पुनः पुनः (नमः) हो। आदर का अतिशय द्योतक यहां नमः शब्द है, अर्थात् बारंबार (नमः) हो ॥

मानो महान्तमुतमानोऽर्भकमान उक्षन्त मुतमा नऽउक्षितम्। मानोवधीः पितरम्भोत मातरम्मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ १६ । १५

अर्थ—हे शत्रुवर्ग के रुलाने वाले (रुद्र) सेनापते, आप हमारी जाति के महापुरुषों को मत मारो, और अर्भक जो बच्चे हैं उनको भी मत मारो, जो तरुण पुरुष हैं जिनके अभी सन्तति नहीं हुई

और जो गर्भस्थ बालक हैं उनको तथा माता और पिता को मत मारो, स्त्री पति के शरीर को न नाश करें, जो आगामी पुत्र पौत्रादि सन्तति का हेतु है, हे (रुद्र) उक्त पुरुषों के (त्वं) (मारीरिष) मत मारो, इस मंत्र में क्षात्रधर्म्म के लिये हनन का भी एक नियम बांध दिया है कि अमुक २ पुरुषों को हनन नहीं करना, जैसाकि यूरपादि सभ्य जातियों के राजा अब भी इन नियमों को मानतें हैं। ऐसी २ उत्तम शिक्षाएं यह सिद्ध करती हैं कि यह क्षात्र धर्म्म शिक्षा का प्रकरण है, पौराणिक, रुद्र का इस में गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता। क्योंकि यहां नाना प्रकार के शस्त्रों का वर्णन और सेना सेनापतियों का वर्णन पाया जाता है और पौराणिक रुद्र को सेना शस्त्रादिकों की क्या आवश्यकता है जबकि वह स्वंय ईश्वर है तो उसको शस्त्र सेनादि से क्या?

यदि यह कहा जाय कि साकारवादियों के मत में ईश्वर के शस्त्रधारी होने में कोई दोष नहीं, जैसे कि रामचन्द्रादि धनुष-धारी हुए हैं? इस का उत्तर यह है कि जो रामचन्द्रादि के समान साकार रुद्र माना गया है वह तो पौराणिकों के मत में ब्रह्मा का पुत्र हुआ है उत्पन्न होते ही रोने के कारण ब्रह्माजी ने उस का नाम रुद्र रखा था॥

तदा प्राणमयो रुद्रः प्रादुरासीत् प्रभोर्मुखात्। सहस्रा दित्य सङ्काशो युगान्त दहनोपमः॥ रुरोदसस्वरं घोरं देवदेवः स्वयंशिवः। रोदमानं तदा ब्रह्मा मारोदीरित्य

भाषत। रोदनाद्रुद्र इत्येवं लोके ख्यातिं गमिष्यसि ॥ कू० पु० अ० १० ॥

फिर कूर्म्म पुराण अध्याय १३ में रुद्र की उत्पत्ति इस प्रकार है, भ्रुवोर्मध्यादथोद्भूत: कुमारो नील लोहित:। जातमात्र: कुमारो ऽसौ रुरोद भगवान् भव:। ब्रह्मोवाच कथं पुत्र रोदिषित्वं महाबल तन्मेकथन कामन्ते सद्य: सम्पादयाम्यहम्॥ अर्थ—पूर्व प्रकरण यह था कि ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पत्ति करने के लिये बहुत तप किया, और कुछ भी उत्पन्न न हुआ तब ब्रह्मा जी की आंखों से जो आंसू निकले उनसे भूत प्रेत सब उत्पन्न हुए, ब्रह्मा जी ने सृष्टि रचने में जब सफलता लब्ध की, (तदा) उस समय ब्रह्मा जी के मुख से प्राणमय रुद्र उत्पन्न हुआ, जिसकी सहस्रों सूर्य्यों के समान शोभा थी युगों के अन्त में सर्व वस्तुओं के दाह करने के लिये जो पौराणिकधर्म्म में अग्नि मानी गई है उसके समान दाह करने वाला वह रुद्र था। फिर वह रुद्र स्वर के साथ एक बड़ा भारी भयानक रोना रोने लगा, वह देवों का देव जो सदा से शिव था, उस समय उस रोने वाले रुद्र को ब्रह्मा ने कहा कि तू मत रो, रोने के कारण तेरा नाम लोक में रुद्र विख्यात होगा॥

फिर उसी कूर्म्म पुराण अध्याय १३ में यह वर्णन है कि ब्रह्मा जीकी भ्रुवों के मध्य से एक कुमार जिसका वर्ण कुछ काला और लाल था उत्पन्न हुआ, वह कुमार उत्पन्न होते ही रोने लगा, तब ब्रह्माजी ने कहा कि पुत्र तू क्यों रोता है जो तेरी इच्छा हो

सो तू कह मैं तत्क्षण सब सम्पादन करदूंगा। हमारा यहां पुराणों की परस्पर विरुद्ध वातों के दर्शाने में तात्पर्य्य नहीं कि कहीं ब्रह्मा जी के मुख से रुद्र उत्पन्न हुए और फिर उसी पुराण में ब्रह्मा जी के भ्रकुटी मध्य से रुद्र उप्पन्न हुए, इस प्रकार के विरोध पुराणों में सर्वत्र स्पष्ट हैं, फिर पुनः पुनः उनका पिष्ट पेषण क्या। हमारा तात्पर्य्य तो यहां इस वात के दिखलाने में है कि साकार रुद्र ब्रह्मा का पुत्र माना गया है उसका वर्णन यजुर्वेद के षोड़-शाध्याय में मन्द से मन्द मति भी नहीं मान सक्ता, क्योंकि इन पौराणिक धर्म्मावलम्बियों के मत में वेद ब्रह्मा जीके प्रकाश किये हुए हैं और वह ब्रह्मा ही सव से प्रथम पौराणिक धर्म्म में माना गया है फिर उसके पुत्र रुद्र का वर्णन वेद में कैसे सम्भव था॥

और इस स्वयं रोने वाले रुद्र को वेद भगवान् वर्णन करता तो इससे सिद्ध भी क्या होता। और सव सनातन धर्म्मी इस बात को स्वीकार भी नहीं करते कि वेदोपनिषदों में इस ब्रह्मा के पुत्र स्वयं रोने वाले रुद्र का वर्णन है किन्तु यह स्वीकार करते हैं कि जो परमात्मा रुद्र रूप होकर दुष्टों को कर्म्म फल भुगाकर रुलाता है वह रुद्र है। पं॰ज्वालाप्रसादमिश्र ने तिमिर भास्कर पृ० ३ "स ब्रह्मा स विष्णु सरुद्रः" इस उपनिषद् के अर्थ करने में रुलाने वाले का नाम ही रुद्र माना है जव यह माना गया कि दुष्टों को कर्म्मफल भुगाकर रुलाने वाले परमात्मा का नाम रुद्र है तो स्वयं रोने वाला ब्रह्मा जीके मुख वा भ्रकुटी से उत्पन्न होने वाला साकार रुद्र वेदोपनिषदों का विषय न रहा, और जो यह कहा जाता है कि वह परमात्मा रूप रुद्र जो लोगों को कर्म्म

फल भुगाकर रुलाता है उसी का नमस्ते अध्याय में वर्णन है यह विचार सर्वथा निर्मूल है, इस वात का हम उव्वटादि आचार्य्यों की सम्मति से पहले भी समाधान कर आए हैं कि ऐसे अर्थों में भी इस रुद्र शव्द का वर्ताव इस अध्याय में आया है कि जिसको कोई भी ईश्वर के अर्थ में नहीं लगा सक्ता, फिर जो साकाररूप रुद्रों का अनेक रूपों से वर्णन इस अध्याय में पाया जाता है इससे क्षात्र धर्म्म के योद्धाओं का वा उनके साधन भूत अन्य जन्तुओं का वर्णन इस अध्याय में है, जैसा कि "नमो हिरण्य बाह्व" इत्यादि मंत्रों में हिरण्य के आभूषण युक्त बाहु वाले क्षत्रियों का वर्णन स्पष्ट है ॥

"याते रुद्र शिवा तनूः" इस मंत्र से रुद्र का शरीर सिद्ध करने के लालच से जो इस अध्याय के रुद्र शव्द को ईश्वर पक्ष में लगाते हैं उनके लिये यह मंत्र वहुत कठिन हो जाता है "नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च" इस मंत्र के उव्वटादि आचार्य्यों ने यह अर्थ किये हैं कि जो कूकरादि रूप रुद्र है उसको भी नमस्कार है, और जो उनके पति नीच जाति के निषादादि हैं उनको भी नमस्कार है, अस्तु ऐसे साकार वाद से हमको क्या हानि है इससे तो यही सारांश निकला कि इस अध्याय का रुद्र शब्द ईश्वर का वाचक नहीं, फिर ऐसे रुद्र की शरीर सिद्धि से ईश्वर के शरीर की सिद्धि कैसे ? ॥

यह हम आगे भी अनेक वार लिख आए हैं कि साकारवाद के रसिकों को थोड़ा बहुत साकार का रास्ता मिलना चाहिये

फिर तो उसको किसी न किसी प्रकार के परिष्कार से विस्तार अपने आप यह कर लेते हैं जैसे कि

एह्यस्मानमातिष्ठअश्माभवतुतेतनूः । कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ अथर्व का० २ अ० ३ सू० १३

अर्थ—हे माणवक एहि आगच्छ। अश्मानम् आतिष्ठ दक्षिणेन पादेन आक्रम । तेतव तनूः शरीरम् अश्माभवतु। अश्मवद् । रोगादि विनिर्मुक्तंदृढं भवतु । विश्वे देवाश्च ते तव शत संवत्सर परिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु "युष्मत्तत तक्षुष्वन्तः पादम्" इति सकारस्य षत्वम् ॥

इस सायण भाष्य का आशय यह है कि हे ब्रह्मचारिन् तुम यहां आओ और अपना दक्षिण पैर इस पत्थर के ऊपर रखो तुमारा शरीर इस पत्थर की तरह रोग रहित और दृढ़ हो ॥

"और आधुनिक सनातन धर्म्मी इसके यह अर्थ करते हैं कि हे इष्टदेव पाषाण मूर्त्ति में विराजमान हूजिये, पाषाण मूर्त्ति आपका शरीर हो, सब देवता इस आपके शरीर की आयु अनन्त वर्षों की करें"। तिमिर भास्कर पृ० ३६७ वास्तव में यह मंत्र समावर्त्तन अर्थात् जब ब्रह्मचारी गुरुकुल से लौटकर स्वगृह में आता था उस समय का है, इसमें यह उपदेश है कि हे ब्रह्मचारिन् आप इस पाषाण पर पैर रखें और आपका शरीर इस पाषाण के समान कठिन हो। इस प्रकरण की किञ्चन्मात्र भी अपेक्षा न

करके प्राण प्रतिष्ठा में लगाकर इस मंत्र के अनर्थ कर दिये हैं ॥

एवं अथर्ववेद में जहां राजयक्ष्मा रोग की निवृत्ति का प्रकरण है और रोगी के अंगों का वर्णन है उन मंत्रों के अनर्थ करके आधुनिक सनातन धर्मियों ने ईश्वर के अंग वर्णन में लगा दिये जैसेकि–

अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मंत्वचस्यं तेवयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥ ७ ॥ अथर्व कां० २ अ० ६ सू० ३४

सायण भाष्य इसका यह है । इत्थं प्रसिद्धा वयवेभ्यो रोगस्यापनोदनं (प्रतिपाद्य अप्रसिद्धा वयवेभ्योपि अपनोदनं) प्रतिपाद्यते हे रुग्ण ते तव अङ्गे अङ्गे अनुक्तेषु सर्वेष्व वयवेषु लोम्नि लोम्नि सर्वेषु रोमकूपेषु पर्वणि पर्वणि सर्वेषु संधिषु यो यक्ष्मोजातः । "नित्यवीप्सयोः" इति सर्वत्र द्विर्वचनम् । तं यक्ष्मं विवृहामसीत्युत्तरत्र संबन्धः । अर्थ–इस प्रकार प्रसिद्ध अवयवों से रोग की निवृत्ति कथन करके अप्रसिद्ध अवयवों से भी रोग की निवृत्ति प्रतिपादन की जाती है, हे रुग्ण तेरे सब अंगों में और रोम२ में और संधि२ में जो यह यक्ष्मा रोग है उसको हम कश्यप परमात्मा का सूक्त पढ़के उस रोग की निवृत्ति की प्रार्थना करें ॥

यह आशय इस मंत्र का था जिसके अनर्थ करके परमात्मा को रोगी बनाकर साकार वर्णन किया जाता है । इस प्रकार साकार वाद की धुन में लगकर आधुनिक लोगों ने वेदों के अनर्थ

कर दिये हैं कहांतक लिखें देखो—

दृते दृꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहञ्चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० अ० ३६ मं० १८ ॥

इस मंत्र के अनर्थ करके पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने मूर्तिपूजा में लगाया है तिमिर भास्कर पृ० ३६७ ॥

जहां ऐसे स्पष्ट मंत्रों का आशय बदल दिया जाता है वहां सत्यार्थ की क्या आशा हो सक्ती है उक्त मंत्र "द्यौ शांतिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः" इस मंत्र से आगे है, इस मंत्र में शान्ति की प्रार्थना करने के अनन्तर "दृते दृꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्' इस में सब से मित्रभाव की प्रार्थना की गई है, और उव्वट महीधर ने भी इस मंत्र को मित्रभाव की प्रार्थना में लगाया है इसमें ईश्वर के मूर्त्ति होने का गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके यह अर्थ करते हैं, "दृते दृꣳह" इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सब लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन बर्त्तें, और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म्म है उसी को ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो, "दृते०" हे सब दुखों के नाश करने वाले परमेश्वर आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये

कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें, (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानके बंधु के समान वर्त्तें ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को "दृंह" सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये "मित्रस्याहं०" इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के सम ही सब जीवों को मानूं "मित्रस्य च०" हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें और सत्य धर्म्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें, जो ईश्वर का कहा धर्म है। यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

जिस परमेश्वर की साकारता की सिद्धि के लिये वेदों का अनर्थ करके वादियों ने स्वमन्तव्य सिद्ध किया है वास्तव में उस जगदीश्वर को वेद भगवान् इस प्रकार वर्णन करता है कि–

यस्ये मे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्ये मांप्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० १२ मं: ५ ॥

अर्थ–पूर्व प्रकरण से यह प्राप्त है कि मैं किस देव के लिये हविष दान करूं अर्थात् हवन यज्ञ से किसकी उपासना करूं, इसके उत्तर में यह है कि जिस परमात्मा के महत्व को हिमालय आदि पर्वत कथन करते हैं और नदियों के साथ समुद्र जिसकी महिमा को गायन करते हैं और जिस परमात्मा के यश को

पूर्वोत्तरादि दिशाएं कथन करती हैं जगत् की रक्षारूप ही जिस की भुजा हैं यह सब जगत् जिस परमात्मा की विभूति है उसकी हम हवन यज्ञ से उपासना करें ॥

येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ायेन स्वस्तभितं येनना कः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० अ० ६ मं० ३२ ॥

जिस परमात्मा ने "द्यौ" लोक को दृष्टि देने वाला बनाया है और जिसने अपनी नियम रूप शक्ति से प्रथिवी को दृढ़ बनाया है जिस परमात्मा ने सूर्य्य मण्डलादि सब थाम रखे हैं, जिसने अन्तरिक्ष में "रजस" जलमय बिमान रच रखे हैं ऐसे देव की हम हवन यज्ञ से उपासना करें। इत्यादि मंत्रों से निराकार ईश्वर की महिमा सर्ववादी सम्मत है, हमारे सनातन भाइयों के उव्वट महीधरादि आचार्य्य भी उक्त मंत्रों को निराकार विषय में ही लगाते हैं ॥

एषोह देवः प्रदिशोनु सर्वः पूर्वोहजातः स उ गर्भे अन्तः। स एवजातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति विश्वतो मुखः ॥ यजु० ३२। ४

इस मंत्र के अर्थों में महीधर यह लिखता है (सर्वतोमुखः) "सर्वतो मुखाद्यवयव यस्य अचिन्त्य शक्तिरित्यर्थः" "सर्वतो मुखः" के अर्थ यह हैं कि सब ओर मुखादि अवयव

हों जिसके अर्थात् वह परमात्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है, यह (सर्वतोमुखः) के अर्थ किये हैं । तत्व यह निकला कि यहां सब ओर मुखादि अवयवों को वास्तव नहीं माना किन्तु अचिन्त्य शक्ति वाला होने के अभिप्राय से माना है ॥

कई एक लोग उक्त मंत्र के "स उ गर्भेअन्तः" आदि शब्दों से यह भाव निकालते हैं कि वही परमात्मा माता के गर्भ में प्रविष्ट होकर उत्पन्न होता है । ऐसे अर्थ करना पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के "येनद्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा" के अर्थों का अनुकरण करना है । आप लिखते हैं कि स्वामी जी तो पृथिवी का भ्रमण मानते हैं और इस मंत्र में "पृथिवी च दृढ़ा" इससे यह पाया जाता है कि वेद में पृथिवी का दृढ़ होना अर्थात् ना घूमना पाया जाता है, इसी प्रकार "सउ गर्भे अन्तः" का अर्थ माता के गर्भ में उत्पन्न होने का किया गया है ॥

यह लोग वेदों के अनर्थ करते समय इतना भी नहीं सोचते कि दृढ़ा के अर्थ तो यह है कि पृथिवी बिना किसी स्थूल आधार के स्थिर बनाई है इस अभिप्राय से पृथिवी के लिये दृढ़ा शब्द आया है, एवं (गर्भेअन्तः) का अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा पृथिव्यादि लोक लोकान्तरों के (गर्भे) मध्य में (अन्तः) अन्तर्गत है अर्थात् प्रविष्ट है, यह अभिप्राय इस शब्द का था जो मंत्र के आशय से सर्वथा अन्यथा वर्णन किया गया है ॥

यदि यह कहा जाय कि इस मंत्र में "स एव जातः" और "जनिष्यमाणः" यह दो पद पड़े हैं जो उत्पन्न हुए और उत्पन्न

होने वालों का सिद्ध करते हैं, तो इस का उत्तर यह है कि यह पद भूत भविष्यत काल में उस पुरुष की सत्ता का बोधन करते हैं न कि उत्पत्ति को, यदि उक्त पद परमात्मा के गर्भवास को बोधन करते तो "यस्मान्नजातः" इस अग्रिम मंत्र में परमात्मा की उत्पत्ति का निषेध न किया जाता ॥

जिन लोगों को स्व मन्तव्यरूपी आग्रह का मद है, वा अहं ब्रह्म वाद का मद है, उन लोगों की दृष्टि में उक्त विरोध नहीं आता जैसे कि उव्वट ने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" यह कह कर इस पूर्वोक्त विरोध का ध्यान न धरकर "स उ गर्भे अन्तः" के अर्थ माता के गर्भ में आने के कर दिये हैं, जिन लोगों के मत में यह सब दृश्य ब्रह्म ही है उनके मत में परमात्मा का गर्भवास पाना क्या दोष की बात है ? पर यहां यह स्मरण रहे कि इन मंत्रों का तात्पर्य्य सर्व ब्रह्मवाद में कदापि नहीं, यदि नवीन वेदान्तियों के अद्वैतवाद में उक्त मंत्रों का तात्पर्य्य होता तो "प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः" यह न कहा जाता, इसके अर्थ यह हैं कि हे जना हे पुरुषो वह परमात्मा "प्रत्यङ्" प्रति पदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ्, परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है एवं व्याप्य व्यापक का भेद उक्त मंत्र बोधन करता है ॥

और तर्क यह है कि इस मंत्र से पूर्व "नतस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र है यदि सब कुछ ब्रह्म था तो इस मंत्र में परमात्मा की प्रतिमा का निषेध क्यों किया जाता । कई एक लोग इस मंत्र के

यह अर्थ करते हैं कि उस परमात्मा के तुल्य कोई नहीं, इस अभिप्राय से यहां प्रतिमा का निषेध किया गया है, एवं परमात्मा के उपमान का निषेध है उसकी मूर्त्ति का निषेध नहीं, इस अनर्थ की निवृत्ति के लिये हम इस प्रकरण के मंत्रों को लिखकर उक्त मंत्र का अर्थ करते हैं। प्रकरण यह है यजुर्वेद अध्याय ३२ मं १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमा। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मताआपःस प्रजापति। यजु० अ० ३२ मं०१

अर्थ—सर्व वस्तुओं में अग्रणी होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि है, आदित्यवत् तेजस्वी होने से परमात्मा का नाम आदित्य है, सर्व में गतिशील होने से वह परमात्मा वायु नाम से कहा जाता है, सबके मनका आह्लादक होने से वह चन्द्रमा है बलरूप होने से परमात्मा शुक्र है, सब वस्तु मात्र से बृहत् होने से परमात्मा ब्रह्म है, उक्त विशेषण विशिष्ट परमात्मा अग्न्यादि नामों से इस मंत्र में वर्णन किया गया है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र तिमिर भास्कर पृ० ३२४ में इस मंत्र के यह अर्थ करते हैं कि वही ईश्वर अग्नि है और वोही आदित्य रूप है वायु चन्द्र संसार का बीज प्रसिद्ध जल प्रजापति आदिरूप उसी का है, अब निराकार को वेद ही कहता है कि वही ईश्वर अग्न्यादि रूप वाला है और आदित्य का आकार भी दीखता है इत्यादि अर्थों से स्पष्ट सिद्ध है कि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भौतिक अग्नि सूर्य्यादि पदार्थों को ईश्वर माना है। हम यहां और क्या कहें यही कहना पड़ता है कि उक्त पं० साहब को ईश्वर के साकारवाद के लालच ने

सनातन पथ से भुला दिया अन्यथा सनातन सम्प्रदाय के विरुद्ध जड़ सूर्य्यादिकों को ईश्वर कदापि न मानते ॥

देखो शंकर दिग्विजय प्रकरण १.३ इसमें "भीषास्मात् वातः पवते भीषोदेतिसूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इस उपनिषद के वाक्य से सूर्य्यादिकों की गति परामात्मा की भयरूप आज्ञा से कथन की गई है, अर्थ यह है कि उस परमात्मा के भय से अग्नि वायु सूर्य्य इन्द्र और मृत्यु यह सब दौड़ते हैं फिर ऐसा औपनिषद् परमात्मा जड़ सूर्य्यादि रूप कैसे हो सक्ता है ॥

इतना ही नहीं फिर दिग्विजय के इसी प्रकरण में यह प्रमाण है "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्व मिदं विभाति " अर्थ—न वहां सूर्य्य प्रकाश कर सक्ता है न चन्द्र और तारे और न यह विद्युत विजली प्रकाश करती है "कुतोऽयमग्नि" वहां अग्नि का तो कथन ही क्या? उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सब पूर्वोक्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं औपनिषद् दर्शन इस प्रकार अतिवल पूर्वक उस परमात्मा को इस जड़ जगत् का प्रेरक सिद्ध करता है और ऐसा व्यतिरेक दिखलाता है कि बालक तक भी उस परमात्मा के भेद को समझ जाय, फिर न जाने यह नाम के सनातनी साकार ईश्वर के साथी क्यों इस भेद को नहीं समझते ॥

इतना बलप्रद उपदेश केवल औपनिषद् दर्शन में ही नहीं

किन्तु वेद संहिता में इससे भी अधिक बल से यह उपदेश किया गया है कि परमात्मा सूर्य्यादि जड़ जगत् का जनक है

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्य्यो अजायत । श्रोत्रात् वायूश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ य० अ० ३१ । १२

इस मंत्र में चन्द्रमा सूर्य्य वायु और अग्नि की उत्पत्ति परमात्मा से मानी है जब यह सूर्य्यादि उस परमात्मा के कार्य्य हैं तो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र किस अधिकार से "तदेवाग्नि" इस मंत्र के आशय को बिगाड़कर यह लिखता है कि यह अग्नि सूर्य्यादि परमेश्वर हैं यह अर्थ करके वेद भगवान् को कलङ्कित करता है ॥

और बहुत क्या कहें यदि वेद के भेद की इस वादी को आंख होती तो "सर्वे निमेषा जज्ञिरे" इस अगले मंत्र पर दृष्टि डालता, इस मंत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा निराकार होने के कारण से स्थूल इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य नहीं, इसी आशय को लेकर उब्बट महीधरादि आचार्य्य इस मंत्र पर यह लिखते हैं कि "नह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः" वह परमात्मा प्रत्यक्षादि से नहीं विषय किया जा सक्ता किन्तु केवल शब्द प्रमाण गम्य है। यह आशय इस भाष्य की प्रतीक का है, इसी का उपबृंहण उब्बटादिकों ने इस उपनिषद वचन से किया है कि "एषः नेति नेत्यात्मा" अर्थ–यह है कि वह परमेश्वर नहीं जिसकों तुम स्थूल आंखो से देख रहे हो। यह अर्थ उपनिषदों

के सहस्र प्रमाणों से स्पष्ट है फिर किस मुख से कल्पित कल्पतरुकार यह कहता है कि आदित्य का आकार भी दीखता है फिर निराकार कैसे ?

इस आशय को हम और भी दृढ़ता से निम्नलिखित मंत्र से खण्डन करते हैं ।

सर्वेनिमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनं मूर्द्धवन्न तिर्य्यञ्च न मध्ये परि जग्रभत् ॥य० अ० ३२ मं०२ ॥

अर्थ—जो परमात्मा अग्न्यादि नामों से वर्णन किया गया है उस परमात्मा से सब (निमेष) काल के अल्प भेद का नाम निमेष है अल्पकालादिभेद, और उसी परमात्मा पुरुष के प्रकाश से (विद्यु्तः) बिजलियें उत्पन्न हुईं, एवं विध सब वस्तुओं के कारण रूप परमात्मा को कोई पुरुष ऊपर नीचे और मध्य में पकड़ नहीं सक्ता, "न मध्ये परिजग्रभत्" इस कथन से वेद भगवान् ने इस बात को स्पष्ट करदिया कि परमात्मा देव निराकार है इसलिये वह अग्राह्य हस्तादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सक्ता, इस मंत्र के अर्थ उव्वट महीधर भी यही करते हैं और स्वामी शङ्कराचार्य्य भी इस मंत्र के यही अर्थ करते हैं कि वह परमात्मा अमूर्त्त होने से अग्राह्य है ॥

परमात्मा के इस मंत्र में इस प्रकार अग्राह्य होने को कट्टर साकार वादी जो साकार के साथ सनातन धर्म्म का एक मात्र श्वासवत् जीवन मानते हैं वह भी इस मंत्र के अग्राह्य भाव को

छोड़ नहीं सकते, देखो तिमर भास्कर पृष्ठ ३३९ में पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र इस मंत्र का अर्थ करते हुए यों डगमगाते हैं। "स्वयं ज्योतिं स्वरूप पुरुष में सब ही निमेषादिरूप खण्ड काल उत्पन्न होता भया और इस पूर्ण पुरुष को (उर्ध्व वा तिर्य्यञ्च) चारों दिशाओं वा मध्य में कोई ग्रहण नहीं कर सक्ता, सर्व का कारण होने से आशय यह है कि पूर्व मंत्र में अग्नि आदि भाव कहने से ग्राह्यता प्रसक्ति का निवारण कर दिया, अवास्तव स्व शक्ति निर्मित अग्नि आदि भाव से वास्तव ग्राह्यत्व कारणात्मा में नहीं हो सक्ता ॥

यों तो यह भाषा रचना में ऐसी रम्य है कि स्यात्, गहरा गोता लगाने पर भी किसी २ पुरुष को ही स्व अर्थ रूपी अब्धि से पार होने देती हो, पर हमें क्या हमने तो यह स्पष्ट दिखला देना है कि इस अर्थ में सनातन कल्पतरुकार कितने लटपटाए हैं, फिर भी स्व सङ्कल्प पूर्ण नहीं हुआ। आप लिखते हैं कि (उस पुरुष को कोई चारों दिशाओं में ग्रहण नहीं कर सक्ता सर्व कारण होने से) यहां हम पूछते हैं कि सर्व कारण होना जो आपने अग्राह्य होने का हेतु लिखा है तो प्रकृति भी तो सर्व कारण है वह अग्राह्य क्यों नहीं? यदि सर्व कारण से आप का तात्पर्य्य निमित्त कारण से है तो आप का साकार ईश्वर आप के मत में सब वस्तु का निमित्त कारण होने पर भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। पर यह बात ही क्या कि सर्व कारण होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं, अग्राह्यता का हेतु तो अमूर्त्तत्व है नाकि कारणत्व, पर आपको क्या आपने तो इस हेतु हेतु मद्भाव की प्रणाली से दूर

रहने का प्रण ही बांध छोड़ा है फिर इस के बन्धन में आप को कौन डाले ॥

और जो आपने इस मंत्र का यह आशय कथन किया है कि "तदेवाग्निस्तदादित्यः" इस पूर्व मंत्र से अग्न्यादिरूप कथन किये जाने से जैसे भौतिक अग्नि आदिकों का ग्रहण किया जा सक्ता है, अर्थात् सब स्थानों में पकड़े जा सक्ते हैं, परमात्मा अग्न्यादि रूप कहे जाने से यह आशङ्का परमात्मा में प्रसक्त हुई। इस आशङ्का का अवास्तव अग्न्यादि भावों से परमात्मा में वास्तव ग्राह्यत्व नहीं होता यह उत्तर दिया, क्यों कृपानिधे यह क्या? यहां नाक को उलटाकर हाथ लगाने का अनुकरण आप क्यों कर गए, इतनी क्या आपत्ति पड़ी थी जो सनातनी लोगों के सारे साकार बाद को अवास्तव कहकर मिटागए, पर और क्या करते इस मंत्र का तो और अर्थ होही नहीं सक्ता, यहां अन्तर्ध्यान होकर सोचने का स्थान है कि जब यह मंत्र यह कहता है कि परमात्मा देव अग्राह्य अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं तो इससे आगे (नतस्यप्रतिमास्ति) इस मंत्र के क्या अर्थ हो सक्ते हैं। यों तो आज कल की कलयुगी बुद्धियें इस मंत्र के कई प्रकार के अर्थ करती हैं कोई नतस्यप्रतिमास्ति के अर्थ यह करता है कि "नतस्य" नम्रस्य अर्थात् सबको झुकने वाला जो परमेश्वर है उसकी प्रतिमा है। कोई यह कहते हैं कि यह ध्वनि है जैसे कोई कहता है कि (अयन्नब्राह्मणः) यहां न के अर्थ निषेध के नहीं होते किन्तु यह होते हैं कि क्या यह ब्राह्मण नहीं अर्थात् है इस प्रकार नतस्य के अर्थ यह हैं कि तस्य परमेश्वरस्य उस

परमेश्वर की न प्रतिमास्ति? क्या उस परमेश्वर की प्रतिमा नहीं, अर्थात् है, एवं अनन्त अनर्थ किये जाते हैं, जो (यस्मान्नजात:) इस वाक्य शेष से कट जाते हैं ॥

उत्तर देने योग्य इस मंत्र के पौराणिक अर्थों में दो बातें हैं (१) कि इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के नहीं (२) इस मंत्र में हिरण्यगर्भादि तीन मंत्रों की प्रतीकें हैं उन्हीं मंत्रों के अर्थों के अनुसार इस मंत्र के अर्थ होने चाहिये ॥

प्रथम बात का उत्तर यह है कि "कासीत् प्रतिमाकिं निदानम्" अ० ८ अ० ७ व० १८ इत्यादि मंत्रों में जब वादी लोग प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के मानते हैं तो फिर इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के मूर्त्ति वाचक होने से क्यों भागते हैं। वास्तव में बात यह है कि ऋग्वेद के उक्त मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के नहीं हैं किन्तु प्रतिमीयतेऽनयेति "प्रतिमा" जिस से किसी वस्तु का सादृश्य किया जाय उसे प्रतिमा कहते हैं, इसी अर्थ में प्रतिमा शब्द अयोध्यापुरी की उपमा में भट्टि-काव्य अ० १ श्लो० ५ में आया है "महेन्द्र लोक प्रतिमां समृद्ध्या" जो अयोध्या सम्पत्ति में महेन्द्र लोक, इन्द्र की पुरी की प्रतिमा थी अर्थात् इन्द्रपुरी को यदि किसी और वस्तु से तुलना करें तो अयोध्या ही उसकी तुलना के योग्य थी इस प्रकार प्रतिमा शब्द यहां उपमान के अर्थ में है ॥

यदि प्रतिमा शब्द यहां (प्रतिकृति) मूर्त्ति किसी वस्तु की नकल में भी माना जाय तब भी वादी का इस बाद से कुछ

नहीं बनता क्योंकि यह मंत्र तो यज्ञ का प्रतिपादन करता है, आशय इस मंत्र का यह है कि जिस यज्ञ से देवता विद्वान् लोग यजन करते हैं उसकी प्रतिमा क्या है? और उसका निदान कारण क्या है? "आज्य" उसके लिये घृतादि सामग्री क्या है? उस यज्ञ की वेदी की "परिधि" चारों ओर से मापा क्या है? इस प्रकार घृत, वेदी का मापा आदि वर्णन किये जाने से इस मंत्र का आशय स्पष्ट है कि यह मंत्र यज्ञ विषय का है इस में आप की प्रतिमा पूजन का प्रयोजन क्या? यदि इससे प्रतिमा सिद्ध हो भी तो यज्ञ कुण्डादिकों की होगी उससे आपकी क्या सिद्धि और हमारी क्या हानि॥

इस मंत्र के अनर्थ करके पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने जो ईश्वर की मूर्त्ति में लगा दिया है इस अनृत की निवृत्ति के लिये हम सायण भाष्य नीचे लिखते हैं। "तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणं इयत्ता का कथं भूतासीत् तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा, देवता तस्य यज्ञस्य कासीत् तथा निदानमादि कारण योगे प्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत् तथा आज्यं घृतं एतदु-पलक्षितं हविष् वा इत्यादि" अर्थ—उस यज्ञ का परिमाण क्या था और उस यज्ञ के हविष को भक्षण करने वाला प्रतिमा देवता क्या था? तथा निदान यज्ञमें प्रवृत्ति का कारण फल क्या था? और घृतक्या था? अर्थात् सामग्री क्या थी भला इसमें ईश्वर की प्रतिमा का क्या प्रकरण है? और दोष यह है कि जब वादी

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द के अर्थ मूर्त्ति के स्वीकार करता है तो "नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में क्यों अस्वीकार करता है ॥

वादी इसके उत्तर में यह तर्क देता है कि प्रतिमा शब्द के अर्थ दोनों हैं प्रतिमा के अर्थ सादृश्य के भी हैं और मूर्त्ति के भी-हैं जिस मंत्र में जिस भाव से प्रतिमा शब्द पाया जाता है वही आशय लिया जाता है "न तस्य प्रतिमास्ति" इस मंत्र में परमात्मा के सादृश्य निषेध के अभिप्राय से प्रतिमा शब्द आया है कि उस परमेश्वर के "सादृश्य" तुलना में अर्थात् उपमा देने में उसके बराबर और कोई वस्तु नहीं। इस लिये यहां प्रतिमाशब्द सादृश्य का वाचक है। हम वादी के इस कथन को इस अंश में तो ठीक मानते हैं कि वास्तव में प्रति शब्द दोनों भावों से वेद में आया है, किसी स्थान में मूर्त्ति के भाव से और कहीं सादृश्य के भाव से पर इस बात से प्रकृत में क्या? प्रकरण में अपेक्षित तो यह बात है कि "न तस्य प्रतिमा" इस मंत्र में प्रतिमा शब्द सादृश्य का निषेध करने वाला कैसे माना जाय, जब हम प्रकरण से यह दिखला चुके हैं कि यह निराकार का प्रकरण है इस लिये यहां "प्रतिमा" मूर्त्ति का निषेध ही प्रकरणानुकूल है सादृश्य का नहीं। और जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इस मंत्र के प्रतिमा शब्द सादृश्य वाचक होने में यह तर्क किया है कि (द्वितिय जो प्रतिमा शब्द है प्रतिमा शब्दार्थ है अर्थात् सादृश्य का वाचक जो सो स्वयं मंत्र अङ्गीकार करता है) इसका प्रकार यह बतलाया है कि इस मंत्र में "हिरण्यगर्भ: समवर्त्तताग्रे" "मामाहिंसी

ष्मनिताय:" "यस्मान्न जात इत्येष:" इन तीन मंत्रों की प्रतीकें हैं इन मंत्रों में ईश्वर मूर्त्तिमान् माना है इससे वादी यह सिद्ध करता है कि "न तस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र सादृश्य का निषेधक है क्योंकि उक्त तीनों मंत्रों के आशय से इसी मंत्र ने साकार को सिद्ध किया है । इस तर्क का उत्तर हम यह देते हैं कि प्रथम तो यह कथन ही सर्वथा असत्य है कि "नतस्य प्रतिमास्ति" इस में हिरण्य गर्भादि मंत्रों की प्रतीकें हैं, क्योंकि यह नियम वेद में और किसी स्थान में नहीं पाया गया, जो एक मंत्र अन्य मंत्रों की प्रतीकों का समुच्चय हो । और द्वितिय दुर्जन तोष न्याय से हम इस बात को मान भी लेते हैं कि यह मंत्र तीनों मंत्रों की प्रतीकों का समुचय ही सही फिर भी तो वादी की मूर्त्ति पूजा (नतस्य प्रतिमा) से सिद्ध नहीं होती, कारण यह कि बादी की यह प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल है कि "हिरण्यगर्भ" में जो स्वामी जी ने निराकार के अर्थ लिये हैं सो प्रसङ्ग विरुद्ध हैं तिमिर भास्कर पृ० ३५० प्रसङ्ग यहां निराकार का है इन चार मंत्रों में निराकार ईश्वर का ही प्रकरण है इन चार मंत्रों का वादी एक अनुवाक मानता है इस अनुवाक का चौथा मंत्र "य आत्मदा बलदा" यह है हम और इससे बढ़के प्रमाण क्या दिखलावें कि वादी के मतके भाष्यकार भी उक्त मंत्र में निराकार का वर्णन मानते हैं । देखो उव्वटाचार्य्य इसका यह अर्थ करता है कि "आत्मानं ददाति, आत्मदा उपासकानां सायुज्य प्रद: बलं सामर्थ्यं ददाति बलदा मुक्ति प्रद इत्यर्थ:"

इत्यादि अर्थ उपासक लोगों को सायुज्य मुक्ति देने वाला होने से उसको "आत्मदाः" कहा है, और जो "बल" मुक्ति रूपी बलदे, उसका नाम वलदा है इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि उव्वटादि इन मंत्रों को निराकार प्रतिपादक मानते हैं क्योंकि साकार पदार्थ मुक्ति के देने वाला कोई नहीं हो सक्ता यह सर्व तंत्र सिद्ध है। इतना ही नहीं "यस्यच्छायामृतं" मंत्र के इस वाक्य का अर्थ उव्वट महीधर सायण सब यही करते हैं कि "यस्यच्छाया आश्रयो, ज्ञान पूर्वकमुपासनं अमृतंमुक्तिहेतु" अर्थ–जिस परमात्मा की छाया अर्थात् आश्रय ज्ञान पूर्वक उपासना मुक्ति का हेतु है। यहां तो आपके सब आचार्य्य एक मत होकर यह भी मानगए हैं कि उस परमात्मा की ज्ञान पूर्वक उपासना ही मुक्ति का हेतु है अन्यथा नहीं, और आपके सिद्धान्त में मूर्त्तिपूजन अर्थात् साकार पूजन ज्ञान पूर्वक उपासना करना नहीं कहला सक्ता, फिर यहां ज्ञान पूर्वक उपासना करना उक्त आचार्य्यों ने किस की मानी है॥

बहुत क्या हम इन चारों मंत्रों के अर्थ यहां कर देते हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि "हिरण्य गर्भ" से लेकर चारों मंत्रों में निराकार की उपासना का प्रकरण है वा साकार की?

हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु अ० २५। १०॥

अर्थ–हिरण्य नाम ज्योति का है हिरण्य–सूर्य्य चन्द्रमादि ज्योति है मध्य जिसके सो कहिये हिरण्यगर्भ । ऐसा परमात्मा "सं अवर्त्तत अग्रे" सृष्टि से प्रथम वर्त्तमान था और वह सब भूतों की उत्पत्ति का एक ही कारण था, और जो पृथिवी से लेकर द्यौ पर्य्यन्त सब लोक लोकान्तरों को धारण कर रहा है उसको छोड़कर और हम किसकी उपासना करें अर्थात् ऐसे पूर्ण परमात्मा को छोड़कर और हम किसी की उपासना न करें, एक अद्वितीय परमेश्वर की उपासना का विधायक यह मंत्र है ॥

सायणाचार्य्य भी इनमंत्रों को निराकार प्रतिपादन मेंही लगाताहै "हिरण्मयः अण्डा गर्भवदस्य उदरे वर्त्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते" अर्थ–(हिरण्यमय) प्रकाश वाले सूर्य्य चन्द्रादि लोक जिसके उदर में हों उस सूत्रात्मा का नाम हिरण्य गर्भ है । इस प्रकार सायणादि आचार्य्य इन मंत्रों के अर्थ निराकार सर्वाधार सूत्रात्मा के करते हैं । मालूम होता है कि अमरकोष के अर्थों का ध्यान धरके मूर्त्ति पूजकों ने हिरण्यगर्भादि मंत्रों को साकारवाद में समझा है ॥

यः प्राणतो निमिषितो महित्वैक इद्राजा जगतो वभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० २ ॥

अर्थ–जो प्राण चेष्टा करने वाले सर्व जगत् का अर्थात् स्वेदज उद्भिदादि भूत चतुष्टय का एक ही राजा है और जो द्विपद

चतुष्पदादि गति वाला संसार वर्ग है उसका भी एक ही ईश्वर है यह प्राणधारी तथा द्विपदादि कथन वस्तु मात्र का उपलक्षण है अर्थात् जो वस्तु मात्र का ईश्वर है उसको छोड़कर हम और किसी वस्तु मात्र की उपासना न करें ॥

यस्ये मे हिमवन्तो यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्ये मा प्रदिशो यस्य वाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० ३ ॥

इस मंत्र के अर्थ प्रथम किये गए हैं यहां केवल प्रसङ्ग सङ्गति दिखलाने के लिये आशय वर्णन किया जाता है। पूर्व मंत्रों से प्रकरण यहां यह चला आता है कि हम किस देव की उपासना करें? इस पूर्व पक्ष का उत्तर यह है कि समुद्र के साथ सब नदियें, और हिमालय की चोटियें, इस प्रकार के विचित्र भावों वाले पदार्थ जिस परमात्मा के महत्व को कथन करते हैं और जिसकी पूर्वादि दिशाएं वाहू हैं अर्थात् निराकार होने से यदि वाहू आदि कों के रूपका उपन्यास करके कहें तो पूर्वादि दिशायें ही उसके बाहू हैं और नहीं। कौन कह सक्ता है कि यह मंत्र साकार का प्रतिपादक है महीधर सायण उव्वटादि सव आचार्य्य इसके निराकार के अर्थ करते हैं और अधिक क्या कहें ज्वालाप्रसाद भार्गव ईश्वर के साकारवाद का परम प्रेमी जो साकारवाद की छान वीन में वेद का पत्र २ छान मारता है वह विचारा भी इस मंत्र के अर्थ करते समय निराकार के सहारे से ही अपने

साहस को समाप्त करता है। देखो मूर्त्ति रहस्य पृ० ८३ ये हिमवा-
नादि पर्वत जिसके महत्व से कहे, नदी समूह सहित समुद्र को
जिसका ऐश्वर्य्य कहा, इत्यादि कहकर स्पष्ट यह मानता है कि यह
ईश्वर का वर्णन है जिसकी भुजादि अवयव दिशा रूप ही हैं ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं
यस्य देवाः। यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

इस मंत्र में तो किसी ने भी अद्यावधि यह नहीं कहा कि यह
मंत्र साकार का प्रचार करता है क्योंकि आत्मिक भाव देने वाला
परमात्मा और शारीरिक वलादि देने वाला परमात्मा और (यस्य
विश्व उपासते) सारा विश्व जिस की उपासना करता है ऐसा
तो अजन्मादि विशेषण विशिष्ट और प्राकृत गुण न होने से निर्वि-
शेष परमात्मा ही है और कोई साकार वस्तु नहीं। सायण इस पर
स्पष्ट यह भाष्य करता है कि "य प्रजापती आत्मदा आत्मा
नां दाता आत्मानोऽहि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते"
अर्थ—जो प्रजापति आत्मा जीवात्माओं का उत्पत्ति स्थान है,
अथवा जीवात्माओं का संशोधन करने वाला है यह 'आत्मदा'
के अर्थ हैं क्योंकि दैप शोधने धातुसे दा वनता है यह सायणा
चार्य्य लिखता है। कुछ हो यह तो प्रकरणान्तर है प्रकृत यह है
कि सायणाचार्य्य भी इन मंत्रों में उस देव को परमात्मा मानता
है जिसके विषय में प्रश्न था कि हम लोग किसकी उपासना करें।

और इस बात से सायणाचार्य्य ने इन मंत्रों में निराकारवाद को और भी स्पष्ट कर दिया कि उस परमात्मा का यहां वर्णन है जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है, यह आर्य्य शास्त्र का सर्व तंत्र सिद्धान्त है कि सृष्टि निराकार ईश्वर से उत्पन्न होती है। हमारे सनातनी भाइयों का शेषशाई साकार तो पीछे बनता है, यह सिद्धान्त "ततोविराडजायत" इत्यादि मंत्रों से सिद्ध है॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति" इत्यादि उपनिषद् वचन इसी सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं। फिर "य आत्मदा बलदा" इत्यादि मंत्रों में जिस सृष्टि कर्त्ता का कथन किया गया है उसमें साकारवाद की कथा ही क्या? रहा यह प्रश्न कि सायणाचार्य्य ने उक्त मंत्र में जो निराकार से जीवों की उत्पत्ति मानी है जैसे कि "आत्मानो हि सर्वे तस्मात्परमात्मन उत्पद्यन्ते" एवं सब जीवात्माओं की उत्पत्ति परमात्मा से मानी है और आर्य्य मन्तव्यों में जीवात्मा अनादि अनन्त माने गए हैं? इसका उत्तर यह है कि "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि मंत्र सिद्ध आविर्भाव को ही उत्पत्ति शब्द से कहा गया है अन्यथा "उत्पत्त्यसम्भवात्" इत्यादि शास्त्र से उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में जो जीवात्माओं को अनादि माना है उसके साथ विरोध आता। और जो सायणाचार्य्य ने "हिरण्यगर्भादि" मंत्रों में परमात्मा की कारणता सिद्ध करते हुए यह लिखा है कि "यथाग्नेः सकाशात् विस्फुलिङ्गाजायन्ते" इस अग्नि के दृष्टान्त से साकार ईश्वर सिद्ध

होता है? इसका उत्तर यह है कि इससे सायणाचार्य्य का अभिन्न निमित्तोपादान कारण में तात्पर्य्य है, साकार ईश्वर में तात्पर्य्य नहीं। बृहदारण्यक के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अग्नि विस्फुलिङ्गादिवाद उपनिषदों में ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के अभिप्राय से है साकार के अभिप्राय से नहीं, अन्यथा निराकार वादिनी श्रुतियों के साथ विरोध आता। प्रकृत यह है कि उक्त हिरण्यगर्भादि चार मंत्रों में निराकार ईश्वर का प्रतिपादन है। "नतस्य प्रतिमास्ति" इस मंत्र में हिरण्यगर्भ की प्रतीक से जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र उक्त मंत्र को साकार विधायक कहता था यह बात सिद्ध नहीं हुई। "प्रधानमल्ल निवर्हणन्याय" से इस बात का भी उत्तर आ गया जो "यस्मान्न जातः" "मामां हिंसीज्जनितायः" इन प्रतीकों में साकार का वर्णन पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने माना है॥

जब हमने इस बात को काट दिया जो पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यह लिखा था कि स्वामी जी ने 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' के अर्थ प्रकरण विरुद्ध किये हैं तो "यस्मान्नजात" इत्यादि प्रतीकों का उत्तर बीच में ही आगया, जैसे प्रधान मुख्य मल्ल के गिराने से उसके चेले चाटे बीच में ही आजाते हैं एवं "हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे" को निराकार वस्तु प्रतिपादक सिद्ध करने से पं ज्वालाप्रसाद मिश्र की यह प्रधान प्रतिज्ञा टूट गई कि "नतस्य प्रतिमास्ति" यह मंत्र साकार को प्रतिपादन करता है।

अब मंत्र के अर्थ यह हुए कि:—

नतस्य प्रतिमास्ति यस्यनाम महद्यशः हिरण्यगर्भ इत्येषः यस्मान्नजात इत्येषः ॥ यजु० अ०३२।३।

अर्थ–"नतस्य" उसकी कोई (प्रतिमा) मूर्त्ति नहीं है जिस परमात्मा का नाम अर्थात् यश प्रसिद्ध है। सृष्टि रचना रूप से प्रसिद्ध यश है इससे बड़ा और यश क्या हो सक्ता है, वह परमात्मा "हिरण्यगर्भः" सब सूर्य्य चन्द्रमादि पदार्थों का अधिकरण अर्थात् सब लोक लोकान्तर उस परमात्मा के उदर में निहित हैं इस लिये उस परमात्मा देव से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि हे देव तू हमारी हिंसा मतकर अर्थात् शारीरिक आत्मिक सामाजिक तीनों प्रकार के बल को हम कदापि तेरे से विमुख होकर हनन न करें और जिस लिये हे परमात्मन् आप उत्पन्न नहीं होते इस लिये आपकी कोई मूर्त्ति नहीं है ॥

और यदि वादी लोगों के कथनानुसार "हिरण्यगर्भः" इत्यादि तीनों मंत्रों की प्रतीकें मानी जाय तो भी अर्थ यह होगा कि उसकी कोई (प्रतिमा) मूर्त्ति नहीं, जिसके वर्णन में "हिरण्यगर्भ" ऋग्वेद अ० ८ अ० ७ व० ६ "मामाहिंसीज्ज नितायः" यजु० १२। २०२ "यस्मान्नजातः" यजु० ८। १६ यह मंत्र हैं इनका फिर भी अर्थ यही होगा और "नतस्यप्रतिमा" का अर्थ फिर भी किसी प्रकार बदल नहीं सकेगा, ग्रंथ विस्तार भय से हम "यस्मान्नजातः मामाहिंसीज्जनिताय" के अर्थों का विस्तार नहीं करते, यदि कोई देखना चाहे तो श्री स्वामी

जी के भाष्य में देख ले। उक्त मंत्रों में निराकार ईश्वर का ही वर्णन है साकार का नहीं, इस प्रकार "तदेवाग्निस्तदादित्यः" "सर्वेनिमेषाः" इस प्रकरण में तत् शब्द का अर्थ इन पूर्व मंत्रों में जो ब्रह्म कथन किया गया वही है जिसके अर्थ वादी के परम माननीय आचार्य्यों के मत से और वेद मत से निराकार परमात्मा के सिद्ध किये गए। इस प्रकार पूर्वोत्तर समालोचना से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य लोगों का यही मन्तव्य था कि ईश्वर निराकार है॥

॥ इतिवेदार्थसंग्रहे ईश्वर मन्तव्य निरूपणं समाप्तम्॥

अब इस दूसरे मन्तव्य में वैदिक अर्थों का संग्रह किया जाता है। वेदादि मन्तव्यों में प्रथम मन्तव्यवत् बहुत विस्तार करने से ग्रंथ बहुत वृहत् हो जायगा, अतएव हम केवल वैदिक मंत्रों पर ही अधिक निर्भर करके इन मन्तव्यों के वेदार्थ संग्रह को सङ्कुचित करने की चेष्टा करेंगे॥

इस मन्तव्य का आशय यह है कि वेद ईश्वरीय होने से निर्भ्रम हैं अर्थात् ईश्वर ने जो ज्ञान अपनी सर्व शक्तिमत्ता से ऋषियों के हृदय में प्रकाश किया वह वेद है, और वह वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से निर्भ्रान्त है। वेदों के निर्भ्रम होने के विषय में हम पहिले भी संक्षेप से वर्णन कर आए हैं, इसी प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों ने भी वेदों को भ्रान्ति रहित माना है, वेदस्य हि स्वार्दे निरपेक्षं प्रामाण्यं रवे रिव रूप विषये॥ स्मृति पा० सू० १ एवं यह विषय आर्य्य मात्र में सर्व तंत्र सिद्ध है कि वेद ईश्वरीय होने से भ्रान्ति रहित हैं॥

यहां इस आशय का विचार किया जाता है कि किसके द्वारा वेद प्रकट हुए, क्योंकि इस विषय में हमारे सनातनी भाई विप्रतिपन्न हैं ॥

"तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानिजज्ञिरे" इस मंत्र के प्रमाण से यह बात तो सिद्ध है कि (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (छन्दांसी) से अथर्व और यजुः चारों वेद ईश्वर से प्रकाश हुए, किस मनुष्य के द्वारा प्रकाश हुए इस का वर्णन ब्राह्मण ग्रथों में है, और पः ज्वालाप्रसादमिश्र सनातनधर्म्मकल्पतरुकार ने यह लिखा है कि

यास्मिन्नश्वासऋषभास उक्षणोवशा मेषा अवसृष्टा स आहुताः। कीलालपे सोम पृष्टाय वेधसे हृदामतिं जनये चारु मग्नये ॥ ऋ० मं० १० अ० ८ सू० ९१ मंत्र १४ ॥

इस मंत्र से ब्रह्मा जी को वेद प्राप्ति पाई जाती है (वेधसे हृदामतिं जनये) इस का अर्थ यही है कि परमात्मा ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का प्रकाश करता हुआ। तिमिर भास्कर पृ० २३७ यहां तो मिश्र जीने "वेधसे हृदामतिं जनये" इस वाक्य गत "वेधस" शब्द से ब्रह्माजी पर वेद प्रकट होने की विधि येन केन प्रकारेण मिला ही ली। पर इस समय ऐसे आडम्बर मात्र के अर्थों को कौन खड़ा होने देता है, देखो इस मंत्र में आगे अन्त में "अग्नये" यह विशेषण "वेधसे" का पड़ा है जिससे यह अर्थ स्पष्ट है कि मैं ऐसे अग्नि के लिये "हृदा" हृदय से

"चारुं" कल्याण करने वाली मति बुद्धि को उत्पन्न करता हूं। यहां उक्त पं: साहब "चारुमग्नये" इस अगले पाठ को झट चट कर गए। इतना ही नहीं पूर्वका पाठ जो (कीलालपे सोम पृष्टाय) उक्तदोनों चतुर्थ्यन्त शब्द "वेधसे" के विशेषण थे इनको भी जलाञ्जलि दे गए। और लोगों के दिखलाने के लिये ऊपर पूरा मंत्र "यस्मिन्नश्वा स ऋषभा" यह लिख गए। अर्थ करने में केवल इतनी प्रतीक ही याद रही "वेधसे हृदामतिं जनये" और सम्पूर्ण मंत्र भूल गए, क्यों न भूलते यदि न भूलते तो ब्रह्माजी को वेद प्राप्ति कराते कराते कुछ और प्राप्त कर बैठते, और वह यह था कि सूत्रामणि यज्ञ में जो "सुरा" शराब पीने वाला अग्नि है और सोमरस युक्त है पृष्ट भाग जिसका, ऐसे अग्नि के लिये हम कल्याण कारिणी मति उत्पन्न करें अर्थात् ऐसे अग्नि की हम स्तुति करें, फिर वह अग्नि कैसा है जिसमें पुष्ट २ घोड़े और बैल और "मेषा" मेढ़े देवता के लिये अश्वमेध यज्ञ में हवन किये जाते हैं ऐसे अग्नि के लिये हम स्तुति रूप बुद्धि उत्पन्न करें, यहां तो ब्रह्मा जी को वेद उत्पन्न करते २ कुछ और ही उत्पन्न हो गया। इस अर्थ में किसी को सन्देह हो तो देखो सायणाचार्य्य का सनातन भाष्य "ऋ० अ० ८ अ० ४ व० २३ मं: १४" सनातन धर्म्म के संकल्प पूर्ण करनेवाले कल्पतरुकार जी आप सायणाचार्य्यादिकों के सनातन अर्थों को छोड़कर नई नई नीवें क्यों डालते जाते हैं यह अधिकार आपको नहीं, आप तो सभी सनातन अर्थ ठीक मानते हो तुम्हारी सम्मति में तो वेदों के अर्थ करने में सायणाचार्य्यादि भूल में न थे किन्तु केवल

आर्य्य समाज ही भूल में है ॥

सायणादि भाष्यकारों को छोड़कर नए अर्थ करने का अधिकार तो आर्य्य समाज को ही है जो सायणादिकों के समय को पौराणिक समय होने के कारण भ्रान्ति मूलक बतलाता है और वेदों को पशुवध रूप अश्वमेधादिकों से रहित मानता है ॥

आर्य्य मन्तव्यानुकूल उक्त मंत्र के यह अर्थ हैं कि "कीलालपे" जो जल के पीने वाला भौतिकाग्नि है और हवन काल में जिसके पृष्ट भाग में सोमरसादि पाया जाता है इस प्रकार की हवनादि सामग्री को धारण करने वाला जो (वेधस) विदधातीति-वेधस इस व्युत्पत्ति से जो धारण करने के अर्थ से (वेधस) नाम से प्रसिद्ध है। फिर वह कैसा भौतिकाग्नि है "यस्मिन्नश्वा" जिस में अश्व, बैल, मेषादि, पशु दान दिये जाते हैं अर्थात् हवन यज्ञ के अन्त में अश्वादि पशु यज्ञों में दान किये जाते हैं। ऐसे भौतिकाग्नि की हम हृदय से स्तुति वर्णन करते हैं। इस मंत्र में अग्न्यादि पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया गया है ॥

प्रकृत यह है कि इस मंत्र में ब्रह्माजी को वेद प्राप्ति का कहीं भी पता नहीं पाया जाता, केवल (वेधस) शब्द के अनर्थ करके अपने अर्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। और जो "ब्रह्मा देवानां प्रथमंसम्बभूवविश्वस्यकर्त्ताभुवनस्य गोप्ता" इस प्रथम मुण्डक का आश्रय लेकर ब्रह्मा को वेद प्राप्ति मानी जाती है इसका आशय यह है कि यहां ब्रह्मा का प्रथम होना उपनिषद् विद्या वेत्ता ऋषियों में प्रथम होना पाया जाता है नकि वेद वेत्ताओं में। "विश्वस्यकर्त्ताभुवनस्य गोप्ता" यह विशेषण

ब्रह्मविद्या को प्रकट करके उसके द्वारा भुवन संसार की रक्षा के अभिप्राय से है ॥

और जो—हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु । श्वेता० ३ । ४ इससे ब्रह्मा प्रथम सिद्ध किया जाता है यहां हिरण्यगर्भ से तात्पर्य्य किसी ब्रह्मा ऋषि का नहीं, किन्तु विराट का नाम है जिसका वर्णन मनु में स्पष्ट है ॥

"भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः" अथर्व० १९ । २३ । ३० और इस मंत्र से जो ब्रह्मा ऋषि सिद्ध किया है और यहां महाव्यामोह से यह कथन किया है कि दयानन्दजी तथा उनके चेलों को आंखे खोलकर देखना चाहिये कि यह मंत्र भाग की श्रुति है तिमिर भास्कर पृ० २३९ इसका उत्तर यह है कि श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज तथा उनके चेलों ने ठीक २ आंख खोलकर देखा तो यह पाया कि वेद संहिता में आपके चतुर्मुख ब्रह्मा का वा वेदों के कर्त्ता ब्रह्मा का कहीं नाम तक नहीं। पर अब आप आंखें खोलकर देखें तो इस मंत्र में तो ब्रह्मा नहीं किन्तु ब्रह्म है। देखो इस मंत्र के पूर्वार्द्ध में यह शब्द है, "ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिव माततान" इसके अर्थ यह हैं कि ब्रह्म ने सृष्टि के प्रथम इस बड़े द्यौ लोक को (आततान) विस्तार किया। अब कहिये द्यौ लोक के विस्तार करने वाला ब्रह्म हुआ वा आपका पौराणिक ब्रह्मा ॥

पौराणिक ब्रह्मा को वेद प्राप्ति के विषय में सबसे पुष्ट प्रमाण यह दिया जाता है :—

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तंह देवात्म बुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ श्वेताश्वतर अ० ६ ॥

इसके अर्थ यह हैं कि जिस परमात्मा ने (ब्रह्माणं) हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके उस ब्रह्माण्ड के लिये वेदों को दिया, उस परमात्मा की मैं मुमुक्षु शरण को प्राप्त होऊं, इस उपनिषद् वचन से किसी मनुष्य रूप ब्रह्मा को वेदों का दिया जाना नहीं पाया जाता ॥

और "सब्रह्मविद्यांसर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह" इस मुण्डक वाक्य का उत्तर तो ब्रह्मा उपनिषद् वेत्ताओं में प्रथम हुआ इस कथन से देदिया गया ॥

इस प्रकार वेद संहिता और उपनिषदों में कहीं भी आपके ब्रह्मा को वेदों की प्राप्ति होना नहीं लिखा प्रत्युत प्रतिकूल लिखा है जैसे कि:—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदाअजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः ॥ शतपथ कां० ११ अ० ५ ॥ अर्थ—तप करते हुए अग्नि वायु आदित्य इन तीनों ऋषियों से, अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद आदित्य से सामवेद, उक्त तीनों वेद उत्पन्न हुए ॥

इस विषय में यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि वेद तीन ही हैं जो शतपथ के उक्त वाक्य में तीनों वेदों काही कथन है इसका

उत्तर यह है कि यहां तीनों का प्रसङ्ग होने के अभिप्राय से तीन कहे गए, वास्तव में वेद चार हैं इसी शतपथ में चार वेद होने का प्रमाण पाया जाता है "एतस्य वा महतो भूतस्य निश्वसितं ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः" इससे सिद्ध है कि वेद चार हैं, अस्त्वन्य देतत् ॥

प्रकृत यह है कि "तेभ्यस्तप्तेभ्यः" इस शतपथ के वचन से वेदों का अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा प्रकट होना पाया जाता है वा ब्रह्मा के द्वारा ? ब्रह्मा के द्वारा वेदों का प्रकाश होना मानने वाले इस शतपथ का यह अर्थ करते हैं कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों तपस्वियों से तीनों वेद ऋग् यजु साम प्रकाश हुए अर्थात् वेद त्रय विहित कर्मों का प्रचार हुआ, क्योंकि इस श्रुति में अजायन्त क्रिया है और वह जनि धातु से बनती है, जो प्रादुर्भाव के अर्थों में प्रसिद्ध है। और प्रादुर्भाव प्रकाश होने को कहते हैं, जिसे भाषान्तर में ज़ाहिर होना कहते हैं, तात्पर्य्य यह है कि इन तीनों देवताओं ने जगत् में तीनों वेदों का प्रचार किया ॥

ब्रह्माजी से इन्हीं तीनों ने वेदों को पढ़कर विहित यज्ञादिक कर्मों का अनुष्ठान किया, तिमिर भास्कर पृ० २३८

यहां वादी ने यह तो माना कि अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा वेदों का प्रकाश हुआ, और इसी पृष्ठ में "अग्निर्देवता वातो देवता" इस मंत्र के प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि अग्नि आदि ऋषि न थे किन्तु जड़ पदार्थ थे, धन्य है सनातनियों

की स्मृति जो फिर इसी पृष्ठ में अग्नि आदिकों को तपस्वी माना। इतना ही नहीं प्रत्युत यह भी माना कि वेदों का प्रचार अग्नि वायु आदित्यादिकों के द्वारा ही हुआ है। वादी उन वक्ताओं में से है जो श्रीस्वामीजी को परस्पर विरोध का दोष लगाया करते हैं और स्वामी जी के मन्तव्य से अत्यन्त विरुद्ध भङ्ग पीने का उपहास करके भूल के कारण भङ्ग का उपालम्भ दिया करते हैं पर यहां तो वादी स्वयं शिव भोले की भक्ति के भवर में पड़कर इस वात को भूल गया कि पहले में क्या लिख आया हूं और अब क्या लिखता हूं। और जो "अजायन्त" क्रिया के अर्थों पर वड़ा भारी वल लगाकर यह सिद्ध किया कि अग्न्यादि ऋषियों ने केवल वेदों को प्रकट किया रचा नहीं, इस सिद्ध साधन से क्या, हम कब कहते हैं कि अग्न्यादिकों ने वेदों को वनाया, और आपके ब्रह्मा जी ने कौनसा वेदों को बनाया उनको भी तो आप प्रकाश होना ही मानते हैं फिर आविर्भाव के अर्थों से आपको क्या लाभ, क्योंकि आविर्भाव में अग्न्यादि ऋषि और ब्रह्मा समान हैं, अस्तु अधिक दिखलाने योग्य बात यह है कि यहां तो वादी ने अर्थात् के अर्थ को ऐसा लम्बा कर लिया जो इन तीनों तपस्वियों से तीनों वेद ऋग् यजु साम प्रकाश हुए के अर्थ अर्थात् कहकर यह करलिये कि अर्थात् वेदत्रय विहित कर्मों का प्रचार हुआ॥

इस प्रकार वेद विहित कर्मों के प्रचार को आपने अग्न्यादि को मानकर फिर यह माना कि ब्रह्मा जी से इन्हीं तीनों ने वेदों को पढ़कर विहित यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान किया। अब बतलावें

यहां तो आपने अग्न्यादि ऋषियों को ब्रह्माजी के विद्यार्थी माना है फिर जड़ कैसे रहे। न केवल विद्यार्थी ही माना है प्रत्युत यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान करने वाले माना है ठीक है, आप को इस में क्या आग्रह है अग्न्यादि ऋषि यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करें और वेदों का जगत् में प्रचार करें पर आपको आग्रह इस बात का है कि अग्न्यादि ऋषि ब्रह्माजी के विद्यार्थी अवश्य बने रहें। हमे क्या जहां तक बन पड़े अग्न्यादिकों को ब्रह्माजी के विद्यार्थी बनाइये, पर आपके मनु भगवान ही नहीं बनने देते हम क्या करें, देखो :—

अग्निवायुरविभ्यस्तुत्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजु साम लक्षणम् मनु० अ० १ श्लो० १२॥

अर्थ—यह है कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों से सनातन ब्रह्म जो वेद है उसको यज्ञ की सिद्धि के लिये ब्रह्माजी ने उक्त तीनों ऋषियों से वेद त्रयी को दोहन किया। मनुका यह आशय है कि अग्नि वायु आदित्य इन तीनों से ब्रह्मा को वेद मिले, इस आशय को कोई छिपा नहीं सक्ता॥

इसके अर्थ पं: ज्वालाप्रसाद मिश्र सनातनधर्म के संस्कार कर्त्ता अब यों करते हैं, (ब्रह्माजी ने ऋग् यजु साम यह नित्य तीन वेद यज्ञ की सिद्धि के लिये अर्थात् यज्ञ करने और कराने के हेतु अग्नि वायु रवि नामक देवताओं के अर्थ क्रम पूर्वक दिये। (अग्नि वायु रविभ्य:) यहां चतुर्थी विभक्ति है पञ्चमी नहीं,

और दुदोह क्रिया ददौ के अर्थ में है, इत्यादि अनर्थ करके यह लिख मारा है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहां दुह धातु के अर्थ दुहने के नहीं किन्तु देने के हैं, एवमेवास्तु ऐसा ही सही जहां दुग्धं गीतामृतम् पाठ है उसके अर्थ सनातन संप्रदाय से गीता रूपी अमृत दिया यह होंगे, हों पर पं० ज्वाला प्रसाद मिश्रजी इस सनातनपन से कहां मुख छिपावेंगे कि दुदोह क्रिया का कर्त्ता मनु के सब भाष्यकारों ने ब्रह्मा को माना है और "अग्नि वायु रविभ्यः" इसको सब ने अपादान माना है। देखो कुल्लूक यह अर्थ करते हैं, "ब्रह्मा ऋग्यजुसाम संज्ञं वेद त्रयं अग्नि वायु रविभ्यः आकृष्टवान्" अर्थ—ब्रह्मा ने तीनों वेदों को अग्नि वायु आदित्य इन तीन ऋषियों से आकृष्ट-वान्-लिया, और इस अर्थ में वही आपकी मानी हुई शतपथ की श्रुतिप्रमाण है जिसमें आप अग्निआदिकों से वेदों का जगत् में प्रचार होना मान आए हैं, और वहां "तेभ्यस्तपतेभ्यः" इसको पञ्चमी विभक्ति मान आये हैं इसी पञ्चमी विभक्ति के अर्थों को कुल्लूक भट्ट यों खोलता है "अग्नेऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद इति" शतपथ आकर्षणार्थत्वादुहिधातोर्नाग्नि वायुरविणामकथितकर्मता किन्त्वपादानतैव॥ अर्थ–अग्नि से ऋग्वेद और वायु से यजुर्वेद आदित्य से साम वेद, यहां दुह धातु आकर्षण अर्थ वाली है इस लिये "अकथितञ्च" इस सूत्र करके अग्नि वायु आदिकों को कर्म्म नहीं हुआ, अपा-दानता ही है, अब कहिये क्या इन सारे सनातन भाष्यों पर दृष्टि ना देकर मन माने सम्प्रदान के अर्थ बनाकर अर्थात् चतुर्थी के

अर्थ बनाकर अग्नि आदिकों को वेद विद्या में ब्रह्मा जी के विद्यार्थी बनायेंगे? यहां और क्या कहें इस शतक में ऐसे नए अर्थ करके सनातन धर्म्मी होने का दम भरना यह काम आज कलके कलयुगी आचार्य्यों का ही है ॥

इस मनु के श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा को वेद अग्नि आदि ऋषियों के द्वारा मिले, अब क्या? "तस्मिन्यज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह" इत्यादि ब्रह्मा के प्रथम उत्पन्न होने का कथन शतपथादिकों में अग्नि आदि ऋषियों के प्रथम सिद्ध होने के प्रमाणों से प्रवल हो सक्ता है। सारांश यह है कि जब शतपथ से यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्माजी ने अग्नि आदि ऋषियों से वेद लिये तो मनु आदि के प्रमाणों से ब्रह्मा को प्रथम सिद्ध करना क्या काम आ सक्ता है॥

इति वेदार्थ संग्रहे द्वितीयमन्तव्य निरूपणं समाप्तम् ॥

(३) इस तीसरे मन्तव्य में धर्म का लक्षण किया गया है, ईश्वराज्ञा का पालनकरना धर्म है, और उससे विरुद्ध का नाम अधर्म है। यही धर्म्माधर्म्म का मुख्य लक्षण है। यह मन्तव्य स्पष्ट है इसमें व्याख्या की आवश्यक्ता नहीं ॥

(४) जिसके इच्छा द्वेष सुख दुख ज्ञानादि लिङ्ग हों, उस का नाम जीव है। इसमें न्याय शास्त्र का यह सूत्र है, "इच्छाद्वेष प्रयत्नसुखदुख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति" न्या० द० १।१।१० इनमें ज्ञानादि गुण तो उसके स्वरूपभूत हैं और द्वेष सुख दुःख आदि उसके उपलक्षण हैं स्वरूपभूत नहीं। जैसे कि "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" ब्र० सू० २।३।२९।

(तद्गुणसारत्वात्) नाम ज्ञान गुण सार होने के अभिप्राय से उसको विज्ञानमय कहा गया है, जैसे कि (प्राज्ञवत्) नाम परमात्मा को आनन्द गुण सार होने के अभिप्राय से आनन्दमय कहा गया है। इससे सार यह निकला कि जीवात्मा का ज्ञान रूप गुण ही स्वरूप भूत है और गुण आगमापाई हैं, इससे मुक्ति में द्वेष और दुःखादिकों के रहने का दोष नहीं आता॥

(५) इस पांचवें मन्तव्य में जीव ईश्वर के भेद को सिद्ध किया गया है। वह भेद इस प्रकार है "ततस्तुतंपश्यतेनिष्कलं ध्यायमानः"। मु० ३।१।८ अर्थ—उस निष्कलंक परमात्मा को ध्यान करने वाला जो जीव है वह देख सक्ता है। इस वाक्य में परमात्मा ध्यान का विषय और जीव ध्यान करने वाला, इस प्रकार जीव ईश्वर के भेद को स्पष्ट वर्णन किया गया है। "परात्परंपुरुषमुपैतदिव्यं" मु० ३।२।८। अर्थ—वह (परात्परं) नाम प्रकृति से परे जो पुरुष है उस दिव्य पुरुष को जीवात्मा प्राप्त होता है, जीवात्मा उसको प्राप्त होने वाला है और वह प्राप्ति का विषय है। एवं यह वाक्य भी भेद ही को कथन करता है "यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" बृ० ३।७।३। जो सब भूतों के अन्तर व्यापक होकर उनकी प्रेरणा करता है वह तुमारा आत्मा है, और "य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद" इत्यादि वाक्यों में व्याप्य व्यापक भाव से जीव ईश्वर का स्पष्ट भेद वर्णन किया गया है॥

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष

स्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। ऋ० अष्ट०२ अ०३ व० १७।

अर्थ–(द्वासुपर्णा) नाम दो चेतन हैं (सयुजा) नाम अनादि काल से सम्बन्ध रखने वाले हैं (सखाया) परस्पर मित्र हैं,(समानं वृक्षं) नाम अनादित्वेन समान प्रकृति रूपी वृक्ष को(परिषस्वजाते) नाम आश्रय किये हुए हैं। उन दोनों में से (अन्य) जो परमात्मा है वह आप्त काम होने के कारण से (अनश्नन्) नाम भोग न करता हुआ (अभिचाकशीति) नाम साक्षी रूपसे वर्त्तता है। इस मंत्र में जीव ईश्वर का स्पष्ट रूप से भेद वर्णन किया गया है। कोई मायावादी इसको कल्पित भेद कथन करता है, कोई उक्त दोनों में से भोक्ता बुद्धि और अभोक्ता जीव लेता है, इस प्रकार नाना अर्थ करते हैं, पर यहां जीव ईश्वर को छोड़कर बुद्धि और जीव का ग्रहण करना अति कठिन है क्योंकि उन्हीं के कई एक भाष्यकार यहां जीव ईश्वर का ही ग्रहण करते हैं जैसे कि सायण यह लिखता है कि "अत्रलौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीव परमात्मानौस्तूयेते" यहां लौकिक पक्षि दो के दृष्टान्त से जीव और परमात्मा की स्तुति की गई है, इसलिये भी बुद्धि जीव का यहां ग्रहण नहीं हो सक्ता कि मुण्डकोपनिषद् में यह मंत्र जीव ईश्वर के विषय में पढ़ा गया है न कि बुद्धि और जीव के विषय में। एवं व्यास सूत्रों में भी जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट है जैसा कि "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" ब्र० सू० २।१।२२।
अर्थ–तु शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है (अधिकं) नाम ब्रह्म जीव से

अधिक अर्थात् बड़ा है (भेदनिर्देशात्) नाम वेदोपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद कथन किये जाने से। जैसे कि " आत्मावारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृ० २। ४। ५।

"सोऽन्वेष्टव्यः" "स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि उपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद है। इस सूत्र में स्वामी शङ्कराचार्य्य को भी भेद ही मानना पड़ा है, क्योंकि इससे पूर्व यह सूत्र था कि यदि ब्रह्म ही जीव बन गया तो उसने अपने लिये हित न किया, इसका उत्तर उक्त सूत्र है। यदि जीव ब्रह्म के भेद का कोई अधिक विस्तार देखना चाहें तो वेदान्तार्य्यभाष्य में देखलें, यहां विस्तार भय से संक्षिप्त लिखा गया है॥

(६) तीन पदार्थ जीव प्रकृति और परमात्मा को अनादि माना है वह "द्वासुपर्णासयुजासखाया" इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट हैं॥

(७) जो द्रव्य, गुण, कर्म, उत्पन्न होते हैं वह प्रवाह से अनादि हैं, और स्वरूप से सादि हैं, सारांश यह है कि यह जगत् प्रवाह से अनादि है और स्वरूप से सादि है॥

(८) नाम रूप की रचना का नाम सृष्टि है। "रचनाऽनुपपत्तेश्चनाऽनुमानम्" ब्र० सू० २।१।१ इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से बिना नहीं हो सक्ती यहकहा है और इस सूत्र में इस बात को भी स्पष्टकिया है कि उत्पत्ति केवल रचनाकी ही होती है न कि नित्य द्रव्यों की। इसलिये आर्य्य मन्तव्यों में सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म माना गया है न कि नित्य द्रव्यों का॥

(९) नवें में सृष्टि का प्रयोजन वर्णन किया गया है । सृष्टि का प्रयोजन ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता है, जैसे कि नेत्रादि तभी सफल होते हैं जब उनका कोई विषय हो, इसी प्रकार ईश्वर का सामर्थ्य भी तभी सफल होता है जब उसका कोई कार्य्य हो । इस विषय में यह प्रश्न हुआ करता है कि जब अकस्मात् ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न करदी तो कोई बड़ा और कोई छोटा क्यों बना ? यदि पूर्व कर्म सापेक्ष सृष्टि उत्पन्न की तो कर्म कहां से आए ? क्योंकि कर्म तब होंगे जब शरीर होगा, और शरीर तब होगा जब प्रथम कर्म हो चुकेंगे । इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आने से कर्म अनादि सिद्ध नहीं हो सक्ते ? इसका उत्तर यह है कि अन्योऽन्याश्रय दोष तब आता यदि जिन कर्मों से जो शरीर बना है उस शरीर से फिर वही कर्म उत्पन्न होते, पर ऐसा नहीं होता' किन्तु उस शरीर से और कर्म उत्पन्न होते हैं और फिर उन कर्मों से और शरीर उत्पन्न होता है, एवं बीजाङ्कुर के समान यह प्रवाह अनादि है इस लिये कोई दोष नहीं । जिनके मत में जीव, जीवों के कर्म, प्रकृति यह अनादि नहीं उनके मत में सृष्टि रचने का प्रयोजन वर्णन नहीं किया जा सक्ता ॥

एवं मायावादि वेदान्तियों के मत में भी सृष्टि रचने का कोई प्रयोजन नहीं हो सक्ता, क्योंकि उनके मत में सृष्टि से प्रथम ब्रह्म एक ही था, और उसी अभिन्ननिमित्तोपादानकारण से सृष्टि बन गई इस मत में ब्रह्म का प्रयोजन सृष्टि रचने का कोई कथन नहीं किया जा सकता ॥

(१०) दशवें में सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर माना गया है और यह मन्तव्य स्पष्ट है इस लिये व्याख्यान की आवश्यक्ता नहीं ॥

(११) बन्ध स्वभाविक है या नैमित्तिक ? इस बात का निर्णय इस मन्तव्य में किया गया है । बन्ध को नैमित्तिक माना है अर्थात् अविद्या रूपी निमित्त से होता है, जैसा कि :—

अन्धंतमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः ॥ ई० वा० उ० ९

अर्थ—वह लोग (अन्धतम) नाम गाढ़ अविवेक रूपी बन्धन को प्राप्त होते हैं जो अविद्या की उपासना करतें हैं, अर्थात् अविद्या ग्रस्त हैं । और वह भी अन्धतम को प्राप्त होते हैं जो (विद्या) नाम ज्ञान के अभिमान में ही रत हैं कर्म नहीं करते । इत्यादि मंत्रों से बन्ध अविद्याजन्य कर्म कृत सिद्ध होता है और विद्या जन्य कर्म से उसकी निवृत्ति होती है ॥

(१२) इस बारहवें में मुक्ति का निरूपण है । "मुक्ति" जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आदिकों के समान जीव की अवस्था विशेष है, इस मुक्ति अवस्था में जीव के इन्द्रियादि भी उसके साथ रहते हैं जैसाकि 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' ब्र० सू० ४।४।११ अर्थ-(भावं) नाम शरीर और इन्द्रियों का मुक्ति में भाव पाया जाता है, जैमिनि आचार्य्य विकल्प के कथन पाए जाने से ऐसा मानते हैं, वह विकल्प यह है "स एकदा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति" छा० ७।२६।२। इत्यादि वाक्यों में यह

पाया जाता है कि वह एक प्रकार से होता है, दो प्रकार से होता है, तीन प्रकार से होता है। आशय इसका यह है कि उसकी एक प्रकार की शक्ति होती है दो प्रकार की होती है तीन प्रकार की होती है, एवं सहस्र प्रकार की शक्तियें उक्त वाक्य में कथन की गई हैं। और यह शक्तियें विना शरीर इन्द्रियों के नहीं हो सक्तीं, इससे पाया जाता है कि मुक्ति में शरीर रहता है। जब मुक्ति में शरीर और इन्द्रियें पाए जाते हैं तो फिर यह कैसे कहा जा सक्ता है कि पुनराबृत्ति नहीं होती? क्योंकि जैसे इस लोक के शरीर से पुनराबृत्ति होती है ऐसे परलोक के शरीर से भी पुनरावृत्ति होती है। जो लोग मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानते उनको यह भी मानना चाहिये कि मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का भाव नहीं रहता, और ऐसा मानने पर शङ्कर मत के समान मुक्ति हो जाती है जिसमें शरीर इन्द्रिय तो क्या प्रत्युत अहंभाव भी नहीं रहता, अर्थात् मैं सुखी हूं जीव यह भी नहीं जान सक्ता, केवल पाषाण तुल्य हो जाता है ऐसी मुक्ति वेद और उपनिषदों में कहीं भी निरूपण नहीं की गई। जिस वाक्य से स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने पुनराबृत्ति ली है जैसे कि:—

आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते नचपुनरावर्त्तते नचपुनरावर्त्तते। छा० अंत०॥

अर्थ—जब कि यह जीव सब इन्द्रियों को अपने आधीन कर लेता है और किसी प्राणी मात्र की हिंसा नहीं करता, (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) नाम पवित्र स्थानों से भिन्न हिंसा नहीं करता अर्थात् पवित्र स्थानों में जाने के लिये जो हिंसा अवर्जनीय है उस में उसको कोई दोष नहीं। एवं सम्पूर्ण आयु वर्ताव करने वाला पुरुष ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है। और "नच पुनरावर्त्तते" के अर्थ यह हैं कि फिर उसको ब्रह्मोपासना में आवृत्ति नहीं करनी पड़ती। और दूसरा "पुनरावर्त्तते" उपनिषद् की समाप्ती के लिये आया है॥

दूसरी वात यह है कि लोक्य तेति लोकः जो दर्शन का विषय हो उसका नाम लोक है, अर्थात् स्थान विशेष का नाम लोक है। जब स्थान विशेष लोक है तो फिर पुनरावृत्ति कैसे नहीं। क्योंकि जब चन्द्रलोकादिकों से वादी के मत में पुनरावृत्ति मानी जाती है तो फिर ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति कैसे नहीं? पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि ब्रह्म लोक की प्राप्ति रूप जो मुक्ति है उसमें शरीर और इन्द्रियों का भाव जैमिनि आचार्य्य मानते हैं, जब ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का भाव मान लिया तो फिर शेष मुक्ति कौनसी रही जिसमें पुनरावृत्ति का निषेध किया गया है? क्योंकि "नचपुनरावर्त्तते नच पुनरावर्त्तते" इस वाक्य में भी तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप ही मुक्ति है, इस में स्पष्ट यह लिखा है कि "ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते" अर्थात् ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।

इसी आशय को लेकर श्रीकृष्णजी गीता में लिखते हैं कि "आब्रह्म भुवना लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनमामुपेत्यतु कौन्तेयपुनर्जन्म न विद्यते" अर्थ–ब्रह्म लोक को प्राप्त हुए पुरुष पुनः लौट आते हैं पर मुझको प्राप्त होकर हे अर्जुन फिर नहीं जन्मते। इस वाक्य में कृष्णजी ने भी मुक्ति से पुनरावृत्ति मानी है। रही यह बात कि यह जो कहा कि मुझ को प्राप्त हो कर फिर जन्म नहीं होता यह अर्थवाद है अर्थात् उसका यह अर्थ नहीं कि वास्तव में फिर जन्म नहीं होता किन्तु परान्तकाल तक फिर जन्म नहीं होता इस अभिप्राय से यह कहा गया है॥

मुक्ति से पुनरावृत्ति का दृढ़ प्रमाण यह है कि "भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" ब्र० सू० ४।४।२१ में यह लिखा है कि मुक्ति में जीव को ब्रह्म के साथ भोग मात्र में समता होती है अर्थात् जैसे ब्रह्म आनन्दमय है इस प्रकार जीव भी मुक्ति अवस्था में आनन्द को भोगता है, जो लोग बल पूर्वक यह दिखलाते हैं कि सर्व शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती, उनके मत में भोग मात्र में ही जीव ब्रह्म की समता क्यों? प्रत्युत सभी गुणों में समता होनी चाहिये! अनावृत्ति में समता, विभु होने में समता, ऐश्वर्य्य में समता, नित्य ज्ञान में समता, एवं ब्रह्मवत् सर्व गुण सम्पन्न ही जीव उनके मत में होना चाहिये था। फिर सूत्रकार ने भोग मात्र में ही समता क्यों मानी? और तर्क यह है कि यह सूत्र "अनावृत्तिः शब्दाद नावृत्तिःशब्दात्" इससे पर्व, का है अर्थात् "भोगमात्र

साम्य लिङ्गाच्च" इक्कीस का है और उक्त सूत्र बाईस का है जब पूर्व सूत्र में भोग मात्र में समता वर्णन की गई है तो उत्तर सूत्र इससे विरुद्ध कैसे हो सकता है? हमारे विचार में तो "अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिःशब्दात्" यह शारीरक का अन्तिम सूत्र इस इक्कीस के सिद्धान्त को ही दृढ़ करता है कि (अनावृत्ति)नाम आवर्त्तनं आवृत्तिः—पुनः २ परमेश्वर के अभ्यास का नाम यहां आवृत्ति है। न आवृत्ति अनावृत्तिः अर्थात् जिस अवस्था में अभ्यास रूप आवृत्ति नहीं अर्थात् मुक्ति में "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्य" बृ० ४। ५। ६। एवं आवृत्ति नहीं होती। इस अभिप्राय से सूत्र कार ने कहा है कि "अनावृत्तिःशब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इसने पूर्व सूत्र के इस अर्थ को दृढ़ किया कि "सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" अर्थ—वह मुक्त जीव ब्रह्म के साथ सब आनन्दों को भोगता है, अर्थात् ब्रह्म समानआप्त काम हो जाता है, इसी भोगमात्र में उसकी समता पाई जाती है इसलिये भोग के साथ मात्र शब्द आया है। मात्र शब्द यह सिद्ध करता है कि भोग में ही जीव ब्रह्म की समता है अन्य बातों में नहीं। इस बात की सिद्धि का बड़ा प्रमाण यह है "जगद्व्यापारवर्ज्जंप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" ब्र० सू० ४। ४। २७। अर्थ—(जगद्व्यापारवर्ज्ज) नाम मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य जगत् के व्यापार को छोड़कर होता है (प्रकरणात्) यह बात प्रकरण से पाई जाती है। प्रकरण यह है कि सम्पूर्ण जगत्

के कर्त्ता होने के प्रकरण में ब्रह्म का ही कथन पाया जाता है जैसे कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येनजातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तदब्रह्म तै० ३ । १ ॥

अर्थ—जिससे यह सब भूत निकलते हैं और जिससे आविर्भूत हुए जीते हैं, और जिसमें फिर प्रवेश कर जाते हैं उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है । (असन्निहितत्वात्) नाम जिन वाक्यों में ब्रह्म को जगत् कर्त्ता कहा गया है उन में जीव का सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता, इससे भी पाया गया कि जब मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य जगत् रचने में ईश्वर के बराबर नहीं होता तो अनावृत्ति में ईश्वर के बराबर कब हो सक्ता है । उक्त मुक्त पुरुष विषयक सब सूत्रों की सङ्गति विस्तार भय से यहां नहीं लिखी जाती विस्तार पूर्वक देखना हो तो वेदान्तार्य्यभाष्य अध्याय ४ के चौथे पाद में देख लेवें । और जो दो वेद मंत्र ऋ०मं० १ सू० २४ मं० १ । २ । मुक्ति विषय में स्वामीजी ने दिये हैं उनके पौराणिक लोग यह अर्थ करते हैं कि अजीगर्त्त नाम वाला एक राजर्षि एक खड्ग लेकर शुनःशेप को मारने आया, उस समय की शुनःशेप की यह प्रार्थना है मुक्त पुरुष की नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जैसा उनका यह आक्षेप है कि यहां मुक्त पुरुष का नाम नहीं, एवं यहां शुनःशेप का भी नाम नहीं, और नाही अजीगर्त्त का, फिर उन्होंने यह कहानी कहां से घड़ली । यदि यह कहा

जाय कि इससे आगे के मंत्रों में जाकर शुनःशेप का नाम है जैसाकि "शुनःशेपोह्यह्वद्गृभीतः" ऋ० मं० १ सू० २४ मंत्र १३ इसके अर्थ यह हैं कि शुनःशेप जो विद्वान् है वह परमात्मा का आह्वान करता है इससे शुनःशेप कोई पुरुष विशेष नहीं पाया जाता किन्तु जिज्ञासु ही पाया जाता है जिनमें उक्त जिज्ञासु की प्रार्थना है वह मंत्र यह हैं ॥

(१) कस्यनूनंकतमस्यामृतानांमनामहेचारु देवस्यनाम । कोनो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरञ्च ॥ ऋ० मं० १ सू० २४ मं० १ ।

(२) अग्नेर्वयं प्रथमस्या मृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । स नो मह्या अदितयेपुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरंच ॥ ऋ० मं० १ सू० २४ मं० २ ।

अर्थ—(१) यहां जिज्ञासु यह प्रश्न करता है कि विनाश रहित वस्तुओं में से हम किसको मानें? और वह कौन देव है जिसका नाम श्रेष्ठ है? जो हमें फिर पृथ्वी को प्राप्त कराता है, और माता पिता के फिर दर्शन कराता है? इस अगले मंत्र में इस बात का उत्तर है ॥

(२) (अग्नि) नाम अग्रणी सर्वोपरि जो परमात्मा है उस देव का नाम श्रेष्ठ है उसकी हम उपासना करें, वह हमको पृथ्वी को प्राप्त कराता है, और वही फिर हमको माता पिता के दर्शन कराता है ॥

इससे यह पाया जाता है कि फिर माता पिता के दर्शन की इच्छा यहां मुक्त पुरुष ही करता है। क्योंकि छान्दोग्य में लिखा है कि " सङ्कल्पादेवस्यपितरःसमुत्तिष्ठन्ति " इस लेख से पाया गया कि माता पिता का सङ्कल्प मुक्ति अवस्था में भी होता है। वह लोग इसका यह उत्तर दिया करते हैं कि जिस में ऐसा संकल्प होता है वह लोक विशेष की प्राप्ति रूप मुक्ति है वास्तव में मुक्ति नहीं। यह उनका कथन साहस मात्र है क्योंकि "भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" इस सूत्र में हम सिद्ध कर आए हैं कि ब्रह्म लोक प्राप्ति रूप मुक्ति में भी शरीर इन्द्रियों का भाव बना रहता है फिर पितृ लोक का सङ्कल्पक्रम मुक्ति में कैसे कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर निरीक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति एक ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने की अवस्था विशेष है और वह शुभ कर्मों से प्राप्त होती है। "उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य्य, विकार्य्य" उक्त चार प्रकार की मुक्ति का स्वामी शंकराचार्य्यजी ने खण्डन करके "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितं महान्तंविभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति" कठ० २। २२। इत्यादि प्रमाणों से जो स्वामी शंकराचार्य्यजी ने यह सिद्ध किया है कि मुक्ति में शरीर नहीं रहता और मुक्ति धर्म कार्य्य भी नहीं, यह शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है और उक्त वाक्य परमात्मा को अशरीरी कहता है नकि जीव को ? एवं धर्म कार्य्य होने से हमारे मत में मुक्ति उत्पाद्य है, धर्म से मुक्ति उत्पादन की जाती है, इसी लिये महर्षि

कणाद ने यह कहा है "यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिसधर्मः"

(१३) इसमें मुक्ति के साधन अभ्यासादि कर्म कथन किये गए हैं, जिनका वर्णन "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्नित्यादि" उपनिषद् वाक्यों में स्पष्ट है, इसमें (सद्विद्या) यथार्थ ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है, इस प्रकार ज्ञान कर्म का समुच्चय मुक्ति का साधन हुआ ॥

मायावादियों के समान केवल ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् साधन नहीं, उनके मतमें कर्मों से मुक्ति का निषेध है। और "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस श्रुति से मुक्ति का एक मात्रज्ञान ही साधन माना है और वह ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता रूप है। पर उक्त ज्ञान से मुक्ति कदापि नहीं होती क्योंकि वाक्य जन्य ज्ञान से कभी अनर्थ की निवृत्ति नहीं देखी गई, और जो यह कहा जाता है कि "रज्जुरियं नायं सर्पः" इत्यादि वाक्यों से सर्व रूप अनर्थ की निवृत्ति देखी जाती है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी निवृत्ति भ्रम स्थल में ही होती है, और यह जगत् भ्रम नहीं है किन्तु अनित्य है अर्थात् प्रलयकाल पर्य्यन्त स्थायी है। फिर उसकी निवृत्ति वाक्य जन्य ज्ञान से कैसे होसक्ती है। और जो यह कहा है कि "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" यहां अति मृत्यु नाम मुक्ति ब्रह्म वेदन से ही होती है। यहां ब्रह्म वेदन से यथार्थ ज्ञान का तात्पर्य्य है और वह यथार्थ ज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिकों से विना नहीं होता, इस लिये कर्म और ज्ञान का समुच्चय

हुआ, और वह ज्ञान जीव ब्रह्म की एकता रूप नहीं किन्तु ईश्वर का यथार्थ ज्ञान है ॥

(१४) से १९ तक मन्तव्य स्पष्ट हैं उन में व्याख्या की आवश्यक्ता नहीं ॥

(२०) में विद्वानों को देव, और अविद्वानों को असुर, पापियों को राक्षस और अनाचारियों को पिशाच लिखा है। यहां देव शब्द के अर्थ श्रीस्वामीजी ने विद्वानों के माने हैं इससे हमारे सनातनी भाई बहुत घबराते हैं, और घबराने का कारण यह है कि जहां मनुस्मृति आदिकों में देवों की पूजा लिखी है वहां जब देव के अर्थ विद्वानों के होगए तो उनकी देव शब्द से मूर्त्तिपूजा तो उड़ गई और जिन स्थलों में देव शब्द से अलौकिक देवों का ग्रहण करके अपने चित्त को सन्तुष्ट करते थे वहां जब देव विद्वान् ही रह गए तो फिर क्यों न घबराएं, हमारे विचार में तो देव शब्द अनेकार्थ बाची है, कहीं देव सूर्य्य चन्द्रमादि भौतिक पदार्थों का नाम है, कहीं देव परमात्मा का नाम है और कहीं देव दिव्यगुण सम्पन्न मनुष्यों का नाम है एवं देव के अनेक अर्थ हैं। जहां देव शब्द मनुष्यों में आया है वहां स्वामी जीने विद्वानों के अर्थ लिये हैं। जैसा कि कृष्णजीने गीता में कहा है "द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन् दैव आसुर एवच" गी० १६।६ यहां देव शब्द मनुष्य का वाची है। एवं अथर्व वेद कां० १९ अ० ७ सू० १२ में यह लिखा है ॥

"नैतांविदु:पितरोनोत देवा:" उस परमात्मा की शक्ति

को न पितर जानते हैं न देव जानते हैं, इस वाक्य में पितरों से भिन्न देव शब्द विद्वानों के लिये आया है, उस शक्ति की दुर्विज्ञेयता दिखलाने के अभिप्राय से यहां ऐसा कहा है, और सायण भी यहां ऐसे अर्थ करता है कि "देवास्त्रयस्त्रिंशत्देवव्यतिरिक्ताश्चन्येदेवा न विदुः" अर्थ–तेतीस देवों से भिन्न जो और देव हैं वह यहां अभिप्रेत हैं, और पितृ शब्द के सहचार से देव शब्द यहां मनुष्यों काही वाचक होसक्ता है। यदि कोई यह कहे कि पितृ शब्द भी पौराणिक देवों के समान यहां अलौकिक जाति काही वाचक है? इसका उत्तर यह है कि "मातृदेवोभव पितृदेवोभव" इत्यदि उपनिषद्वाक्यों में पितृ शब्द मनुष्य जाति में प्रसिद्ध है फिर अलौकिक कल्पना क्यों? रही बात यह कि कहीं देव शब्द ईश्वर वाचक, और कहीं भौतिक देवों का वाचक, और कहीं विद्वानों का वाचक क्यों है? इसका उत्तर यह है कि मुख्य तो परमात्मा का ही नाम देव है, परंतु गौणीवृत्ति से भौतिक देव और विद्वानों का भी नाम होता है। और ऐसे अनेक अर्थों के वाचक प्रायः शब्द आते हैं जो प्रकरणानुकूल अर्थ देते हैं। और पिशाच भी अलौकिक पदार्थ नहीं जैसा कि अथर्व वेद कां० ८ अ० ३ सू० ६ में यह मंत्र है:—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

अर्थ–जो पिशाच (आमं) नाम अपक्व अर्थात कच्चे मांस को खा जाते हैं, और मनुष्य के मांस को खा जाते हैं, और गर्भधारी

प्राणियों को भी मारकर खा जाते हैं (तां) उनको (इतः) नाम इस संसार से हम नाश करें, यदि कोई यह प्रश्न करे कि इस मंत्र में राक्षस अथवा पिशाच का नाम नहीं है? तो उत्तर यह है कि इसी काण्ड का मंत्र १३ यह है:—

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय विभ्रति। स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

अर्थ—जो (आत्मान) नाम प्राणियों को (अतिमात्रं) नाम अत्यन्त (अंसे आधाय) नाम अपने वश में करके (विभ्रति) नाम व्यवहार करते हैं। अर्थात् मनुष्यादि प्राणियों को सर्वथा वशीभूत करके पशुओं के समान स्वाधीन करते हैं और जो स्त्रियों को दुःख देते हैं हे इन्द्र परमात्मन् (रक्षांसि) नाम ऐसे राक्षसों को (नाशय) इस संसार से नाशकर। इस मंत्र में स्पष्ट राक्षस पद पड़ा है और इसमें वर्णन भी ऐसे पापियों का किया गया है जो अलौकिक नहीं हैं इसलिये राक्षस पिशाच पापी जनों का ही नाम है कोई अलौकिक योनि नहीं ॥

(२१) इसमें यह वर्णन किया है कि साकार पदार्थों में से माता, पिता, आचार्य्यादि, प्राणियों की पूजा करना ही देवपूजा कहाती है नांकि मूर्त्यादि जड़ पदार्थों की, जिन लोगों ने वैदिक मंत्र तथा तर्क का सहारा लेकर ईश्वर विषयक मूर्त्तिपूजा का मण्डन किया है उनका खण्डन यहां वैदिक मंत्र तथा तर्कों से किया जाता है। जहां कहीं वेद में प्रतिमा शब्द आता है मूर्त्ति-पूजक लोग उसको ईश्वर की प्रतिमा की ओर लेजाने की अत्यन्त

चेष्टा करते हैं, और जहां कहीं ईश्वर की प्रतिमा के निषेधके अभिप्राय से प्रतिमा शब्द आता है जैसेकि "नतस्यप्रतिमास्ति" उसके प्रतिमा से भिन्न अर्थ करने में कटिबद्ध हो जाते हैं, इस बात को हम "नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में दिखला आए हैं, अब देखिये कि:—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि। सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्रायत्वा॥ यजु० १५। ६५।

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द आया है, इसके अर्थ भी सनातनी लोग यही करते हैं कि हे परमात्मन् तुम (सहस्रस्य) नाम असंख्यात जो यह जगत् है उसकी प्रमा हो, प्रमीयते यया स प्रमा, (सहस्रस्य प्रतिमासि) असंख्यात जगत् की मूर्त्ति हो, और (सहस्रोऽसि) तुम असंख्यात जगत् रूप हो। (सहस्रायत्वा) सहस्रनाम अनन्त फल के लिये त्वा नाम तुम्हारी प्रार्थना करता हूं। महीधर इस मंत्र को अग्नि विषय में लगाते हैं कि हे अग्ने "सहस्रस्येष्टकानांप्रमाप्रमाणंत्वमसिसहस्रस्यप्रतिमाप्रतिनिधिरसि" अर्थ—हे अग्ने असंख्यात ईटों का तुम प्रमा प्रमाण हो, और सहस्रों के तुम प्रतिमा प्रतिनिधिहो॥

महीधर के अर्थ से यह प्रतीत होता है कि सनातनियों के सनातन समय में "सहस्रस्यप्रतिमासि" इत्यादि मंत्र मूर्त्तिपूजा को सिद्ध नहीं करते थे। इस मंत्र के अर्थ यह हैं कि हे विद्वन् (सहस्रस्य प्रमासि) असंख्यात पदार्थ युक्त जगत् की तुम (प्रमा) नाम यथार्थ ज्ञान हो, और उस जगत् की तुम (प्रतिमा) नाम दृष्टान्तादिकों से तुलना करने वाले हो, और

फिर तुम कैसे हो कि (उन्मा) नाम उसमें से तुम प्रत्येक पदार्थ की तुलना करने वाले हो, अर्थात् सदसद् विवेचन रूपी तुला पर रखकर सत्यासत्य को तोल देते हो। इस लिये (सहस्राय) नाम सहस्र प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने तुम्हें बनाया है॥

तंयज्ञंबर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषजातमग्रतः। तेनदेवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये॥ यजु० ३१। ९।

इस मंत्र से मूर्त्तिपूजक यह आश्रय लेते हैं कि (तंयज्ञं) नाम उस यज्ञ पुरुष को देवता और ऋषि लोगों ने पूजन किया जो सब सृष्टि से प्रथम उत्पन्न हुआ था॥

पहला दोष इस अर्थ में यह है कि वह जब सृष्टि से प्रथम उत्पन्न हुआ, उसकी सेवा करने वाले साध्य और देवता उस समय कहां थे? और दूसरी बात यह है कि महीधर ने इस मंत्र को पशु यज्ञ में लगाया है, कि उस यज्ञरूप पशु को यूप में बंधन करके प्रोक्षणादि संस्कारों से उसका संस्कार किया, अस्तु यहां विचारार्ह यह है कि जब यज्ञ शब्द के अर्थ—विष्णु व्यापक परमात्मा के हैं तो फिर साकार की पूजा इससे कैसे सिद्ध हुई। यजु० ३१। १६ "यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवा:" इस मंत्र में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञ नाम परमात्मा का है, और दूसरा यज्ञ नाम सामग्री साधनरूप उस वैदिक कर्म का है जिसकी कोई प्रतिमा हो नहीं सक्ती, एवं यज्ञ के दोनों अर्थों में मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सक्ती॥

इस मंत्र के अर्थ यह हैं कि उस यज्ञरूप पूजनीय परमात्मा का

ज्ञानयज्ञ से ऋषि लोग पूजन करते हैं। वह पुरुष कैसा है जो इस सब कार्य्यरूप सृष्टि से (अग्रतः) नाम प्रथम है (तेन) नाम उसके दिये हुए वेदरूपी हेतु से। (साध्या) योगी लोग और (ऋषयः) मंत्र द्रष्टा लोग (अयजन्त) नाम यज्ञ करते हैं। इसमें तो ज्ञानयज्ञ से पूजा लिखी है फिर मूर्त्तिपूजा कहां रही। क्योंकि ज्ञानयज्ञ तो मूर्त्तिपूजकों के मत में भी निराकार को ही बोधन करता है न कि साकार को। जैसा कि गीता में लिखा है कि :—

"श्रेयानद्रव्यमयात्यज्ञात्ज्ञानयज्ञःपरंतप।
सर्वंकर्माखिलंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते" गी० ४। ३३।

अर्थ—(द्रव्यमयात् यज्ञात्) नाम द्रव्यरूप यज्ञ से ज्ञानरूपयज्ञ (श्रेयान्) नाम श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म ज्ञानयज्ञ में जाकर समाप्त हो जाते हैं, और मूर्त्तिपूजकों का यह सिद्धान्त भी है कि अज्ञानावस्था में ही मूर्त्तिपूजा की विधि है नकि ज्ञानावस्था में॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूति मुपासते। ततो भूयइवते तमो य उ संभूत्या॑रताः॥ यजु० ४०। ९।

यह मंत्र स्पष्टतया मूर्त्तिपूजा का निषेध करता है कि (असंभूति) नाम प्रकृति और (संभूति) नाम प्रकृति का कार्य्य उक्त दोनों पदार्थों की पूजा करने वाले (अन्धतम) नाम अविद्या अन्धकार को प्राप्त होते हैं॥

स्वामीजी के अर्थों पर आक्षेपता लोगों ने इस मंत्र के अर्थों में ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना करना इस पकड़ को पकड़ा है, पहले यह दोष पं० साधुसिंह ने निकाला है, और फिर

उसी का अनुकरण पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने किया है, उक्त दोनों पुरुषों ने इतना भी नहीं सोचा कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना का जो निषेध किया गया वह किस अभिप्राय से किया गया है, वास्तव में वेद भगवान् का आशय यह था कि प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना करने वाले इसलिये नारकीय हैं कि वह उपास्य देव से भिन्न की उपासना करते हैं अर्थात् उपास्य के स्थान में अनुपास्य की उपासना करते हैं तो फिर यहां ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना करने का निषेध यह अर्थ क्यों बुरा है? और जो पं: ज्वालाप्रसादमिश्र ने यह लिखा है कि ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की उपासना कहना यह प्रतीकोपासना हुई, हम कब कहते हैं कि यह प्रतीकोपासना नहीं, पर भेद तो इतना है, हम यह कहते हैं कि यहां प्रतीकोपासना का निषेध है जैसाकि "नतस्यप्रतिमास्ति" में है, यदि यह कहा जाय कि वेद समकाल में प्रतीकोपासना थीही नहीं फिर निषेध क्यो? तो "अन्धन्तम:प्रविशन्तियेऽविद्यामुपासते" जब वेद समकाल में अविद्या की उपासना थी ही नहीं तो फिर वदे भगवान् ने इस मंत्र में अविद्या की उपासना का निषेध क्यों किया? शास्त्र रीति से तो ज्ञान से प्राप्त वस्तुओं का भी निषेध हुआ करता है, यदि सर्वथा प्राप्त वस्तुओं का ही निषेध हुआ करता तो उनके मतमें "येअविद्यामुपासते" इसका क्या उत्तर है? हां एक उत्तर हो सक्ता है कि उनके मत में स्वाश्रय स्वविषय होकर अविद्या ब्रह्म में रहती है, एवं नित्य प्राप्त के अभिप्राय से निषेध किया गया है। इसी प्रकार हमारे मत में भी यह उत्तर हो

सक्ता है कि दस्यु लोग अर्थात् वेदविहित कर्मों से विरुद्ध आच-
रण करने वाले लोग वेद समकाल से चले आते हैं इस लिये ऐसे
लोगों में प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य की उपासना प्राप्त थी इस
लिये प्राप्त का ही निषेध किया गया है अप्राप्त का नहीं ॥

और बात यह है कि जब वह लोग सनातन होने का दम
भरते हैं और प्रत्येक सनातन भाष्य का सत्कार करते हैं फिर
स्वामीजी के अर्थों पर रोष क्यों? क्योंकि इस मंत्र के भाष्य में
महीधर और स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने प्रकृति और प्रकृति के
कार्य्य की उपासना काही निषेध किया है फिर उनके अर्थों से
अरुचि क्यों? और जो उन्होंने यह लिखा है कि प्रकृति और
प्रकृति के कार्य्य की भिन्न २ उपासना करने का निषेध है समु-
च्चय का निषेध नहीं, इसके प्रमाण के लिये उन्होंने यह मंत्र
उद्धृत किया है :—

**संभूतिंचविनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशे-
न मृत्युं तीर्त्वासम्भूत्यामृतमश्नुते॥यजु०४०।११**

इस मंत्र के महीधर ने ज्ञानकर्म के अर्थ किये हैं कि (विनाश)
नाम कर्मों से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा (संभूत्या) नाम आत्म
ज्ञान से अमृत को पाता है। यह हमभी स्वीकार करते हैं कि
यहां समुच्चयवाद है पर ज्ञानकर्म का, नकि प्रकृति और प्रकृति
के कार्य्य की उपासना का। और जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने
संभूति से पूर्व लुप्तअकार माना है जिससे असंभूति शब्द बनाकर
प्रकृति का अर्थ लेना चाहा है यह शैली उनकी अलौकिक है,

पर फिर भी उनका मनोर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वामी शं० चा० और महधिर यह सनातन भाष्यकार उनसे विरुद्ध हैं, और जो यह लिखा है कि "ब्रह्मदृष्टिरुतकर्षात्" ब्र० सू० ४।१।५ इस सूत्र में ब्रह्मदृष्टि से कार्य्य की उपासना सिद्ध की है, यहां सर्वथा सूत्र का अनर्थ किया गया है, यह सूत्र प्रतीकाधिकरण का है इससे पूर्व यह सूत्र है कि "न प्रतीकेनहि स" अर्थ-(प्रतीके) नाम मूर्ति में परमेश्वर की उपासना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि (नहि स) नाम वह परमेश्वर मूर्ति नहीं है। उसीमें हेतु यह है कि "ब्रह्मदृष्टिरुतकर्षात्" ब्रह्मणो दृष्टि-ब्रह्मदृष्टि, अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रतीकोपासना से उत्कृष्ट नाम श्रेष्ठ है इसलिये भी मिथ्याज्ञान रूपी जो मूर्ति पूजा है वह नहीं करनी चाहिये। और जो "अथ मृत्पिण्डमुपादायत्रीन्महावीरान्करोति प्रादेशमात्रंमध्ये संगृहीतमथास्योपरिष्टात्त्र्यङ्गुलंमुखमुन्नयतिनासिकामेवा स्मिन्नेतद्दधातीति" ब्रा० श० १४।१।२।१७।

अर्थ-मिट्टी का पिण्ड लेकर तीन महाबीरों को वनाता है जिन की लम्बाई मध्य में प्रादेश मात्र है और ऊपर तीन अंगुलियों का मुख बनाकर उसी में नासिका वनाता है, इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में महावीर एक यज्ञ पात्र विशेष है इससे मूर्त्तिपूजा का क्या सम्बंध। यह भी स्मरण रहे कि हम ब्राह्मण ग्रंथों को वेदानुकूल होने से मानते हैं। इस बात को हम मत्स्यावतार की कथा में स्पष्ट लिख आए हैं कि हम ऐसे ग्रंथों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते जिनमें ऐसी असम्भव बातें हैं। इसमें संदेह नहीं कि बहुत

सी बातें अध्यास से ब्राह्मणग्रंथों में वर्णन की गई हैं जैसाकि यज्ञ पुरुष का सिर कट जाना, और यही बात पुराणों में और बढ़ाकर लिखी गई जैसाकि देवी भागवत में लिखा है कि एक समय विष्णुभगवान् का सिर कट गया था उस समय सब देवताओं ने प्रार्थना की। एवं बहुत से अनृत भाषण ब्राह्मणग्रंथों में हैं जिन्होंने पुराणों में आकर एक भयानक आकार धारण कर लिया है, इस लिये यहां हमने ब्राह्मण वाक्यों की समीक्षा नहीं की वेद मंत्रों पर जो मूर्त्तिपूजकों को सहारा था वह निराकरण किया गया॥

अब तर्क से मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया जाता है। अब मूर्त्तिपूजक लोग यह कहते हैं कि हम मिट्टी पत्थर की मूर्त्ति की पूजा नहीं करते किन्तु मूर्त्ति में व्यापक जो परमेश्वर है उसकी पूजा करते हैं। जैसे कि (हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किन्तु मिट्टी पत्थर के आश्रय से उसी सच्चिदानन्द परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं) मूर्त्तिपूजा पं० अम्बिकादत्तव्यास पृ० ७

अत्र पौराणिक फ़िलासफ़ी में मूर्त्तिपूजा शब्द के तीन अर्थ होते हैं, मूर्त्ति की पूजा, मूर्त्ति से पूजा, मूर्त्ति में पूजा, प्रथम अर्थ को तो अब आर्य्यसमाज से भयभीत हुए पौराणिक स्वीकार ही नहीं करते, शेष दोनों को स्वीकार करते हैं, हम इनके सिद्धान्त को ही दृष्टान्त रूप रखकर इनका खण्डन करते हैं कि:—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ गी० ७।२१

इस पर स्वामी शं० चा० का यह भाष्य है कि "योयोयां देवतातनुश्रद्धयार्चितुमिच्छति" अर्थ-जो पुरुष जिस २ देवता की मूर्त्ति का श्रद्धा से पूजन करता है, यहां तो स्वामी शंकराचार्य्यजी ने भी देवता की मूर्त्तिपूजन के ही अर्थ किये हैं नाकि मूर्त्ति में देवता पूजन के, फिर तुम मूर्त्ति की पूजा से कैसे भाग सक्ते हो? यदि कोई हम पर यह आक्षेप करे कि कहीं तुम शंकर का आश्रय लेकर मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर देते हो, कहीं उनका आश्रय लेकर मूर्त्तिपूजा का मण्डन करते हो, यह परस्पर विरोध क्यों? इसका उत्तर यह है कि परमत दृष्टान्त से परमत खण्डन यही कहलाता है कि जो उनके सिद्धान्त से उनका विरोध बतलाना है। रही यह बात कि स्वामी शं० चा० को कहीं मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर्त्ता कहीं मण्डन करता क्यों उद्धृत किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि यह परस्पर विरोध रूपी दोष भी उनके मत में ही लगता है, पर प्रकृत यह है कि जब स्वामी शं० चा० जैसे वृद्धाचार्य्य मूर्त्तिपूजा के अर्थ मूर्त्ति की पूजा ही मानते थे तो फिर आज कलके तुच्छ जीव मूर्त्ति अधिकरण में पूजा वा मूर्त्तिकरण से पूजा, मूर्त्ति में पूजा और मूर्त्ति से पूजा इत्यादि शुष्क तर्क बढ़ाकर सनातन धर्म से क्यों विरोध करते हैं।

और जो मूर्त्ति को करण मानकर मूर्त्तिपूजा की सिद्धि की जाती है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि करण उसको कहते हैं कि जो व्यापार वाला हो और असाधारण कारण हो, सो मूर्त्ति पूजन ईश्वर प्राप्ति का असाधारण कारण नहीं, क्योंकि जो लोग मूर्त्तिपूजा नहीं करते उनको भी ईश्वर प्राप्ति होती है, और जब

वेदाध्ययन शमदमादि अनेक साधन ईश्वर प्राप्ति के हैं फिर इस तुच्छ साधन का आश्रय सर्वथा अनुपयुक्त है ॥

केवल अनुपयुक्त ही नहीं प्रत्युत ऐसा भूल का कारण है कि इस मूर्त्तिपूजा रूपी भूल भुलैयों में पड़कर मनुष्य मनुष्य जन्म के फल चतुष्टय से ऐसा भूल जाता है कि फिर कभी उस रास्ते पर नहीं आता, जैसा कि वर्त्तमान काल की मूर्त्तिपूजा का चित्र दिखला रहा है कि सहस्रों लोग मूर्त्तिपूजकों के शृंगार पथ में सम्मिलित होकर शमदमादि साधन सम्पत्ति से गिरकर सर्वथा नाश हो जाते हैं "कौन्तेयप्रतिजानिहिनमेभक्तः प्रणश्यति" इस गीता वाक्य से सर्वथा उलटा फल होता है, अर्थात् मूर्त्ति पूजकों की विहार लीला, मान लीला, चीर लीला, रास लीला इत्यादि अनन्त लीलाओं में लम्पट होकर कोटि २ नर नारी लोक परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस अभिप्राय से स्वामीजीने यह कहा है कि इतर पाषाणादि जड़ मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं ॥

और जो मूर्त्ति में पूजा के अर्थ, मूर्त्तिपूजा के किये जाते हैं, यह एक ऐसा सिद्ध साधन है जिससे विचारे मूर्त्तिपूजक लोग अपने चित्त को मूर्त्तिपूजा की सिद्धि का सन्तोष दे लेते हैं वरन मूर्त्ति में व्यापक समझकर मूर्त्तिपूजा की सिद्धि करने से मूर्त्ति पूजकों को क्या लाभ? जब इस ब्रह्माण्ड के अणु २ में परमात्मा व्यापक है तो फिर इस निखिल ब्रह्माण्ड के एक देश तुच्छ मूर्त्ति के अन्दर उसकी व्यापकता क्यों विशेष समझी जाती है? बहुत

तथा हम इस कथा को शारीरक का एक अधिकरण लिखकर समाप्त करते हैं। "नचकार्य्येप्रत्यभिसंधि" ब्र०सू०४।३।१४।

अर्थ—(कार्य्ये) नाम प्रकृति के कार्य्य मूर्त्ति में कभी ध्यान नहीं करना चाहिये, इसी पर स्वामी शंकराचार्य्य ने "नतस्य प्रतिमास्ति" के अर्थ को स्पष्ट किया है कि "नतस्यप्रतिमास्तियस्यनाममहद्यशः" इतिचपरस्यैव ब्रह्मणोयशोनामत्व प्रसिद्धेः" शं० भा० अर्थ—"नतस्यप्रतिमास्ति" इस मंत्र में परब्रह्म के यश का ही वर्णन है नकि साकार का, मूर्त्तिपूजकों के लिये यह परम प्रमाण है कि "नतस्यप्रतिमास्ति" में परब्रह्म की मूर्त्ति का निषेध किया गया है। यदि कोई यह शङ्का करे कि शंकर ने पर और अपर यह दो ब्रह्म माने हैं तो जब उनके प्रमाण को उद्धृत करते हैं तो उन दोनों का स्वीकार क्यों नहीं करते? इसका उत्तर यह है कि उनका काम दो प्रकार के ब्रह्म मानने से बिना नहीं चल सक्ता, क्योंकि मायावाद में यही महत्व है कि जब तक दो प्रकार का ब्रह्म न माना जाय तब तक उनके अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती, अस्तु हमको तो इस दृष्टान्त में विवक्षितांश यह है कि सनातनियों के बड़े आचार्य्य भी "नतस्य प्रतिमास्ति" के अर्थ मूर्त्तिपूजा के निषेध के ही मानते हैं॥

इति मूर्त्तिपूजन निषेधो नाम एक विंशति
मन्तव्यः समाप्तः

—:०:-

(२२) "शिक्षा" जिससे इस संसार का अभ्युदय बढ़े, और अविद्यादि निखिल दोष दूर हों, उसको स्वामी जी ने धर्म शिक्षा माना है ॥

(२३) इस में पुराणों का प्रकरण है, आशय यह है कि आर्ष ग्रंथों में जहां २ पुराणों का नाम मिलता है वह ब्राह्मण ग्रंथों के लिये आया है भागवतादि अष्टादश पुराणों के लिये नहीं, क्योंकि भागवतादि अष्टादश पुराणों का तो उस समय जन्म भी नहीं हुआ था। स्वामीजी के मन्तव्यों पर आक्षेप करने वाले लोग भागवतादि ग्रंथों को पुराण समर्थन करने के लिये प्राचीन ग्रंथों से जो प्रतीकें देते हैं उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय भागवतादि ग्रंथों को पुराण कहा जाता था, उन प्रतीकों को लिखकर हम पुराण शब्द का आशय वर्णन करते हैं कि पुराण शब्द उस समय ब्राह्मण ग्रंथों के अभिप्राय से आया है वा किसी अन्य अभिप्राय से ? "इतिहासः पुराणङ्गाथा नाराशंस्यः स एवं विद्वाननुशासनानिविद्यावाकोवाक्यमितिहास पुराणी, गाथा, नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते इत्यादि" शत० अ० ११ प्र० ५ इस वाक्य का आशय यह है कि इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी नाम मनुष्यों के जीवन चरित्र ग्रंथ, (वाकोवाक्य) तर्क शास्त्र इत्यादि ग्रंथों को प्रति दिन स्वाध्याय करें, इस वाक्य से यह नहीं पाया जाता कि यहां पुराण शब्द भागवतादिकों के लिये आया है प्रत्युत यह पाया जाता है कि यहां पुराण शब्द ब्राह्मण ग्रंथों के लिये आया है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथों का वाचक और कोई शब्द इसमें नहीं

और जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने निम्नलिखित वाक्य का उदाहरण दिया है:—

"क्षीरोदनमांसौदनाभ्यां ह्वाएषदेवांस्तर्पयतिएवंविद्वान् वाकोवाक्यमितिहासः पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनन्तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः" शतपथ०

हमारे मन्तव्य में यह वाक्य प्रक्षिप्त है, क्योंकि इस में देवताओं को मांस से तृप्त करना लिखा है, स्यात् उनके अलौकिक देवता ऐसे हों जो मांस से तृप्त होते हों, हमारे विचार में तो देवताओं को मांस से तृप्ति जनक वाक्य मांसाहारी देवता प्रिय लोगों के डाले हुए हैं इस लिये ऐसे वाक्यों का कोई प्रमाण नहीं । और आगे जो यह लिखा है, "अरेऽस्यमहतोभूतस्यनिश्वसितमेतद्यहग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसइतिहासः पुराणं" श० प्र० ४ ब्रा० ४

उस सर्वोपरि परमात्मा का ऋग्, यजु, साम, अथर्व, श्वासवत् हैं, और इतिहास पुराणादि भी निश्वासवत् हैं, यहां भी पुराण शब्द ब्राह्मणों के लिये आया है, क्योंकि यहां यदि ब्राह्मण ग्रंथों का वाची पुराण शब्द न माना जाय तो और कोई यहां ब्राह्मणग्रंथवाची शब्द नहीं है और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने जो यह लिखा है कि "इसमें इतिहास पुराण आदि पांच नाम पृथक् २ ग्रहण किये हैं॥

क्या पांच नाम पृथक् २ ग्रहण किये जाने से पुराण शब्द भागवतादिकों को कहता है? पांच क्या योंतो यहां ६ नाम पृथक् २ ग्रहण कियेगए हैं, पर इन नामों का भागवतादि ग्रंथों से क्या सम्बन्ध? और निम्न लिखित छान्दोग्य लिखकर यह

सिद्ध किया है कि यहां इतनी विद्या कथन करके फिर पुराण शब्द पृथक् है इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि भागवतादिकों का नाम पुराण है। "स होवाचर्ग्वेदंभगवोऽध्येमियजुर्वेदं सामवेदमथर्वणंचतुर्थमितिहास पुराणं पंचमं वेदानांवेदं पित्र्यं राशिंदैवंनिधिं वाकोवाक्यमेकायनंदेवविद्यां, ब्रह्म विद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्प, देव, जन विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि" ॥ छा० प्र० ७ अर्थ—नारद ने सनत्कुमार को कहा कि हे भगवन् ऋग्,यजु, साम, और अथर्व इन चार वेदों को मैं पढ़ता हूं और पांचवें वेद, इतिहास पुराण को, यहां वेद शब्द इतिहास पुराण में उपचार से आया है अर्थात् गौणी वृत्ति से आया है, क्योंकि ज्ञान का साधन होने से गौणी वृत्ति से इनको भी वेद कहा जा सकता है, और यहां पुराण शब्द का इतिहास शब्द विशेषण है, अर्थात पुराण और इतिहास शब्द यहां एकही अर्थ को कहते हैं, और (पित्र्यं) नाम श्रद्धा पूर्वक जो पिता पितामहादिकों की सेवा विधायक शास्त्र है, और राशि, गणित शास्त्र, निधि कालगति ज्ञानशास्त्र, वाकोवाक्य तर्क-शास्त्र, एकायन नितिशास्त्र, (देवविद्या) इन्द्रियों की वशीभूत करने की विद्या, और (ब्रह्मविद्या) जीव ईश्वर सम्बन्धि वेदान्त विद्या, (भूतविद्या) तत्वों की विद्या, जिससे पृथिव्यादि तत्वों के गुण जाने जायें, (क्षत्रविद्या) क्षात्र धर्म की विद्या, (नक्षत्रविद्या) तारामण्डल की विद्या, (सर्पदेवजनविद्या) सांपके काटने की विद्या, विद्वानों के गुणादि पहचानने की विद्या, जन मनुष्यों की विद्या, यह भी

स्मरण रहे कि इस वाक्य में दो स्थानों में देव शब्द आया है इसलिये विचारे सनातनियों को देव शब्द के अर्थ दोही करने पड़ेंगे, भला एक देव शब्द के अर्थ तो इनके अलौकिक देवता होगए, पर दूसरे देव शब्द के अर्थ क्या ? हमारे मत में तो यहां दूसरा देव शब्द जन शब्द के साथ आया है जिसके अर्थ जन विशेष के ही होते हैं, अस्तु यह प्रकरणान्तर है, प्रकृत यह है कि नारद ने सनत्कुमार से कहा कि हे भगवन् मैं इतनी विद्या जानता हूं, फिर भी मैं मंत्रवेत्ता ही हूं आत्मवेत्ता नहीं ॥

उक्त विद्याओं में पुराण शब्द का आना यह सिद्ध नहीं करता कि पुराण शब्द का वाच्य उस समय भागवतादि पुराण थे। आगे फिर "अस्यमहतोभूतस्य निश्वसितं" इस बृहदारण्यक की प्रतीक देकर पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भागवतादिकों को पुराण सिद्ध किया है हमारी समझ में यह वात नहीं आती कि पुराण शब्द आजाने से ही भागवतादि ग्रंथों का ग्रहण कैसे हो सक्ता है ? यदि यह कहा जाय कि इतिहास से भिन्न पुराण शब्द आया है इसलिये पुराण भागवतादिकों काही नाम है, तो यह क्या सत्तर्क हुआ ? क्योंकि "सर्गश्चप्रतिसर्गश्चवंशोमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणंपञ्चलक्षणम्" अर्थ-सर्ग सृष्टि की उत्पत्ति और प्रतिसर्ग-एक २ भूगोल का वर्णन, वंशो का वर्णन, और मन्वन्तरों का वर्णन और वंशों के चरित्रों का वर्णन, उक्त पांच लक्षणों वाले पुराणों में, क्या इतिहास नहीं आजाता ? फिर आपके मन्तव्य में इतिहास का ग्रहण पृथक् क्यों किया ? और हमारे मत में तो ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रंथों को प्राचीन होने

के कारण पुराण कहा गया है, और उनमें इतिहास पाए जाने से उनको इतिहास शब्द से भी कहा है, इसी अभिप्राय से स्वामी जीने यह कहा है कि इतिहास और पुराण यह दोनों नाम आर्ष ग्रंथों में ब्राह्मण ग्रंथों के अभिप्राय से ही आते हैं, और यदि भागवतादिकों के अभिप्राय से आते तो जैसे छान्दोग्य में मनुस्मृति का नाम है इस प्रकार अठारह पुराणों को लिखते हुए क्या बहुत भार था ? तत्व तो यह है कि आर्षग्रंथों के समय भागवतादि पुराणों का जन्म ही नहीं था फिर उनका नाम आर्ष ग्रंथों में कैसे आता । और जो आश्वलायन सूत्रों का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि उक्त सूत्रों में ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण, यह भिन्न २ नाम आए हैं इससे पाया जाता है कि ब्राह्मण ग्रंथों का नाम पुराण नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जैसे बृहदारण्यक के "अस्यमहतोभूतस्यनिश्वसितं" इस वाक्य में आपने सब ग्रंथों को परमात्मा के श्वासवत् माना है, यहां विद्या शब्द से उपनिषद् आही चुके थे फिर उपनिषदों का पृथक् ग्रहण क्यों किया ? जैसे यहां विवरणार्थ उपनिषद् शब्द पृथक् ग्रहण किया गया है इसी प्रकार यहां भी ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण, यह शब्द विवरणार्थ आए हैं अर्थात् उत्तरोत्तर शब्द पूर्व शब्द के आशय को स्पष्ट बोधनार्थ पर्याय शब्द दिये गए हैं । और जो भाष्यकार ने प्रयोग विषय में इतिहास पुराण शब्द का प्रयोग किया है उस स्थान में पुराण शब्द के अर्थ यदि व्यास कृत पुराणों के थे तो कल्प, नाराशंसी यह भाष्यकार ने प्रयोग विषय में क्यों न लिखें ? अब बतलाओ

कि प्रयोग विषय में इनका ग्रहण किस शब्द से होता है? यदि इतिहास, पुराण शब्द से ही इनका ग्रहण है तो फिर स्वामीजी के इस लेख से क्यों घबराते हो कि पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी यह एक ही अर्थ को कहते हैं ॥

वादियों के शिथिल प्रमाणों पर समीक्षा निष्फल है, वादी का बल यह है कि यह बात वेद से भी स्पष्ट हो गई, द० तिमि० भा० पृ० ५३ द्वितीयावृत्ति वह वेद यह है:—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चा नुव्यचलत् ॥ ११ ॥

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियंधाम भवति य एवंवेद ॥१२॥
अथर्व० १५ । १ । ६ ॥

अर्थ—वह बड़े उच्च मार्ग को प्राप्त होता है, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसका अनुकरण करते हैं और वह पुरुष इतिहास, पुराण गाथा नाराशंसी का प्रियधाम हो जाता है जो इस प्रकार जानता है ॥

उक्त मंत्रों में जो पुराण शब्द आया है वह आधुनिक पुराणों के लिये नहीं आया किन्तु एक प्रकार की विद्या के लिये आया है। और जो इससे यह आशय लिया जाता है कि इतिहास

शब्द से भिन्न पुराण शब्द के आने से पुराण इतिहास से भिन्न है? इसका उत्तर तो हम प्रथम लिख आए हैं कि आधुनिक भागवतादिकों को पुराण मानने वाले भी उनको इतिहास से सर्वथा पृथक् नहीं कर सक्ते। क्योंकि उनके पुराणों में भी इतिहास है॥

यदि यह कहा जाय कि आर्य्य मन्तव्यानुकूल भी पुराण शब्द के वाच्य ब्राह्मण ग्रंथ वेदके समय में न थे, फिर उनके लिये पुराण शब्द क्यों आया? इसका उत्तर यह है कि उक्त अथर्व वेद के मंत्रों में जो इतिहास पुराणादि नाम आए हैं वह विद्या के अभिप्राय से आए हैं, किसी ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से नहीं, यदि ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से आते तो वेद इन ग्रंथों का आशय अवश्य लेते, और वेद का स्वतस्त्व भी न रहता। यदि यह कहा जाय कि त्रिकालज्ञ परमेश्वर ने भविष्यत का ध्यान धर के यहां भविष्यत काल में होने वाले पुराणादिकों का नाम लिख दिया, तो फिर भविष्यत का ध्यान धरके दर्शनादि शास्त्रों का नाम क्यों न लिखा? यह भाव ऐसा स्पष्ट है कि जिसको कोई छिपा नहीं सक्ता कि वेदोपनिषद् और आर्ष ग्रंथों में जो पुराण शब्द आया है वह भागवतादिकों के लिये नहीं आया, और जो यह गोपथ का प्रमाण लिखा है:—

"एवमिमेसर्वेवेदानिर्मितासकल्पा:सरहस्या:स ब्राह्मणा: सोपनिषत्का: सेतिहासा: सान्वाख्याता: स पुराणा: स स्वरा: स संस्कारा: स निरुक्ता: सानुशासना: सानुमार्जना: स वाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां

छियते नामधेयंयज्ञमित्येवमाचक्षते" (गोपथ द्वि० प्रपा०)

अर्थ—इस प्रकार यह सब वेद बनाए गए। (सकल्पाः) कल्प के साथ (सरहस्याः) रहस्य के साथ, (सब्राह्मणाः) ब्राह्मण ग्रंथों के साथ (सोपनिषत्काः) उपनिषदों के साथ, (सेतिहासः) इतिहासों के साथ (सान्वाख्याताः) संज्ञा के साथ (सपुराणाः) पुराणों के साथ, (सस्वराः) स्वरों के साथ (स संस्काराः) संस्कारों के साथ, (स निरुक्ताः) निरुक्त के साथ इत्यादि। यहां पं० ज्वालाप्रसादमिश्र यह बल दिखलाते हैं कि यहां इतिहास, ब्राह्मण पुराण, यह भिन्न २ पड़े हैं इससे यह पाया जाता है कि ब्राह्मणों का नाम इतिहास पुराण कदापि नहीं? पर उक्त पण्डितसाहब ने यहां यह नहीं सोचा कि वह तो ब्राह्मण ग्रंथों को वेद मानते थे यहां तो ब्राह्मण ग्रंथ कुछ और ही बन गए, यदि यह कहा जाय कि ठीक तो है (स ब्राह्मणाः) के अर्थ यह है कि वेद ब्राह्मणों के साथ ही उत्पन्न हुए, एवं ब्राह्मण ग्रंथ और वेद एक हो गए? इसका उत्तर यह है कि (सवाकोवाक्याः) भी तो लिखा है तो क्या न्यायदर्शन भी वेद है? यदि यह कहा जाय कि न्यायदर्शन की विद्या बीज रूप से वेद में है इस लिये (स वाको वाक्याः) कहा है, एवं ब्राह्मण ग्रंथों की भी तो विद्या वेद में है फिर (सब्राह्मणाः) कहने से क्या दोष है, एवं विचार करने से सारांश यह निकलता है कि यहां ब्राह्मणादि नाम किसी ग्रंथ विशेष के अभिप्राय से नहीं आए, किन्तु विद्या विशेष के अभिप्राय से आए हैं॥

और यह भी यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्राह्मण ग्रंथों के विषय में महाभारत में यह प्रमाण मिलता है॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहं चक्रे स परि शेषञ्च हर्षेण परमेण ह । म० भा० शा० प० अ० ३१८ । १६ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सम्पूर्ण शतपथ को मैने बनाया । और आगे के श्लोक में यह प्रतीक है कि "शतपथंचेदम पूर्वंकृतंमया" कि यह अपूर्व शतपथ मैने बनाया । इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथों को याज्ञवल्क्यादि ऋषियों ने बनाया, तो फिर (स ब्राह्मणाः) इत्यादि वाक्यों से वेद समकाल में ब्राह्मण ग्रंथों का वर्णन कैसे आसक्ता है, इसलिये यहां (स ब्राह्मणाः) इत्यादि कथन ब्रह्म ज्ञानादिकों को कथन करता है किसी ग्रंथ विशेष को नहीं । और जो मनुस्मृति के श्लोक देकर पुराण शब्द से आधुनिक भागवतादिकों को सिद्ध किया है इस में मनु के समय की तो कथा ही क्या किन्तु स्वामी शं० चा० के समय में भी भागवत पुराण न था, इसका परम प्रमाण यह है कि कहीं भी भागवत का प्रमाण स्वामी शं० चा० जीने शारीरक भाष्यादिकों में नहीं दिया, और जहां २ "इत्याहुः पौराणिका" यह कहकर श्लोक प्रमाण दिये हैं वह भागवत के नहीं किन्तु अन्य पुराणों के हैं । बहुत क्या यह पुराण ऐसे नवीन हैं कि जिन में से कई एकका तो मुसलमानों की राजधानी में निर्माण हुआ है, इसी लिये उन में मन्दिरादि तोड़े जाने का कथन है, फिर ऐसी नवीन पुस्तकों को स्वामी जी आर्ष कैसे मानते ?

(२४) इस में दुःख सागर से पार उतरने के हेतु, सत्य भाषण, विद्या, सत्संगादि माने हैं, वही तीर्थ शब्द का वाच्य हो सक्ते हैं इतर जल स्थलादि नहीं, क्योंकि वैदिक तथा औपनिषद् समय में जड़ जल स्थलादि तीर्थ नहीं माने जाते थे ॥

इसको पौराणिक लोग इस प्रकार समर्थन करते हैंः—

नमः पार्य्याय च वार्य्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ यजु० अ० १६ । ४२ ।

इस मंत्र के पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने यह अर्थ किये हैं कि हे शिव सब प्रकार से सब में श्रेष्ठ सब संसार के पार उतारने हारे हो, क्योंकि आप तीर्थ रूप हो जैसे गंगा, अथवा आप तीर्थों में पर्य्यटन करते हो, आपके अर्थ नमस्कार और तीर्थों के घाट किनारे रूप आपके लिये नमस्कार, (शष्प्य) अर्थात् गौ रूपी, सेनारूपी, सिक्तारूपी हो आपको बारंबार नमस्कार है। (नमः तीर्थ्याच) यह पद इसी हेतु में है कि आप प्रयागादि तीर्थों में विचरते हो ॥

समीक्षा—इस मंत्र के पण्डित साहब ने अलौकिक अर्थ यह किये हैं कि आप तीर्थ रूप हो जैसे गंगा, अथवा आप तीर्थों में पर्य्यटन करते हो, यह किस पद के अर्थ हुए? उक्त मंत्र में (तीर्थ्यायच) यह शब्द है जिसके अर्थ आप कहीं तीर्थरूप के करते हैं, कहीं तीर्थों में पर्य्यटन करने के करते हैं, जो परस्पर विरुद्ध हैं। यदि

सर्वात्मवाद के अभिप्राय से तीर्थ रूप है तो वह पर्य्यटन नहीं कर सक्ता, जो "पर्य्यटन" करता" है वह सर्वात्मवाद के अभिप्राय से तीर्थ रूप नहीं हो सक्ता (कुल्यायच) के अर्थ यह किये हैं कि तीर्थों के घाट भी आप ही हैं, ऐसे परस्पर असम्बद्ध अर्थ किये हैं जो न केवल अनुभव विरुद्ध हैं किन्तु वेद की सङ्गति सेभी विरुद्ध हैं, इससे पूर्व "नमः सम्भवायच मयोभवायच" यह मंत्र है। इसके अर्थ निर्विशेष शिव के हैं, ओर सब आचार्य्य इसके निराकार के ही अर्थ करते हैं फिर अगले मंत्र में तीर्थों के घाट बनने वाला" परमेश्वर पं० ज्वालाप्रसादमिश्रने कहां से निकाल लिया। अस्तु यदि यह कहा जाय कि इस में (कूल्य) शब्द पड़ा है—कूलेभवः—कूल्यः—जो किनारे में हो उसको कूल्य कहते हैं, इस अर्थ से भी तो घाट में व्यापक पाया गया, फिर आपने घाटरूप कैसे निकाल लिया?

मालूम यह होता हैं कि इसी अध्याय के मंत्र २८ का ध्यान धरके पण्डित साहब ने यह अर्थ किये हैं उसमें "नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च" यह पाठ है, इसके अर्थ महीधर ने यह किये हैं "श्वानः कुक्करास्तद्रूपेभ्योनमः" अर्थ-(श्वा) नाम कुत्तों का है, कुत्ते रूप जो परमेश्वर है उसको नमस्कार है। पर यहां यह अर्थ नहीं शोभते, क्योंकि इसी में वादी यह अर्थ करता है कि संसार से पार उतारने हारे हो, फिर इसी में यह अर्थ करता है कि घाट का किनारा हो, और पानी की झाग हो, गंगा के किनारे का घास हो, इस प्रकार कहीं उत्पत्ति विनाश वाला सब

कुछ परमेश्वर, कहीं संसार से पार उतारने वाला परमेश्वर, यह परस्पर विरुद्धार्थ हैं। अस्तु प्रसङ्ग सङ्गति से यह कहा गया, पर खण्डन योग्य बात यह है कि वादी तीर्थ शब्द से जो गंगा यमुनादि तीर्थ सिद्ध करता है यह बात ठीक नहीं, क्योंकि यदि केवल तीर्थों में ही उसका होना पाया जाता, या कुछ तीर्थ की विशेषता वर्णन की जाती तब वादी का अभिमत सिद्ध होता, पर यहां तो वादी ने इस विशेषता को मिटाकर घास पात सभी कुछ परमेश्वर बना दिया॥

यहां यह भी स्मर्ण रहे कि तीर्थ नाममात्र से वादी के अभिमत की सिद्धि नहीं होती क्योंकि तीर्थ शब्द का मुख्यार्थ यह है कि जो मनुष्य के तराने का हेतु हो अर्थात् उद्धार का उपाय हो, इस अर्थ में सहस्रों स्थानों में तीर्थ शब्द का प्रयोग लौकिक भाषा में भी आया है जैसे कि

"सत्यंतीर्थंक्षमातीर्थंतीर्थमिन्द्रियनिग्रह। सर्वभूतदया तीर्थं" इत्यादि एवं दानंतीर्थंदमस्तीर्थंसन्तोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्य्यपरंतीर्थं तीर्थञ्चप्रियवादिता॥ इत्यादि अनेक प्रमाण तीर्थ के विषय में हैं।

अब वादी दूसरे ढङ्ग पर चलता है कि वेद में गंगा यमुना सरस्वती के नाम हैं इससे पाया जाता है कि वहां इन्हीं गंगा यमुनादि तीर्थों का अभिप्राय है जैसेकिः—

इमंमेगंगेयमुने सरस्वतिशुतुद्रिस्तोमं स च ता परुष्ण्या। असिक्न्यामरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये

शृणुह्यासुषोमया। ऋ० मं० १० अ० ६ सू ७५ मं ५
सरस्वती सरयुः सिंधुरूर्मिभिर्महोमहीरवसायंतु वक्षणीः। देवीरापोमातरः सूदयित्न्वोघृतवत्पयो मधुमन्नोअर्चत। ऋ० मं० १० अ० ५ सू० ६४ मं० ९

उक्त मंत्रों के अर्थ यदि वादी कृत भी मानेजायें तबभी तीर्थ सिद्ध नहीं होते। वादी के अर्थ यह हैं कि "हे गंगे, यमुने तुम सम्पूर्ण मेरे यज्ञको सन्मुख होकर सेवन करो, हे मरुद्वृधे, आर्जकीये, परुष्णी, आसिक्नी, वितस्ता, सुशोमा के साथ मेरे यज्ञ को सेवन करो, मेरी स्तुतियों को सब प्रकार से सुनो।

यहां यह विचार करना है कि यदि गंगादि नदियों के अधिष्ठातृ देवता नहोंतो उनका आह्वान यह किस प्रकार है, और स्तुति श्रवण की प्रार्थना कैसे की है? इस कारण गंगादि तीर्थों को अतीर्थ कहना अज्ञान है लि० भा० पृ० ३८३ द्वि० द्र० इन अर्थों से इस प्रकार तीर्थ सिद्ध नहीं होते क्योंकि मेरे यज्ञ को सन्मुख होकर सेवन करो यह कहना उपचार से बन सक्ता है। और जो यह कहा है कि (यदि गंगादि नदियों के अधिष्ठातृ देवता न होते तो उनका अह्वान न होता) अस्तु अधिष्ठातृ देवता रहें इससे तीर्थ पक्ष में क्या फल? सनातन धर्म में तो सब वस्तुओं के अधिष्ठातृ देवता हैं तो क्या वह सब तीर्थ हो जाते हैं? इस धर्म में मिट्टी का अधिष्ठातृ देवता है, पानी का अधिष्ठातृ देवता है, अग्नि का अधिष्ठातृ देवता है, यदि अधिष्ठातृ देवता से ही तीर्थ सिद्ध होते हैं तो घर में घड़े के पानी से न्हाकर ही क्यों नहीं

मनोरथ सिद्ध कर लिया जाता, क्योंकि उसका भी तो अधिष्ठातृ देवता चेतन है। इस मत में छज छाननी आदि सब पदार्थों के अधिष्ठातृ देवता हैं, इस अधिष्ठातृ देवता से विचारे तीर्थों का क्या बना ॥

अधिष्ठातृ देवता से तीर्थ सिद्ध न होने का और प्रमाण यह है कि

तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ता आप ऐक्षन्त ॥ छा० ६। ३ ॥

अर्थ–तेज, (अग्नि) ने, इच्छा की कि मैं बहुत होकरके उत्पन्न होऊं इस लिये उसने जल को बनाया और फिर जलों ने इच्छा की उन्होंने अन्न को रचा, इत्यादि स्थलों में जड़ पदार्थ निष्ठ ईक्षण सब आचार्य्यों ने गौण माना है इसी प्रकार यहां भी गौणी वृत्ति से गंगा यमुनादिकों में श्रवणादि व्यवहार कथन किये गए हैं फिर आपका अधिष्ठातृ देवता कहां रहा। सरांश यह निकला कि गंगा यमुना सरस्वती शतुद्रि आदि नदियों वाले विस्तृत भूमण्डल पर परमात्मा कहता है कि यज्ञ कर्त्ता अपने भाव को फैलावें, ऐसा फैलावें कि यज्ञ का भाव और स्तुति नभोमण्डल में ऐसी परिपूरित हो जावे कि मानों जड़ पदार्थभी सुनलें ॥

इस में यह प्रश्न हो सक्ता है कि आर्य्यावर्त्त की नदियों का नाम ही वेद में क्यों आया और देशान्तरों की नदियों का नाम क्यों नहीं ? क्योंकि वेद तो ईश्वर ने सब देशों के लिये साधारण बनाया है ? इसका उत्तर यह है कि यहां गंगादि नाम रूढ़ि नहीं किन्तु योगरूढ़ि हैं, जैसे कि गच्छतीतिगंगा, येनाम सब

नदियों में घट सक्ते हैं एवं देश विशेष की नदियों का प्रश्न नहीं हो सक्ता ॥

यदि यह कहा जाय कि प्रसिद्धि से तो गंगा यमुना में ही यह नाम पाए जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि प्रसिद्धि लोक के आधीन है जैसा कि सहस्रधार शब्द वेद में आया है और अब देहरादून में अन्वर्थ संज्ञा वाला सहस्रधार एक स्थान विशेष है क्या कोई कह सक्ता है कि वेद में इसी स्थान विशेष के लिये सहस्र धार शब्द आया है, प्रत्युत वास्तव में यह है कि सहस्रधार शब्द जो वेद में आया है उसको देखकर किसी ने इस पहाड़ विशेष का नाम भी सहस्रधार रख दिया, एवं गंगा यमुनादि शब्द जो वेद में आए थे उनको देखकर लोगों ने उक्त नदी विशेषों के नाम भी गंगा यमुना रखे, इस प्रकार उक्त नामों से वेदों में तीर्थ सिद्ध नहीं होते ॥

और जो ऋग्वेद का तीर्थ सिद्धि में यह मंत्र प्रमाण दियाहै कि:—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठइत्यन्यो अब्रवीत् । वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैकोअब्रवीदृतावदं तश्चमसां अपिंशत ॥ ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६१ मं० ९ ॥

इस मंत्र में तो वादी को अर्थाभास के लिये भी गंधमात्र नहीं मिलता । अर्थ यह है कई लोग कहते हैं कि यज्ञों का फल जलीय पदार्थ बहुत होता है, कई कहते हैं कि आग्नेय पदार्थ बहुत होता है, और कई कहते हैं कि पार्थिव पदार्थ बहुत होता

है, क्योंकि उक्त पदार्थ सभी यज्ञों का फल हैं इसलिये सभी ठीक कहते हैं, इस आशय से यज्ञ के पात्रों का विभाग करें। भला इसमें तीर्थ की क्या कथा? और जो (ऋतावदन्तः) के यह अर्थ किये हैं कि जितेन्द्रिय सत्यवादी को तीर्थ फल देते हैं, इसका मंत्र में गंधमात्र भी नहीं, होता भी कैसे, वेद के समय की तो क्या कथा महाभारतादिकों के समय में जिन नामों में तीर्थ का गंधमात्र न था वह आज बड़े तीर्थ कहलाते हैं जैसाकि आज जिस स्थान में पुष्करतीर्थ है और जो पौराणिकों के विचार में पृथ्वी के दो नेत्रों में से एक नेत्र है महाभारत में उसका नाम पुष्करारण्य लिखा है, उस समय इस स्थान के तीर्थ होने की कोई चर्चा न थी, इसी प्रकार पौराणिकों के सहस्रों तीर्थ ऐसे हैं, कोई कृष्णजी के जन्म से बना है, कोई कृष्णकर्म से बना है, कोई कृष्णलीला से बना है, कहां तक कहें, कोई किसी मूर्त्ति पर डाका डालने से बना है, जैसे डाकोर जी इत्यादि। इस बात को हम पं० ज्वाला-प्रसाद के मन्तव्यसमीक्षण में भी लिख आए हैं इसलिये यहां अधिक लेख की आवश्यक्ता नहीं॥

(२५) इसमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ का वर्णन है, कई लोग यह शङ्का किया करते हैं कि प्रारब्ध कर्म हमको अवश्य भोगने पड़ते हैं इसलिये पुरुषार्थ निष्फल है? इसमें विवेचनीय बात यह है कि प्रारब्ध कर्म भी पुरुषार्थ से बनते हैं, वह इस प्रकार कि कर्म तीन प्रकार के हैं क्रियमाण जो वर्त्तमान काल में किये जाते हैं, और जब तक उनका कोई फल नहीं होता आत्मा में संस्कार रूप हो कर रहते हैं तब तक सञ्चित कहलाते हैं। और जब फल देने के

लिये अभिमुख हो जाते हैं तब वही प्रारब्ध कहलाते हैं। एवं परम्परा से पुरुषार्थ से ही प्रारब्धकर्म बनते हैं। वहां का पुरुषार्थ किया हुआ यहां की प्रारब्ध भी हो जाता है, जैसेकि स्वच्छ खानपानादि से बलबुद्धि की वृद्धि अन्यथा ह्रास, इस अभिप्राय से स्वामीजी ने कहा है कि पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है॥

(२६) यह मन्तव्य स्पष्ट है॥

(२७) "संस्कार" जो अपगुणों को निकाल देता है और सद्गुणों को प्रविष्ट कर देता है। प्रसिद्ध संस्कार मनुष्य के १६ हैं, श्मशानान्त संस्कार के अनन्तर परलोक गामी जीव के लिये यहां का किया हुआ कोई कर्म उसके सुख दुःख का हेतु नहीं हो सक्ता, इस अभिप्राय से स्वामीजीने कहा है कि दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये, इस विषय में हमारे सनातनी भाइयों को बड़ी विप्रतिपत्ति है, वह यह मानते हैं कि यहां के किये हुए श्राद्धादि कर्म मृतक जीव के लिये सुख दुःख के हेतु हो सक्ते हैं। और युक्तियें इस विषय में यह देते हैं कि (१) जैसे इस लोक में दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को मिल जाता है इसी प्रकार परलोक में भी मृतक के पीछे किये हुए श्राद्धादि कर्मों का फल मिल सक्ता है?

(२) दूसरी युक्ति यह है कि जैसे मृतक के नाम पर बनवाए हुए कुए तालावादि कर्मों का यश रूपी फल मृतक को मिलता है एवं श्राद्ध का फल भी मिलता है?

(३) जैसे मरने के पश्चात् उसकी इष्ट प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है और उसका फल उसको मिलता है, इसी प्रकार

यहां के दिये हुए पदार्थ उसको मिल सक्ते हैं ?

(१) प्रथम युक्ति का उत्तर यह है कि इस लोक में भी दूसरे के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिलता किन्तु दूसरे के प्रारब्ध कर्मों में दूसरा निमित्त मात्र हो जाता है। अन्यथा यदि अन्य के कर्मों का फल अन्य को मिल जाय तो जिस समय किसी के सम्बन्धि को कोई दुःख होता है या प्राणान्त होता है उस समय बहुत से इष्ट मित्र ऐसी प्रार्थना करते हैं कि मेरे शुभकर्म इसको लग जायें और मेरी आयु इसको प्राप्त हो जाय पर ऐसा होता नहीं, इस लिये दूसरे के कर्म दूसरे को नहीं लगते ॥

(२) कुए तालावादिकों का यशरूपी फल उसको नहीं मिलता, किन्तु यश भी तभी होता है जब वह अपने हाथ से बनबाजाय, और यदि उसका कोई सम्बन्धि उसके पीछे उसके नाम के लिये बनवा देता है और वह यावदायुष कदर्य्य रहता है तो उससे उसका यश नहीं रहता किन्तु बनबाने वाले का यश होता है। रही नाम की प्रसिद्धि सो परलोक में उसके सुख दुःख का कारण नहीं हो सक्ती ॥

(३) मरने के पीछे जो उसकी इष्ट प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है वह जीवित जनों को सुमार्ग दर्शाने के लिये की जाती है। और दूसरी बात यह है कि प्रार्थना का फल नम्रता, आत्म न्यूनता, आदि हैं। अन्य कर्मवत् फल प्राप्ति प्रार्थना का फल नहीं, अन्यथा सब प्रार्थना कर्त्ता सब कार्य्य अपने प्रार्थनाओं से ही सिद्ध कर लिया करें एवंतृतीय तर्क से भी मृतकश्राद्ध मण्डन नहीं होता॥

अब हम यह पूछते हैं कि मृतक के अनन्तर जो श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं वह किस प्रकार उसको प्राप्त होते हैं? क्या वह उसकी प्रारब्ध बन जाते हैं, अथवा जिस समय उसके निमित्त भोजनादि दिये जाते हैं तो वह उसी समय उसको जाकर मिल जाते हैं?

प्रारब्ध इस लिये नहीं कह सक्ते कि अपने क्रियमाण कर्मों से भिन्न प्रारब्ध कर्म नहीं होते किन्तु अपने क्रियमाण कर्म ही प्रारब्ध होते हैं, इसको इस सूत्र में वर्णन किया है॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ब्र० सू० २।३।४२॥

अर्थ—(कृतप्रयत्न) नाम अपने किये हुए कर्मों की अपेक्षा से ही ईश्वर उसको सुख दुःख भुगवाता है, अन्यथा यदि ईश्वर बिना कर्मों के फल भुगवा देता अथवा अन्य के कर्मों से अन्य को फल भुगवा देता तो विहित और प्रतिषिद्ध कर्म सब निष्फल होते, इस लिये दूसरे के किये हुए कर्म दूसरे की प्रारब्ध नहीं होते॥

यदि यह कहा जाय कि जिस समय उसको भोजनादि दिये जाते हैं उसी समय उसको जाकर मिल जाते हैं यह सर्वथा असम्भव हैं। और वादी मत में महा अनिष्टापात है क्योंकि जब मनुष्य शरीर की तृप्ति कारक अन्न जल चिउटी के शरीर धारी जीव को जा मिलेगा तो उसका सर्वस्व नष्ट हो जायगा, और यदि हस्ती के शरीर धारी जीव को मिलेगा तो अकिञ्चितकर होगा क्योंकि उसकी तृप्ति उससे न होगी, इससे यह सिद्ध हुआ कि श्राद्धादि कर्मों का फल मृतक को नहीं मिलता॥

और बात यह है कि हमारे वादी श्राद्धादि कर्मों में भोक्ता ब्राह्मणों के द्वारा पित्रों को उस अन्न की प्राप्ति मानते हैं, इस लिये

(१) प्रथम प्रश्न यह है कि श्राद्धादि कर्म वेद में किस मंत्र में वर्णन किये गए हैं ?

(२) और किस मंत्र में ब्राह्मणों को खिलाकर पकान्नों का परलोक में भेजने का प्रकार लिखा गया है ?

(३) यदि मृतकों का ही श्राद्ध होता है तोः—

येच जीवा येच मृता ये जाता ये च यज्ञिया ॥ अथर्व० १८।४।५७॥

इस मंत्र में जीतों का श्राद्ध क्यों विधान किया गया है ?

(४) वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का कथन है या श्राद्ध का ? यदि पिण्ड पितृयज्ञ का कथन है तो सनातन पथ का अभिमान करने वाले पौराणिक इसको श्राद्ध कर्म क्यों कहते हैं ?

(५) यदि वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का विधान है तो वेद में पिण्ड पितृयज्ञ का किस मंत्र में वर्णन है ?

(६) यदि पिण्ड पितृयज्ञ का वर्णन है तो उस पिण्ड का किसी को भोजन कराके परलोक में भेजना कहां लिखा है ?

(७) यदि पितर अपने आपही हविष् के खाने को यज्ञ में चले आते थे तो अब क्यों नहीं आते ?

(८) जो प्रेत कर्म में वैदिक मंत्र हैं जब उनका विनियोग चिता कर्म में है फिर उन मंत्रों से आधुनिक श्राद्ध की सिद्धि कैसे की जाती है ? यह प्रश्नाष्टक है जिसका उत्तर पौराणिक मण्डल में कोई

नहीं। केवल पिताकर्म के बहुतसे मंत्रों का संचय करके मरुड़ पुराणी श्राद्ध को आडम्बर मात्र से वैदिक बनाया जाता है, और यह मिथ्या विश्वास पर जगद्भ्रम की जड़ जमाना धर्म से सर्वथा विरुद्ध है, इसलिये हम इस विषय के मंत्रों पर पौराणिक अर्थों की सविस्तर समीक्षा करते हैं ॥

मृतकश्राद्ध मानने वालों के प्रबलप्रमाण काही हम प्रथम खण्डन करते हैं। पौराणिक वर्ग में वह प्रबल प्रमाण यह है कि :—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । त्वंतान्वेत्थयदिते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिंजुषन्ताम् अथर्व० १८।२।३५।

इसके यह अर्थ किये जाते हैं कि जो अग्नि से दग्ध किये गए, और जो अग्नि से नहीं दग्ध किये गए, और जो हवि भक्षण करके स्वर्ग में रहते हैं, हे अग्ने तू उनको जानता है यह हवि तू उनके लिये भक्षण करने को लेजा ॥

पर हम इस अर्थ की समीक्षा करते हुए यह बतलाते हैं कि इसमें तो (अग्निदग्धा) कहने से मृतपित्रों के शरीर का ग्रहण होता है तो क्या उन शरीरों के लिये अग्नि से प्रार्थना है? कि अग्नि उनको इस हवि का सेवन कराये, मंत्र के मुख्यार्थ से शरीरों का ग्रहण होता है आत्मा का कदापि नहीं। सूक्ष्मदर्शी सनातन धर्म्मी यहां यह कहेंगे कि केवल लक्षणा से यहां "अग्निदग्धा" कहने से शरीर सम्बन्धि जो आत्मा है उसका ग्रहण हो जाता है जैसे कि "गंगायांघोषः" इस कथन में गंगा पद का शक्यार्थ जो प्रवाह उसके साथ सम्बन्ध

रखने से गंगापद की तीरमें लक्षणा होजाती है, इससे तात्पर्य्य यह निकलता है कि गंगा के तीर पर घोष है, एवं अग्नि से दग्ध जो शरीर उसके साथ सम्बन्ध रखने से आत्मा का ग्रहण हो जाता है। तो अब हम पूछते हैं कि लक्ष्यार्थ से बिना तो आपका भी निर्वाह नहीं होता फिर आप लक्ष्यार्थ लेने से क्यों घबराते हैं ?

सार यह निकला कि मृत पितरों के जीवात्मा का ग्रहण उक्त मंत्र में लक्षणा वृत्ति से लाभ हुआ ॥

लक्षणा से मंत्रार्थ यह बनते हैं कि हे (जातवेदः) अग्ने परमात्मन् जो मृतपितरों के शरीर अग्नि में जलाए गए हैं, और जो अग्नि में नहीं जलाए गए, जो आकाश में स्वयं अपनी कांति से विराजमान हैं, अर्थात् ऐसे आकाशवत् उच्च पर्वतीय देशों में पड़े हैं कि जिनकी कांति नहीं विगड़ी, तुम परमात्मन् सर्वज्ञ होने के कारण सबको जानते हो, इस लिये इस स्वधा सम्बन्धि यह यज्ञीय हविष् उनको सेवन कराओ। भेद इतना है कि पौराणिक अर्थ में "अग्निदग्धा" शव्द में तात्पर्य्याऽनुपपत्ति से पितरों के जीवात्मा में लक्षणा की गई, और हमारे मन्तव्य में (जातवेदः) पद की भौतिकाग्नि में तात्प र्य्याऽनुपपत्ति होने से परमात्मा में लक्षणाकी गई, क्योंकि इस मंत्र में यह लिखा हुआ है कि हे जातवेदः तू उनको जानता है और जानना जड़ अग्नि में हो नहीं सक्ता जिससे यह अर्थ लाभ हुआ कि सर्वज्ञ परमात्मा इस अन्त्येष्टि यज्ञ के हविष् को इस्ततः सर्वत्र प्रचार करें ताकि जिन पित्रों के शरीर असंस्कृत रहे हैं उनसे भी संसार को कुछ हानि न हो ॥

हमारे उक्तार्थकी प्रबलतामें यह प्रमाणहै कि इससे आगे मं० ३६

में अन्त्येष्टि यज्ञ का वर्णन है, इससे पाया गया कि इस मंत्र में भी अन्त्येष्टि यज्ञ अर्थात् चिताकर्मका विधान है फिर इससे मृतक श्राद्ध की सिद्धि कैसे ?

इससे आगे मंत्र ३६ यह है :—

शं तपमाति तपो अग्ने मा तन्वं तपः। बनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तुयद्धरः ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे भौतिकाग्ने तू इस प्रेत शरीर को (शंतप) नाम शोभन तपा और (मातितपः) अतिमत तपा अर्थात् ऐसा मत तपा जिससे हमारें शरीरों तक भी उसका दाह पहुंचे, (मातन्वंतपः) हमारे शरीरों को मत तपा तुम्हारा शुष्क करने वाला तेज बनों में हो और हरण करने वाला जो तुम्हारा तेज है वह पृथ्वी में रहे। इस मंत्र में उपचार से भौतिकाग्नि को ऐसा कथन किया गया है, शिक्षा इससे यह लाभ होती है कि मृतक की चिता ऐसी न तपाई जाय जिससे अन्त्येष्टि यज्ञ करने वाले लोगों को भी दाह प्रतीत हो, अर्थात् शनैः २ तपाई जाय। तत्व यह निकला कि यह चिता का प्रकरण है इस में डाले हुए घृतादि पदार्थों को कोई नहीं कह सक्ता कि परलोक में मृत पितरों की भूख मिटाने के लिये यह डाले जाते हैं किन्तु मृतक प्राणियों के शरीर संस्कार के लिये और जीवितों के दुर्गन्धादि निबृत्ति के लिये ऐसा कथन किया गया है, नकि किसी फल प्राप्ति के लिये। इसी अभिप्राय से:—

येच जीवा येच मृता ये जाता येच यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्यकुल्यैतु मधुधाराव्युंदती ॥ अ० १८।४।५७

यह मंत्र लिखा है, इसके अर्थ यह हैं कि (येचजीवा) जो जीते हैं, (येचमृता) जो मर गए हैं, (येजाता) जो उत्पन्न हुए हैं, (येच यज्ञियाः) और जो उत्पन्न होने वाले हैं (तेभ्यः) इन सब पूर्वोक्त प्राणियों के लिये (मधुधाराव्युन्दाति) नाम मीठे २ प्रवाहों को सिञ्चन करती हुई (घृतस्य) घी की (कुल्या) नाम धार (एतु) नाम प्राप्त हो। इस मंत्रमें स्पष्ट करदिया गया कि यह चिता का हवन जीवित मृतक सबके लिये कल्याणकारी है। जीतों के लिये दुर्गंध निवृत्ति द्वारा कल्याणकारी है, मृतक शरीरों के लिये उनके संस्कार द्वारा शुभकारी है। इस मंत्र में मृतकश्राद्ध वादियों का मत सर्वथा शिथिल होजाता है क्योंकि इसमें जीवितों का भी विधान है। इस मंत्र के अर्थ पं० ज्वालाप्रसादमिश्र यहांतक गोलमोल करते हैं कि कुछ पताही नहीं देते, उनके अर्थ यह हैं कि (जो जीवित हैं जो कोई मृतक होगए जो उत्पन्न हुए जो यज्ञ के कराने वाले हैं उनके वास्ते घृत की कुल्या मधुधारा प्राप्त हो *) कुछ नहीं खोला, कि वह पितर हैं अथवा यज्ञके कराने वाले ऋत्विजादि हैं, यहां ऐसी मौन वृत्ति धारण की है कि पिण्ड वा श्राद्ध का नाम ही नहीं लिया, और मंत्रों में यहां तक दम मारते हैं कि कबरों में गाढ़े हुओं को भी भोजनादि भक्षण कराने को तैय्यार हैं जैसेकिः—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा येचोद्धिताः ॥
सर्वांस्तानग्न आवह पितृन्हविषे अत्तवे ॥
अथर्व० कां० १८। २। ३४

इस मंत्र के अर्थ यह करते हैं कि जो पितर गाढ़े गए,जो पड़े

* दयानन्द ति० भा० पृ० ११४।

रहें, जो अग्नि से जलाए गए, जो उद्धित फेंके गए हैं, हे अग्ने ! उन सबको हवि भक्षण करने को सम्यग् प्रकार से लेजा।

यहां पृष्टव्य यह है कि निखातादि पदों से तो शरीर का ग्रहण है, वह तो आपके कथनानुसार दबाया या जलाया गया, फिर विचारा अग्नि आपके हवि को किसके पास लेजावेगा ? और मृतक शरीर कैसे भक्षण करेगा ? यदि लक्ष्यार्थ लेनेसे शरीर सम्बन्धि जीवात्मा के अर्थ लेते हैं तो सभी मंत्रके लक्ष्यार्थ क्यों नहीं लेते जिससे तात्पर्य्य उपपत्ति होसके। वह इस प्रकार है कि हे अग्ने परमात्मन् (सर्वांस्तान्) उनसब (पितॄ) पितरों को (हविषे अत्तवे) नाम हवि भक्षण करने के लिये (आवह) नाम प्राप्त कर।

जो (ये निखाता) युद्धादि समय में भूमि में जिनका संस्कार किया गया है (परोप्ता) नाम दूर देश में जिन शरीरों को काष्ठवत् त्याग दिया गया है, (येदग्धा) जो शरीर अग्नि में दग्ध किये गए हैं, और जो (उद्धिताः) नाम इधर उधर फेंक दिये गए, उन सबको इस अन्त्येष्टि यज्ञ की सुगन्धि का प्रभाव प्राप्त करा॥

इससे शिक्षा यह लाभ होती है कि चिता का हवन न केवल चितास्थ शरीर की शुद्धि के लिये है किन्तु सर्व दुर्गन्धित द्रव्यों की शुद्धि के लिये है। यहां भी "येऽग्निदग्धा" इस मंत्र के "जातवेदः" के समान अग्निपद परमात्मा का बोधक है, आशय यह है कि हे परमात्मन् तुम इस चितास्थ हवन की सुगन्धि से सब पदार्थों को शुद्ध करो। अत्ता-शब्द यहां उपचार से कहा गया है क्योंकि मृत शरीरों में भक्षण करने का सामर्थ्य नहीं होता॥

इस मंत्र को भी दृढ़ता से पौराणिक लोग मृतक श्राद्ध के

मण्डन में दिया करते हैं:—

यास्तेधाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्तेयमो राजानुमन्य ताम् ॥ अथर्व० १८ । ३ । ६९ ॥

अर्थ—(तिलमिश्राः) तिलों से मिश्रित (स्वधावतीः) नाम स्वधाशब्द संयुक्त जो धान, मैं तुम्हारी चिता में छोड़ता हूं वह बहुत सुगंधिप्रद हों और (यमोराजा) नाम दीप्तिवाला वायु उनकी सुगंधि को इतस्ततः फैलावे। सायणाचार्य्य ने यहां यम के अर्थ ईश्वर के किये हैंकि "राजाराजमानईश्वरोयमः ते तव ताधानाऽनुमन्यताम् भोक्तुमनुजानातु" अर्थ—दीप्तिवाला ईश्वर यम तुम्हारे लिये उन धानों के भोगने की आज्ञा दे, हमने यहां सायण के अर्थ से यह सार ग्रहण करना है कि सायण से विरुद्ध सनातनी यहां यमके अर्थ प्रेत देशका स्वामी व्यक्ति विशेष कैसे कर लेते हैं ॥

उक्त तिल और धानों का यहां चिता में डालने का विधान है, इस बात का प्रमाण यह इसी काण्ड का मं० ७१ है:—

आरभस्व जातवेदस्तेज स्वद्धरो अस्तुते । शरीरमस्य सं दहाथैनंधेहि सुकृतामुलोके ॥ ७१ ॥

अर्थ—हे अग्ने (आरभस्व) नाम इस मृतक को दग्ध करने का प्रारम्भ कर । सायण इसके यह अर्थ करते हैं कि "मृतंदग्धुमु पक्रमस्व" तुम्हारा हरण शील तेज हो, "शरीरमस्य सन्दह" इसके शरीर को अच्छे प्रकार दाह करो, और इसके

जीवात्मा को पवित्र स्थानों को प्राप्त कराओ। इस मंत्र में शरीर के दाह का कथन किया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि यह श्मशान कर्म के मंत्र हैं यहां श्राद्ध की क्या कथा?

इस मंत्र को पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने ऐसे ही लिखकर छोड़ दिया है अर्थ कुछ नहीं किये, करते भी क्या, उक्त शमशान के मंत्र की शरण से श्राद्ध कैसे सिद्ध करते। इस लिये श्राद्ध की सिद्धि के लिये एक और मंत्र पर जा पड़े हैं और वह यह है:—

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वाद्वेषांस्यनपत्यवन्तः ते द्यामुदित्याविदन्तलोकं नाकस्यपृष्ठे अधिदीध्यानाः॥ अथर्व० १८।२।४७॥

इसके अर्थों में पं० ज्वालाप्रसादमिश्र यह लिखते हैं कि "जो निस्सन्तान लोग स्वर्गादि लोक में प्राप्त हैं उनको हवि देते हैं। यहां पूर्ण रूप से विदित है कि मृतक श्राद्ध होता है"॥

उत्तर—यहां मंत्र में हवि देने का कहीं नाम तक नहीं, फिर आपकी पूर्णरूप से मृतक श्राद्ध की सिद्धि कैसे? मंत्र के सत्यार्थ यह हैं (ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी (शशमानाः) प्रशंसा योग्य (परेयुः) नाम परलोक को प्राप्त होते हैं (द्वेषांसिहित्वा) नाम द्वेषों को छोड़कर, फिर वह कैसे पितर हैं (अनपत्यवन्तः) नाम सांसारिक संतति रहित है, वह पितर (द्याम) नाम अंतरिक्ष को (उदृगत्य) उल्लङ्घन करके स्वर्गलोक में अर्थात् सुखलोक में (अधिदीध्यानाः) नाम अधिक दीप्तिवाले होकर विराजमान होते हैं॥

आशय इसका यह है कि जो राग द्वेष से रहित विद्वान् सांसा-

रिक सन्तति को छोड़कर केवल विद्यारूपी सन्तति संसार में उत्पन्न कर जाते हैं, वह दीप्तिवाले होकर स्वर्गलोक में विराजते हैं। इस मंत्र से यह भी पाया गया कि पुत्र पौत्रादि सन्तति उत्पन्न करने वालों का ही नाम पितर नहीं किन्तु निस्सन्तानों का नाम भी पितर है। अस्तु यह प्रकरणान्तर है, प्रकृत यह है कि यहां मृत-पितरों के निमित्त स्वर्ग में कोई वस्तु पहुंचाने का नाम तक नहीं, फिर उन्होंने मृतक श्राद्ध कैसे निकाल लिया। उक्त प्रकार से मृतक श्राद्ध वादियों की समीक्षा करने से ग्रंथ बहुत बढ़ता है इस लिये जिन २ श्राद्ध विषयक मंत्रों के उन्होंने अर्थाभास किये हैं उन सबके सत्यार्थ यहां किये देते हैं॥

येतेपूर्वेपरागता अपरे पितरश्चये। तेभ्योघृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युंदती॥ अथर्व० १८।३।७२।

अर्थ—परमेश्वर इस मंत्र में यह उपदेश करते हैं कि जो तुम्हारे पितर विद्वान् तथा जनकादि मृत होते हैं उनका संस्कार इस प्रकार किया करो॥

(ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) पूर्वले (पितरः) रक्षकादि (च) और (अपरे) अन्य बन्धु आदि (परागता) नाम परलोक बास कर गए हों, उनके अन्त्येष्टि संस्कार के लिये (व्युन्दती) नाम गिरती हुई घृत की शतधारा नदी के समान चिता में डालो ताकि उसमें दुर्गन्धि आदि कुछ न रहे॥

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये तेषांल्लोकः स्वधा नमो यज्ञोदेवेषु कल्पताम्॥ यजु० १९।४५

अर्थ-(ये) जो (समानाः) नाम समान गुणों वाले हैं (समनसः) समान बृत्तियों वाले हैं अर्थात् एक ही ईश्वरीय धर्म में जिनकी वृत्तियें हैं, ऐसे (पितरः) विज्ञानी लोग, न्यायकारी राजा के राज्य में होते हैं, क्योंकि उनका (लोकः) नाम ज्ञान अमृत रूप होता है और सत्कार ही उनका अन्न होता है। हे परमात्मन् ऐसा (यज्ञ) नाम समान बृत्तियों वाला यज्ञ (देवेषु) नाम उक्त देवताओं में (कल्पताम्) नाम प्रचार करें। इस मंत्र में ईश्वर से ज्ञान यज्ञ की प्रार्थना है॥

येसमानाः समनसोजीवाजीवेषुमामकाः।
तेषाᳫंश्रीर्मयिकल्पतामस्मिल्लोकेशतᳫंसमाः॥
यजु० १९। ४६।

अर्थ-(ये) जो (समानाः) समान गुणों वाले हैं, (समनसः) समान बृत्तियों वाले हैं, फिर कैसे हैं (जीवेषुमामकाः) नाम और जीवों में ममत्व रखने वाले हैं अर्थात् परोपकारार्थ काम करके ममता उत्पन्न करने वाले हैं (तेषां) नाम ऐसे लोगों की जो (श्रीः) शोभा है (मयि) नाम मेरे में (कल्पताम्) धारण करावें. इस भाव को लेकर इस लोक में मैं सौ वर्ष तक जीऊं, इस मंत्र में ईश्वर से कर्म यज्ञ की प्रार्थना है। भाव यह है कि जो लोग निष्काम कर्म करते हैं उनके सब भूत आत्मवत् हो जाते हैं। अब उक्त ज्ञान यज्ञ और कर्म यज्ञ इन दोनों मार्गों को अगले मंत्र में वर्णन करते हैं॥

द्वेसृतीअश्रृणवम्पितृणामहन्देवानामुतमर्त्यानाम्।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेतियदन्तरापितरम्मातरञ्च ॥ ४७ ॥

अर्थ-(द्वेसृति) नाम दो मार्ग (मर्त्यानां) मनुष्यों के सुने गए हैं (पितृणाम्) एक पितरों का अर्थात् कर्मी लोगों का दूसरा (देवानाम्) ज्ञानी लोगों का (अश्रृणवम्) नाम मैं सुनता हूं, उन दोनों मार्गों से (इदं) नाम ये सम्पूर्ण जगत् (एजत्) नाम चेष्टा करता हुआ (समेति) नाम गति करता है, (यत्) जो जगत् (अन्तरापितरम्मातरञ्च) नाम और पिता माताओं को प्राप्त होता है। इस मंत्र में देवयान और पितृयाण मार्ग स्पष्ट रीति से कथन कर दिये हैं इन्हीं का नाम ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग है और इसी को गीता में शुक्ल कृष्णगति के नाम से कहा गया है:—

शुक्लकृष्णेगतीह्येतेजगतः शाश्वतेमते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥
नैतेसृतीपार्थजानन्योगीमुह्यतिकश्चन ।
तस्मात्सर्वेषुकालेषुयोगयुक्तोभवाऽर्जुन ॥
गीता० ८ । २६ । २७ ॥

अर्थ-(शुक्लकृष्णे) नाम शुक्ल और कृष्ण यह दोनों गतियें जगत् की निरन्तर होती हैं, (एकया) नाम एक से (अनावृत्ति) नाम ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष मार्ग में अपहत पाप्मादि ब्रह्म के भाव जीव को प्राप्त हो जाते हैं उस समय उसको (आवृत्ति) नाम ब्रह्म ध्यान नहीं करना पड़ता. और दूसरे कर्म मार्ग में ब्रह्म

ध्यानादि आवृत्ति करनी पड़ती है, इन दो मार्गों को जानता हुआ योगी हे अर्जुन! कभी मोह को प्राप्त नहीं होता, इस लिये सब कालों में तुम ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का आश्रय लो ॥

यहां पौराणिक लोग यह प्रश्न करेंगे कि शुक्ल मार्ग में अग्नि ज्योति कथन की गई है, और शुक्ल दिन कथन किया गया है, और दूसरे मार्ग में धूम रात्रि कथन की गई है और छ मास का दक्षणायन कथन किया गया है येतो कोई देश विशेष स्वर्गलोक के मार्ग प्रतीत होते हैं फिर इनको ज्ञान और कर्ममार्ग कैसे कह सक्ते हैं? इसका उत्तर यह है कि रूपक बांधकर यहां धूम और अग्नि का मार्ग कथन किया गया है वास्तव में मार्ग विधान में तात्पर्य्य नहीं, इसी अभिप्राय से स्वामीशङ्कराचार्य्यने अपने भाष्य में लिखा है (शुक्लकृष्णे) "ज्ञानप्रकाशकत्वात्शुक्लातदभभावात्कृष्णा।" अर्थ-देवयान की ज्ञान प्रकाश के अभिप्राय से शुक्लागति कही गई और पितृयाण की ज्ञान के अभाव होने के कारण कृष्णा गति कही गई, यह उक्त दोनों मार्ग पूर्व मंत्र में वर्णन किये गए हैं। इसमें श्राद्ध की कोई चर्चा नहीं॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुंयईयुरवृकाऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० १०।१५।१।

अर्थ-(सोम्यासः पितरः) सोम गुण सम्पन्न पितर उत्तम मध्यम और छोटी अवस्था वाले (उदीरताम्) नाम हमारी उन्नति करें, और जो सर्व भूतों के अद्रेष्टा होने से समता रूपी जीवन को प्राप्त

हैं (ऋतज्ञाः) नाम तत्व ज्ञानी हैं ऐसे पितर यज्ञों में हमारी रक्षा करें। अर्थात् तत्व ज्ञानी विद्वान् यज्ञ कर्मों में आकर हमारी रक्षा करें। इस मंत्र में (अवन्तु पितरो हवेषु) इतने मात्र से ही मृतक श्राद्ध वादी श्राद्ध निकालते हैं जिसका आशय स्पष्ट यह है कि यज्ञों में आकर विज्ञानी लोग हमारी रक्षा करें॥

येनः पूर्वेपितरःसोम्यासोऽनूहिरेसोमपीथंवसिष्ठाः तेभिर्य्यमः संᳫरराणोहवीᳫष्युशन्नुशद्भिः प्रति काममत्तु॥ यजु० १९। ५१।

अर्थ—जो शान्त्यादि गुण सम्पन्न (येनः पूर्वे पितरः) नाम हमारी सर्व प्रकार से रक्षा करने वाले हैं, (वसिष्ठाः) नाम सर्व गुण सम्पन्न हैं (सोमपीथंऽनूहिरे) नाम सोमपान को प्राप्त हैं ऐसे पितरों के साथ हमारी सन्तान प्रत्येक शुभ कामनाओं को भोग करे। आशय यह है कि सर्वगुण सम्पन्न विज्ञानी पितरों की सेवा में रहकर हमारी सन्तान मनुष्य जन्म के धर्म अर्थ काम मोक्षरूपी फल चतुष्टय कोभोगे।

मृतक श्राद्ध वादी इसके यह अर्थ करते हैं कि यजमान मृत पितरों के साथ यथेष्ठ फल को भोगे, अब यह पता नहीं दिया मरकर भोगे, या जीता भोगे? पर यजमान से यह बात पाई जाती है कि जीता ही भोगे, पर यह नहीं बतलाया कि मृत पितरों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है॥

त्वयाहिनः पितरः सोमपूर्वेकर्म्माणिचक्रुः पवमान धीराः। वन्वन्नवातः परिधींरपोर्णुहिवीरेभिरश्वै र्म्मघवाभवानः॥ यजु० १९। ५३।

अर्थ–हे विद्वन् (त्वया) तुम्हारे साथ (नः) हमारे (पितरः) अध्यापका (सोमपूर्वे) ऐश्वर्य्य वाले प्राचीन वृद्ध (कर्माणि) यज्ञादि कर्माणि (चक्रुः) करते हैं, यहां वर्त्तमान काल में लिट का प्रयोग है, फिर तुम कैसे हो (पवमानः) नाम पवित्र करने वाले हो (धीराः) धीर हो (वन्वन्) धर्म की सेवा करने वाले हो, (अवातः) हिंसा रहित हो (परिधीन्) नाम सर्व फल प्रद मार्गों को (अपोर्णुहि) नाम आच्छादनकर (वीरेभिरश्वैः) वलिष्ठ घोड़ों से हमारे मध्य में धन युक्त हो ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमावोहव्याचकृमाजुषध्वम्।तऽआगताऽवसाशन्तमेनाथानःशंयोररपो दधात ॥ यजु० १९ । ५५ ।

अर्थ–हे (बर्हिषदः) श्रेष्ठ सभा में बैठने वाले पितरो (ऊती) नाम रक्षणादि क्रिया से (अर्वाक्) नाम हमारे मध्य में (इमा) नाम इन हव्यादि भोजन युक्त पदार्थों को (वः) तुमारे लिये (चकृम) संस्कार करते हैं उनका आप लोग (जुषध्वम्) सेवन करें, (शन्तमेन) नाम अत्यन्त कल्याण कारक (अवसा) रक्षणादि कर्म के साथ (आगत) आवें (अथ) इसके अनन्तर (नः) हमारे लिये (शंयोः) नाम सुख तथा (अरपः) नाम सत्याचरण को (दधात) धारण करें, और दुख को सदा हमसे पृथक् रखें ॥

यहां वादी ने "वर्हिषदः" शब्द से ही पौराणिक श्राद्ध वाले पितर सिद्ध कर लिये, यदि "वर्हिषदः" के अर्थ वादी स्वीकृत कुशासन के ही कर लिये जावें तब बतलाओ क्या कुशासन पर

बैठने वाले मृत पितर ही होते हैं ? यदि ऐसा है तो गीता० ६।११ में योगी के लिये कुशासन क्यों लिखा है ॥

आयन्तुनः पितर स्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन्यज्ञेस्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु० १९। ५८।

अर्थ-(नः) हमारे पितर (सोम्यासः) शमदमादि गुण विशिष्ट (अग्निष्वात्ताः)नाम पञ्चाग्नि विद्यादिकों में निपुण (पथिभिर्देवयानैः) नाम ज्ञान मार्गों से अर्थात् ज्ञान देने के अभिप्राय से (आयन्तु) आवें, और हमारे इस यज्ञ में (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) नाम आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हमको (अधिब्रुवन्तु) नाम उपदेश करें और (अवन्तु) नाम हमारी रक्षा करें ॥

येअग्निष्वात्ता येअनग्निष्वात्तामध्येदिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशंतन्वंकल्पयाति ॥ यजु० १९। ६०।

अर्थ-(ये अग्निष्वात्ता) नाम जिन्होंने पञ्चाग्नि विद्या को ग्रहण किया है और (ये अनग्निष्वात्ता) नाम ज्ञानी हैं (दिवः) नाम ज्ञानादि प्रकाश के मध्य में (स्वधया) सुन्दर तृप्ति से (मादयन्ते) नाम आनन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिये (स्वराट्) नाम स्वयं प्रकाशमान परमात्मा (असुनीतिमेताम्) नाम इस प्राणधारी (तन्वन्) नाम शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थन करे ॥

मृतक श्राद्ध वादी के मत में अग्नि में जले हुए पितर और ना जले हुए पितर उक्त दो शब्द ही मृतक श्राद्ध के साधक हैं। इनका समाधान "अग्निदग्धाअनग्निदग्धा" इत्यादि मंत्रों में कर आए हैं उन युक्तियों का यहां भी उपयोग है ॥

आच्याजानुदक्षिणतोनिषद्येमंयज्ञमभिगृणीतविश्वे। माहिꣳसिष्टपितरः केनचिन्नोयद्वआगः पुरुषता कराम ॥ यजु० १६। ६२।

अर्थ-(विश्वे) नाम हे सर्व पितरो तुम (केन, चित्) नाम किसी हेतु से (नः) हमारी जो (पुरुषता) नाम पुरुषार्थता है उसको (मा, हिंसिष्ट) मत नष्ट करो, जिससे हम लोग सुख को (कराम) प्राप्त करें (यत्) जो (वः) तुमारा (आगः) अपराध हमने किया है उसको हम छोड़ें, तुम लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्कार रूप व्यवहार को (अभि, गृणीत) हमारे सन्मुख प्रशंसित करो, हम (जानु) नाम जानु, अवयव को (आच्य) नीचे टेककर (दक्षिणतः) तुम्हारे दक्षिण पार्श्व में (निषद्य) बैठके तुम्हारा निरन्तर सत्कार करें ॥

इस मंत्र में जानु टेककर बैठने और दक्षिण मुख से ही वादी मृतक श्राद्ध निकालते हैं ॥

आसीनासोअरुणीनामुपस्थेरयिंधत्तदाशुषेमर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्यवस्वः प्रयच्छततइहोर्ज दधात ॥ यजु० १६। ६३॥

अर्थ-हे (पितरः) ज्ञानी लोगो (दाशुषे) दाता यजमान के लिये

(रयिम्) नाम धन को (धत्त) धारण करो, तुम कैसे हो, जोकि लाल रंग के उर्ण के आसनों के ऊपर (आसीना) बैठे हुए हो ॥

और हे पितरो (पुत्रेभ्यः) नाम यजमान रूप जो तुम्हारे पुत्र हैं उनको अभीष्ट धन दो, और तुम हमारे इस यज्ञ में (ऊर्जम्) जो पराक्रम है उसको स्थापन करो ॥

इस मंत्र में मृत पितरों का सूचक कोई शब्द नहीं प्रत्युत लाल रंग के आसनों पर बैठना, उनसे यज्ञ में पराक्रम और धनादिकों की प्रार्थना करना इस बात को सिद्ध करता है कि इस मंत्र में जीते पितरों का ही वर्णन है ॥

पुनन्तुमापितरः सोम्यासः पुनन्तुमापितामहाः । पुनन्तुप्रपितामहाः पवित्रेणशतायुषा । पुनन्तुमा पितामहाः पुनन्तुप्रपितामहाः पवित्रेणशतायुषा विश्वामायुर्व्यश्नवै ॥ यजु० १६ । ३७ ।

अर्थ-(सोम्यासः) नाम सौम्यगुण सम्पन्न (पितरः) पितर (मामपुनन्तु) मुझको पवित्र करें, और पितामह मुझको पवित्र करें, प्रपितामह मुझको पवित्र करें, पवित्र जो सौ वर्ष की आयु है उसके साथ पितामहादि पवित्र करें अर्थात् उनके अनुकरण से मैं भी सौ वर्ष की आयु को प्राप्त होऊं । इस प्रकार पूर्वोक्त पितरों से पवित्र हुआ (विश्वम्) नाम सर्व आयु को मैं (व्यश्नवै) प्राप्नुयां प्राप्त होऊं । उक्त प्रार्थना भी जीवित पितरों से ही की गई है, और पितामह प्रपितामहादि के नाम लेने से यह भी सिद्ध कर-दिया कि यहां तक जीते रहना सम्भव हो सक्ता है, यदि मृतकों

का अभिप्राय होता तो पितामह प्रपितामह तक ही अवधि क्यों रखी गई ?

आधत्तपितरोगर्भङ्कुमारम्पुष्करस्रजम् ।
यथेहपुरुषोसत् ॥ यजु० २ । ३३

अर्थ–(पितरः)नाम इस कुलके बृद्ध लोग ऐसा गर्भाधान संस्कार करें कि जिससे सुन्दर कुमार उत्पन्न हों। इस मंत्र का मृतक श्राद्ध से क्या सम्बन्ध ?

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं
च देवम् ॥ अथर्व० १८ । १ । ५४

अर्थ–इस मंत्र में उस समय का वर्णन है जिस समय शकट पर डालकर मृतक को शमशान भूमि में लेजाया जाता है । हे प्रेत (प्रेहि प्रेहि) तू जा जा (पूर्याणैः पथिभिः) जिस मार्ग से प्रेत लोग परलोक को जाते हैं उस मार्ग का नाम पूर्याण है, और जिस से तुम्हारे पूर्व पितर परलोक अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त हुए हैं, वहां जाकर तुम यम नाम आकाशस्थ वायु को वरुण नाम जल के दिव्य स्वरूप को, इन दोनों देवों को सुधारूप आहुति भक्षण करते हुए देखोगे। इस मंत्र में मृत शरीर में दृष्टि आदि भावों का आरोप किया गया है, आशय यह वर्णन किया गया है कि मृत शरीर का जब सुगन्धित द्रव्यों के साथ दाह किया जाता है तो वह वाष्परूप होकर नभोमण्डल को प्राप्त हो जाता है वहां की जल वायु की चिता पर दी हुई आहुति शुद्ध कर देती है,

इसलिये मृतक के लेजाने समय में उपचार से यह कहा जाता है कि तुम्हें ऐसे मार्ग से भेजा जायगा जिसमें कोई दुर्गति की सम्भावना नहीं, अर्थात् जिस प्रकार असंस्कृत देहादि सड़ गल जाते हैं वह गति तुम्हारी नहीं होगी ॥

इसमें मृतक श्राद्ध की क्या कथा। वादी ने यहां यम शब्द और वरुण शब्द देखकर ही मृतक श्राद्ध निकाला है, पर यह भी नहीं विचारा कि विचारे सनातनी सायण तो यहां गड्डी पर लादकर श्मशान में लेजाने के लिये मृतक पितर को बुलाते हैं फिर यहां श्राद्ध की सिद्धि कैसे ?

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुतद्यां तेभ्यः पितृभ्योनमसाविधेम ॥ अथर्व० १८ । २ । ४९

अर्थ-(येनः पितुः पितरो) हमारे पितामह और जो विज्ञानी पितर (आविविशुरन्तरिक्षम्) आकाश को प्राप्त हुए हैं अर्थात् पदार्थ विद्या द्वारा आकाश मार्ग के ज्ञाता हैं और जो आक्षियन्तिपृथिवी नाम पृथिवी पर निवास करते हैं और जो (द्यां) स्वर्ग लोक में स्थिर हैं ऐसे पितरों को मैं नमस्कार करता हूं ॥

इस मंत्र में मृतक श्राद्धवादी यह कहते हैं कि आकाश को प्राप्त हुए पितर जो इस मंत्र में कथन किये गए हैं वह जीवित कैसे हो सक्ते हैं ? उत्तर-इस मंत्र में तो यह भी कथन किया गया है कि जो इस पृथिवी में रहते हैं, अब यह बतलाओ कि क्या तुम्हारे पितर पितृलोक छोड़कर इस पृथिवी में भी रहते हैं, यहां तो पृथिवी

लोक में पितरों का रहना वर्णन करके वेदभगवान् ने मृतकश्राद्ध वादियों का मत शिथिल कर दिया, और जीवित श्राद्ध वादियों के मत में तो पदार्थ विद्या वेत्ता पितरों की अन्तरिक्ष में भी गति हो सक्ती है इस लिये कोई दोष नहीं ॥

योममारप्रथमोमर्त्यानांयःप्रेयाप्रथमोलोकमेतम् वैवस्वतंसंगमनंजनानांयमं राजानंहविषासपर्यत अथर्व० १८ । ३ । १३ ।

अर्थ-(यो ममार प्रथमोमर्त्यानां) जो लोगों में से प्रथम मरता है (यः प्रेया प्रथमो लोकमेतम्) और जो पहले इस लोक को प्राप्त होता है वैवस्वतं नाम विवस्वान् सूर्य्य से उत्पन्न हुआ जो यह यम वायु है और संगमनं नाम जिसके द्वारा जीव लिङ्ग शरीर सहित पुनर्जन्म को गमन करता है, हे मनुष्यो तुम उस (यमंराजानं) नियमन करने वाली दीप्तिमान वायु को (हविषा) हवन से (सपर्यत) पूजयत पूजा करो। आशय इस मंत्र का यह है कि जो पुरुष प्रथम मृत हो जाता है उसके जीवित सम्बन्धि उसको सुगंधित पदार्थों द्वारा दाह करें ॥

सायण इसके यह अर्थ करता है कि सूर्य्य का पुत्र यम प्रथम यहां से मरकर यमलोक में गया है उसकी तुम पूजा करो, मृतक श्राद्ध वादियों के मत में सूर्य्य का पुत्र यम मरकर जबतक वहां नहीं पहुंचा था तबतक यम लोक का राज्य किसके हाथ में था? मृतक श्राद्धवादियों की ऐसी अनन्त कच्ची बाते हैं जिनका आदि अंत नहीं मिलता। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र इसमें यह गीत गाते हैं कि "जो मनुष्यों को मारके प्रथम इस लोक से लेजाते हैं

उन मनुष्यों के प्राण लेनेवाले यमराजा का हविद्वारा हम पूजन करते हैं"। दया० ति० भा० पृ० ११५ इसकी भाषा ऐसी अलौकिक है कि अतिप्रयास करने पर भी अर्थ नहीं मिलता, प्रथम शब्द यहां सर्वथा निष्फल है। मृतक श्राद्धवादियों के मत में जब यम किसी को मारकर लेजाता है तो क्या उससे पहले यम ने कभी किसी को नहीं मारा था जो उसको प्रथम कहा जाय? और यह अर्थ भी सायण से सर्वथा विरुद्ध हैं॥

यौतेश्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौपथि रक्षी नृचक्षसौ। ताभ्यामेनंपरिदेहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ऋ० १०।१४।११

अर्थ—(यम) हे अन्तर्यामिन् (यौ) जो (ते) तुम्हारे (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (पथिरक्षी) सांसारिक पथ में रक्षा करनेवाले हैं (नृचक्षसौ) मनुष्यों को मार्ग दिखलानेवाले (श्वानौ) कर्म योग और ज्ञान योग उन दोनों से इस पुरुष को परिदेहि नाम रक्षित कीजिये (च) और (अस्मै) इसके लिये (अनमीवं) आरोग्यतादि सुख और (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) दीजिये। यह इस मंत्र के मुख्यार्थ थे जिनको छोड़कर पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने यमराज के दो कुत्तों के अर्थ किये हैं, और कहा है कि हे यमराज जो तुम्हारे दोनों कुत्ते हैं उनको इस प्रेत की रक्षा करने को भेजो। क्या अद्भुत प्रार्थना है, अगर कुत्तों से ही मृतक की रक्षा होती है तो श्राद्धकर्म में कुत्तों का दान अवश्य होना चाहिये, ताकि पौराणिक पितृलोकगामी जीव के साथ रास्ते में कोई रगड़ा झगड़ा न करे॥

यमग्ने कव्यवाहनत्वंचिन्मन्यसे रयिम् ।
तन्नोगीर्भिः श्रवाय्यन्देव त्रापन यायुजम् ॥
यजु० १९ । ६४

अर्थ—हे अग्निवत् प्रकाशमान विद्वन् और हे कव्यवाहन नाम रक्षक लोगों को सुन्दर २ वस्तु देने वाले विद्वन् तुम हमारे लिये ऐश्वर्य्य सम्पादन करो ।

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितृन्यक्ष दृतावृधः ।
पेदुहव्या च निवोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥
यजु० १९ । ६५

हे (कव्यवाहन) विद्वन् तुम पितृन् नाम अपने रक्षक जनकादिकों की पूजाकरो, जो रक्षक (ऋतावृधः) नाम वेद विज्ञान मे अपनी सन्ततियों को बढ़ाते हैं ॥

त्वमग्न ईडितःकव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणिकृत्वी । प्रादाः पितृभ्यः स्वधायाते अक्षन्नद्धि त्वन्देव प्रयताहवीꣳषि ॥ ६६

अर्थ—हे (कव्यवाहन) विद्वन् तुम सुगंधियुक्त अन्नादिकों को प्रथम अपने पिता पितामह आदिकों को भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करो ॥

येचेहपितरोयेचनेहयांश्चविद्मयाꣳउचनप्रविद्म।
त्वं वेत्थ यतिते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतञ्जुषस्व ॥ ६७

अर्थ—हे जातवेद: विद्वन्, यहां जातवेद: शब्द इस अभिप्राय से विद्वान् में वर्तता है कि—जातं वेदो यस्मिन् स जातवेद: अर्थात् उत्पन्न हुआ हो ज्ञान जिसको उसका नाम जातवेद है। हे जातवेद: तुम इस यज्ञ में पितरों का सेवन करो, जो पितर यहां विद्यमान हैं और जो यहां नहीं जिनको तुम जानते हो और जिनको नहीं जानते उनके लिये तुम पुण्य जनक यज्ञ करो।

इदम् पितृभ्यो नमो अस्त्वद्यये पूर्वासो यउ परा सईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ताये वानूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥ ६८

अर्थ—यह अन्न जनकादि पितरों के लिये हो, (ये पूर्वास:) नाम वृद्ध हैं उपरास: नाम संसार से उपरत हैं उन सबको यह अन्न प्राप्त हो। और जो रजोगुण प्रधान हैं उनको यह अन्न प्राप्त हो और जो केवल सत्व प्रधान हैं उनको यह अन्न प्राप्त हो ॥

अधायथान:पितर:परास: प्रत्नासोऽअग्न ऋत माशुषाणा:। शुचीदयन्दीधितिमुक्थशास:क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥ ६९

अर्थ—हे विद्वन् जो प्राचीन पितर वैदिक कर्मों में निपुण हैं उनका तू सेवन कर ॥

उशन्तस्त्वानिधी मह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशतआवह पितृन्हविषेअत्तवे ॥ ७० ॥

अर्थ—हे विद्वन् तुम्हारा कल्याण चाहनेवाले जो तुम्हारे पितर हैं उनको भोजनादि कराने के लिये तुम बुलाओ।

आशय उक्त मंत्रों का यह है कि जनकादि पितरों की तथा ज्ञान विज्ञान विद्याओं में निपुण पितरों की सेवा करना सन्तानों का मुख्यधर्म है, इस धर्म का उक्त मंत्रों में प्रतिपादन किया गया है, हमने उक्त मंत्रों का केवल आशय प्रकट कर दिया है अक्षरार्थ स्वामीजी के भाष्य में किया हुआ है इसलिये उसकी यहां आवश्यकता नथी।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र उक्त मंत्रों से मृतक श्राद्ध निकालतेहैं, पर मंत्रों के आशय से उनकी प्रतिज्ञा सर्वथा उलटी प्रतीत होती है। देखो मं० ६६ में उन्होंने यह अर्थ किये हैं कि हे अग्नि देवता तुमभी हवियों को भक्षण करो। यहां पृष्टव्य यह है कि क्या उन के मतमें अग्न्यधिष्ठातृ देवता भोजनादि किया करता है? यदि यहां केवल भौतिकाग्नि में भक्षण कर्तृत्व है तो फिर उससे भिन्न देवता मानने की क्या आवश्यक्ता है। वस्तुतस्तु सनातनाचार्य्यों के मतमें ऐसे वाक्य उपचार से आते हैं जैसाकि "तेज ऐक्षत" इत्यादि वाक्यों में स्वामी शङ्कराचार्य्यादिकों ने उपचार से व्यवस्था की है फिरकव्यवाहन भौतिकाग्नि इनके मतमें मृतपितरों को कैसेबुला सक्ता है। मं० ६९ में "येचेहपितरः" इस वाक्य के यह अर्थ किये हैं कि "जो पितर इस लोक में देहधारण करके वर्तमान हैं" द० ति० भा० पृ० ११७ यहां तो जीतों का ही श्राद्ध मानलिया। फिर इस पर टीका यह करते हैं कि "यहां इह शब्द से जीते पितरों का ग्रहण नहीं होता, किन्तु जिन्होंने मरकर कर्म वश इस लोक में

देह धारण किया है उनका ग्रहण है" द० ति० भा० पृ० ११८ इस टीका ने मृतक श्राद्धवादी का मत और मर्दन कर दिया क्योंकि हमभी तो उन्हीं को जीते कहते हैं जिन्होंने कर्मवश से देह धारण किया है। यहां तो पितृलोक की दौड़ दूर करके जीते पितरों के श्राद्ध परही आजमे, । सच है वल वह है जो वलात्कार से मनवाए, इतनाही नहीं देखो मंत्र ६८ में फिर यह अर्थ करते हैं कि "त्रिक्षु प्रजाओं अर्थात् मनुष्यलोक में देह धारण करके वर्तमान हैं"। द० ति०भा०पृ० ११८ अब वतलाओ यहां तो फिर मर्त्यलोक के देह धारियों को पितर मान लिया, तुम्हारे पितृलोक के पितरों में क्या न्यूनता थी जो यहां मर्त्यलोक के देहधारी पितर मानने से बिना निर्बाह न हुआ। इस मंत्र में तो ईश्वर को प्राप्त पितरों के लिये अर्थात् कैवल्य मुक्ति वालों के लिये भी मिश्रजीने अन्नदान माना है, क्या कैवल्य मुक्ति वाले भी अन्न खाते हैं ? अथवा श्राद्ध के लालच में आकर उन विचारों की भी पुनरावृत्ति करनी है ? आपतो "अनावृत्तिशब्दात्"के अर्थों में स्वामी शं०चा०के शिष्य हैं फिर ब्रह्मलोक को प्राप्त लोगों को बुलाकर बन्धन में क्यों डालते हैं॥

हमने तो आजतक यही सुना था कि पौराणिक लोग यमलोक के पितरों को बुलाया करते हैं, ईश्वर लोक के पितरों को बुलाने की प्रथा तो आपके आधुनिक वैदिकभाव से भरे हुए तिमिर-भास्कर में ही पाई गई। और जोः—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः । यमंह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अरंकृतः ॥ अथर्व० १८।२।१

इस मंत्र में यह माना है कि यज्ञ का फल यम को प्राप्त होता है और उसका दूत अग्नि यम के पास हवि ले जाता है, यहां तो श्राद्ध की फ़िलासफ़ी को मण्डत करते हुए वैदिकभाव का भरोसा छोड़कर सारा यज्ञ का फल ही यम लोक में पहुंचादिया, न यह सोचा कि विचारे और देवताओं का हक़ मारा जायगा, न यह सोचा कि यम के लिये सोम करने से सनातन सोम की सब हिंसा विचारे यम के सिरपर आयेगी, न वह सोचा कि:—

मुग्धादेवाउतशुनायजन्तोतगोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
यइमंयज्ञंमनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥
अथर्व० ७।१।५

इस मंत्र में ज्ञान यज्ञ का वर्णन किया है फिर हम यज्ञ मात्र को यम में ही क्यों लगायें? अधिक क्या॥

श्रेयान् द्रव्य मयात्यज्ञात् ज्ञान यज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माऽखिलंपार्थ ज्ञानेपरि समाप्यते॥गी-४।३३

इत्यादि गीता के श्लोकों को भी भूलगए, जिनमें सबसे बड़ा ज्ञान यज्ञ ही माना है। कहां तक लिखें यहां तो पण्डितसाहब आग्रह से ग्रस्त होकर अपने सनातन पथ को यहां तक भूलगए हैं कि यम लोक के यज्ञ बिना पण्डितजीको और कुछ सुझा ही नहीं, देखो इसी मंत्र का सायण:—

"यद्यपि सोमो हविश्च उभे सर्वार्थे क्रियेते तथा यज्ञोपि सर्वदेवार्थः, तथापि यमस्य सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन वा सर्वेषां

पितृलोकप्रापकत्वेनवाप्राधान्याद् यमायैव सोमादिकं क्रियत इत्युपचर्यते"

अर्थ–यद्यपि सोम और हविः यह सबके लिये किये जाते हैं, तथा यज्ञ भी सब देवताओं के लिये किया जाता है, तथापि यम सबका संहार करने वाला है, सबको पितृलोक में प्राप्त कराने वाला है, इस अभिप्राय से यम को अधिक मानकर यम के लिये ही यह यज्ञ का फल है यह उपचार से कहा गया है ॥

यहां उपचार का ध्यान भी पण्डितजीको नहीं रहा। मंत्रार्थ यह हैं (यमाय) नाम परमेश्वर के लिये (सोमः) सोम यज्ञ किया जाता है अर्थात् सोमलता विशिष्ट हवि वाला यज्ञ किया जाता है, और परमेश्वर के ही लिये हवि दिया जाता है, अग्निरूपी दूत से अलंकृत यह यज्ञ परमेश्वर को प्राप्त होता है, यह मंत्रार्थ है। इसी अभिप्राय से इस मंत्र के अर्थ सायणाचार्य्यने 'सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन' परमात्मा के किये हैं, क्योंकि वही परमात्मा सर्व का संहार कर्त्ता हो सक्ता है, जैसाकि "अत्ताचराचरग्रहणात्" ब्र०सू० १।२।९ इस सूत्र में सबका संहार करने से उस परमात्मा का नाम अत्ता कहा है। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र इसमें यह लिखते हैं कि "इत्यादि मंत्रों से अग्नि का श्राद्ध में हविः ले जाना सिद्ध है" द०ति०भा० पृ० ११९ यहां श्राद्ध पण्डितसाहब ने अपनी ओर से जोड़लिया, मंत्र में कहीं श्राद्ध का नाम नहीं, यदि यह कहा जाय कि उक्त मंत्र में अग्नि को दूत लिखा है तो जब अग्नि दूत है तो जहां भेजेंगे वहां ही हवी लेजावेगा, फिर मृत पितरों के पास क्यों नहीं ले

जावेगा ? इसका उत्तर यह है कि दूत शब्द यहां अग्नि में उपचार से आया है, जिस प्रकार दूत वस्तुओं को लेजाता है इस प्रकार यह भौतिकाग्नि यज्ञमें हवन किये हुए पदार्थों को विश्लेष करके नभोमण्डल में पहुंचा देता है इस अभिप्राय से अग्नि को दूत कहागया है और इसी अभिप्राय से "अग्निदूतंवृणीमहे" इस ऋग्वेद के मंत्रमें अग्नि को दूत कहा है ।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि अग्नि देवता पितृलोक में ही पदार्थों को पहुंचाता है इस लोक में नहीं तो देखो :—

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्च रन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्रधमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८ । २ । २८

इस मंत्र में यह लिखा है कि (ये) जो (दस्यवः) दस्युलोग (पितृषु) पितरों में (प्रविष्टा) प्रवेश कर गए हैं (ज्ञातिमुखा) पितरों जैसे आकार के हैं (आहुतादः) नाम हवन कियेहुए लौकिक अन्न को भक्षण करते हैं (चरन्ति) नाम पितरों के मध्यमें वर्तमान हैं, ऐसे राक्षस (परापुरो) नैमित्तिक हवन कर्त्ताओं को और (निपुरः) नित्य हवन कर्त्ताओं को नाश करते हैं, ऐसे मायावी राक्षसों को अग्नि इस यज्ञ से (प्रधमाति) नाम प्रधमतु अर्थात यज्ञ से निकाल दे । यहां तो अग्नि दूतके पदार्थों का यहांही दस्युलोग भक्षण करते हैं यह वेद भगवान ने लिखा है । फिर अग्नि दूत आपका क्या बनायेगा ? इतनाही नहीं यहां तो पितृ शब्द के अर्थ को भी वेद भगवान ने साफ करदिया है, यहां विचारे पितृलोक में

पितरों को मानने वाले क्या करेंगे? क्योंकि जब पितरों जैसी मनुष्याकृति के दस्युलोगों का पितरों में मिलजाना लिखा है तो पितर भी जीवितही पाएगए, यदि मृतक श्राद्धवादियों के मृतपितरों के आशय से यह मंत्र होता तो पितरों में दस्यु लोगों को कदापि न मिलाता, यदि मृतकपितरों से आशय होता तो मंत्र मिलाता ही कैसे, क्योंकि पौराणिक पितर तो पितृयाणमार्ग से पितर लोकमें पहुंचे हैं वहां विचारे दस्युओं की क्या गति, हां यदि पितृयाण और देवयान द्वारा दस्युओं को क्रम मुक्ति का अधिकारी पौराणिक धर्म की नई फ़िलासफ़ी बनादे तो और बात।

ननु तुम्हारे मतमें भी यह मंत्र दुर्घट है क्योंकि यहां अग्नि से यह प्रार्थना कीगई है कि तुम पितरों से दस्युओं को भिन्न करो जड़ अग्नि के आगे ऐसी प्रार्थना कैसे?

उत्तर—हमारे मतमें अग्निशब्द यहां परमेश्वर का वाचक है। "अङ्गति गच्छति सर्वं व्याप्नोतित्यग्निः" अर्थ—जो सबमें व्यापक होकर ठहरता है उसका नाम अग्नि है, अगि गत्यर्थकधातु से यह शब्द सिद्ध होता है, "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः" ब्र० सू० १।२।२८ इत्यादि सूत्र और कई एक वेद मंत्रों से हम पहले भी अग्नि शब्द को ईश्वर वाचक सिद्ध कर आए हैं इस लिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

ननु—कहीं तुम अग्निशब्द के अर्थ ईश्वर के करलेते हो कहीं भौतिकाग्नि के करलेते हो, एवं मनमाने अर्थ करने से सत्यार्थ सिद्धि कैसे?

उत्तर—इसमें हमारा क्या दोष है जो शब्द अनेकार्थ वाची

होता है वह प्रकरणानुसार ही अर्थ देता है जैसाकि पौराणिक लोगों के मतमें देवासुर संग्राम में देवशब्द इन्द्रादि देवों के अर्थ देता है और यजुर्वेद ३। ४० में देवशब्द इन्द्रियों के अर्थ देता है। "एषोहिदेव: प्रदिशोऽनुसर्व:" इस मंत्रमें देवशब्द ईश्वर के अर्थ देता है। और "यत्पुरुषेणहविषायज्ञंदेवा अतन्वत" अथर्व० ७। १। ४ यहां देव विद्वानों के अर्थ देता है "देवा दीव्यन्तीतिदेवायजमाना:" इस मंत्र के भाष्य में सायणाचार्य्य यह लिखते हैं कि यजमानों को भी देव कहते हैं। यहां कौन कह सकता है कि उक्त स्थलोंमें देवके एकही अर्थ लेने से संगति ठीक होसकती है, एवं संगति देखकर अग्निशब्द के भी ईश्वरादि अर्थों में कोई दोष नहीं।

अब हम श्राद्ध विषयक पं० ज्वालाप्रसादमिश्र की समीक्षा समाप्त करते हैं, क्योंकि उक्त पण्डित साहब ने स्वमत मार्जन करते हुए यहांतक लिखदिया कि अग्नि दूतही यज्ञसे यमके प्रति हवि लेजाता है, इस लेखसे यह स्पष्ट सिद्ध करदिया कि श्राद्धान्न भोजन कर्त्ताओं से दूत का काम नहीं हो सक्ता। इनकी इस दुर्बलता के हेतु इनका विचार छोड़कर अब हम व्यवसायात्मकमति पं० भीमसेन के श्राद्ध विषयक लेखों की समीक्षा करते हैं॥

व्यवसायात्मक मति का विशेषण हमने पं० जी को इस अभिप्राय से दिया है कि:—

व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेहकुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ गी० २। ४१

अर्थ—हे कुरुनन्दन निश्चयात्मिक बुद्धि एकही है बहुत शाखा-वाली अनन्त बुद्धियें अनिश्चयात्मक लोगों की होती है। इस पर पं० भीमसेनजी यह लिखते हैं कि "दृढ़ प्रतिज्ञावाले धर्मात्मा लोगों की (इह) इसलोक में (व्यवसायात्मक) निश्चयात्मक बुद्धि (एका) एकही होती है, वे लोग अपने धर्मयुक्त दृढ़ निश्चित विचार को कभी नहीं लौटते" भी० से० गी० भा० पृ० ९८ ॥

समीक्षा—हमको अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि उनके धर्मयुक्त दृढ़ निश्चित विचार क्या हैं, जिनको वह नहीं लौटते ? उक्त पं० जीने गीता का भाष्य करते समय "पतन्तिपितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक क्रिया:" गीता १।४२ इसके अर्थ यह किये हैं कि (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) अन्न जल देने का जिनका व्यवहार छूटगया है ऐसे (पितरः) रक्षक वा पितृपितामहादि लोग (पतन्ति) दुःख विशेष नरक में गिरते हैं। इस श्लोक में पिण्ड शब्द आया है सो मनुस्मृति के अ० ११ में पिण्ड नाम ग्रास का है।

अब इस विचार को यों बदला है कि यहां से पिण्ड देने से पितृ लोक में पहुंच जाते हैं, (१) उक्त श्लोक में पितर के अर्थ रक्षक के किये थे और पिता पितामहादि जीवित पितरों के किये थे "अब यमलोक में रहने वाले मृतक पितरों के करते हैं। और यहांतक दृढ़ प्रतिज्ञाकीजातीहै कि स्थूलदेहधारी जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है" ब्रा० स० खं० १।३ पृ९२।

(२) पहले जिन श्राद्ध विषयक मनु के श्लोकों को

प्रक्षिप्त बतलाते थे अब उनको अलौकिक पितरलोक के भण्डार मानते हैं। (३) पहिले यम को एक आचार्य्य मानते थे अब यम प्रेतलोक का राजा मानते हैं। (४) पहिले कठकी तृतीया वल्ली में जो श्राद्ध शब्द आया है उसको श्रद्धापूर्वक सत्कार करना मानते थे। अब मुर्दों के निमित्त जो यहां से भोजन पहुँचाने का प्रकार है उसको श्राद्ध मानते हैं। (५) पहले पितृयाण और देवयान को कर्म प्रधान और ज्ञान प्रधान दो मार्ग मानते थे अब पितर और देवताओं के जाने के मार्ग विशेष मानते हैं। इत्यादि अनेक धर्म युक्त दृढ़ निश्चित विचारों को लौटकर आप व्यवसायात्मक मति कभी नहीं कहला सक्ते, पण्डित साहब पहले विचारों को परिवर्तन करने का कारण यह बतलाते हैं "मैं अन्यों के तुल्य पहिले भी आर्य्य समाजी नहीं था" ब्रा० स० १-२ पृ० ७३ समीक्षा—यदि आप अन्यों के समान पहले आर्य्यसमाजी न थे तो आर्य्यसिद्धान्त का पोथा, ईश, केनादि आठ उपनिषद्, मनुभाष्य, गीता भाष्यादि पुस्तक कौन आकर लिख गया? अथवा उस समय आपका अधिष्ठातृ देवता कोई और था? वह सनातनधर्म की कौन बात है जो आपने अपने पुस्तकों में खण्डन नहीं की। फिर आप कैसे कहते हैं कि मैं अन्य लोगों के तुल्य पहले भी आर्य्यसमाजी नहीं था, यदि आपका तात्पर्य्य यह है कि मेरे दिल में आर्य्यसमाज न था किन्हीं कारणों से लिखता था तो इसका क्या प्रमाण है कि अब आप हृदय से सनातन धर्मी हैं। और जो आप यह लिखते हैं कि

"मैं आर्य्यसमाज को वेद शास्त्रानुकूल आस्तिक बनाना चाहता था सो जब इसका सुधारना असाध्य देखा तो छोड़ दिया"। आ० १-२ पृ० ७३

समीक्षा-(१) आपको आ० स० के सुधार की धुन तब से समझें कि जब आप अपने ग्रंथों पर यह लिखा करते थे कि श्री दयानन्द सरस्वती स्वामिनां शिष्येण भीमसेन शर्म्मणा (२) अथवा जब गीतादि भाष्यों पर स्वामी जी का नाम छोड़कर केवल अपना ही नाम लिखने लगे तब से सुधार की धुन समझें ? (३) जब पशु बध यज्ञ की आपको धुन लगी तब से सुधार की धुन समझें ? (४) सन् १८९० के आ० सि० भा० १० अं० ७।८।९ में आपने अपनी यह सफाई दी कि यज्ञ विषय में मेरा विचार साध्य कोटी में है स्वामीजीके और सिद्धान्तों को मैं ठीक मानता हूं तब से सुधार की धुन समझें ? (५) अथवा जब आपने तटस्थ बनकर यह लिखा कि "इतने काल तक वे लोग मेरे शरीर को भी विचार कोटी में ही समझें" तब से सुधार की धुन समझें ? (६) वा जब स्वामीजी आपको स्वप्नमें आकर मिले और सब आर्य्यसमाजियों में सबसे बड़ा पण्डित होने का सार्टिफिकेट आपको दे गए" तब से सुधार की धुन समझें "अथवा जब आपने यह लिखा कि पौराणिक मूर्तिपूजा गङ्गास्नान से मुक्ति, तीर्थावतारादि वेद बाह्य अंशों को मैं वैदिक नहीं मानता वा मूर्तिपूजादि वैदिक धर्म नहीं, इस कारण उसके मान्य होने का मैं अनु-

मोदन नहीं करता" आ० सि० भा० १० अं० ७ तब से सुधार की धुन समझें (८) अथवा जब आपने यह लिखा है कि "मैं स्वामीजीका काम करता हूं इसलिये स्वामी जीका शिष्य हूं" तबसे सुधारकी धुन समझें। (९) वा आर्य्यसमाज के हितका विचार करते हुए देहली महामण्डल के महोत्सवपर आ० स० ने आपको ता० १२।८।९० को तार देकर बुलाया, उस स्थान में आपने अपनी सब भूलें स्वीकार करके स्वपत्र में प्रकाशित करदीं तबसे सुधार की धुन समझें? अथवा

(१०) यदिमामप्रतीकारमशस्त्रंशस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रारणेहन्युस्तन्मेक्षेमतरंभवेत् ॥ गी० १।४५

यह श्लोक लिखकर कहा कि जैसे अर्जुन ने कहा था कि मुझे खाली हाथ आगे से हाथ न उठाते हुए दुर्योधनादि मुझे मार डालें तो कल्याण है पर मैं आगे से हाथ न उठाउंगा "इसी प्रकार मैं भी कहता हूं कि आर्य्यसमाजस्थ लोग मुझको अत्यन्त तंग करें, सीमा से भी अधिक दुःख पहुचावें तो भी मैं आर्य्यसमाज का प्रति पक्षी जीवन भर न बनुंगा और प्रतिपक्षियों को सहायता भी कदापि नहीं दूंगा किन्तु आवश्यता होने पर आ० स० को ही सहायता दूंगा, मैं प्रथम से आ० स० में रहकर सब प्रकार के कार्य्य वा सहायता, आर्य्यसमाज से मुझको मिली और मुझ से भी समाज को सहायता मिली, और अब यदि मैं

स्वयं प्रति पक्षी बनूं वा प्रतिपक्षियों को सहायता दूं तो कृतघ्नता दोष मुझको होगा। अब रहा यज्ञादि विषय का विचार सो सब आर्य्य लोगों को जैसा अच्छा लगे विचार करें और मानें, मैं इस विषय में प्रतिपक्ष के प्रकार से आगे कुछ नहीं लिखुंगा। इस लिये आप अवश्य ही पिछली धृष्टता को क्षमा कीजिये" आ॰ सि॰ भा॰ १० सं १२

आपका भीमसेन शर्म्मा सरस्वती प्रेस इटावा॥

इस लेखमें पूर्वोक्त दृढ़ प्रतिज्ञाओंसे अपनी धृष्टताकी क्षमा मांगी, तबसे सुधार की धुन समझें? (११) अथवा जब आपने अपनी सब पूर्वोक्त प्रतिज्ञाओं पर पानी फेरकर पण्डित गोपीनाथ के साथ सनातन पक्ष में मिलकर दिग्विजय के लिये चढ़ाई की, तबसे सुधार की धुन समझें? (१२) इतने में भी सन्तुष्ट न रहकर जब आपका सौदा सर्वथा ही आर्य्यसमाज में फीका पड़ गया "फिर अपने ही लेखों को खण्डन करने के अभिप्राय से लेखनी उठाई" तब से आ॰ स॰ के सुधार की धुन समझें? कहां तक लिखें आपके विचारों का सार और इस भ्रम का पार पाना दुर्घट है॥

इसके पार पाने में दुर्घट घट्ट घटनापटीयसी बुद्धि आप ही की रहे, हम यहां इतना अवश्य दर्शा देते हैं कि "सूर्य्याचन्द्रमसौधाताययापूर्वमकल्पयत्" इत्यारभ्य प्रलयान्त यह उदाहरण केवल आपके विचार कोटी के शरीर का ही मिलता है जिसने गीता,

उपनिषद्, धर्मशास्त्रादि अनेक शास्त्रों का भाष्य करके पश्चिमा वस्था में यह पश्चात्ताप किया हो कि यह मैंने सब मिथ्या लिखे, और अकस्मात् उन मन्तव्यों का ग्रहण कर लिया हो कि जिनको वह यावदायुषं खण्डन करता चला आया हो। और फिर अपने आपको शास्त्रों की मीमांस करने वाला, धर्म की मर्य्यादा बनाने वाला, भूलों को राह बतलाने वाला कहे॥

आप अपने श्रीमुख से कुछ ही कहें लोग तो आपको "नायं लोकोऽस्तिनपरो नचसुखंसंशयात्मनः" इस गीता के श्लोक से ही स्मरण करेंगे। इतना ही नहीं प्रत्युत "यदि मैं स्वयं प्रति पक्षी बनूं वा प्रतिपक्षियों को सहायता दूं तो कृतघ्नता दोष मुझको होगा" आ० सि० १०।१२ इस प्रतिज्ञा को भंग करके बाल लालनार्थ वक्ष्यमाण उत्तर देने से आपको अपूर्व पुरुष ही मानेंगे। वह उत्तर यह है आ० म० १।४ शङ्का समाधान में लिखा है॥

शङ्का—अनुमान तीन वर्ष हुए तब तुमने आर्य्यसिद्धान्त के टाटिल में छपाया था कि हमको चाहें आर्य्यसमाजी लोग कैसा ही बुरा कहें वा लिखें पर हम कदापि उनके साथ द्वेष नहीं करेंगे हम सदा उनका भला ही चाहेंगे इत्यादि। परन्तु अब तुम बड़े समारोह से इन लोगों का खण्डन करते हो सो क्या तुमने अपनी लिखी प्रतिज्ञा से विरुद्ध नहीं किया॥

समाधान—हमारा यह विचार जैसा पूर्व था वैसा ही अब है। हमने अब तक भी ब० आ० स० के साथ द्वेष

वा विरोध नहीं किया न करेंगे। और हमने यह नहीं लिखा वा छापा था कि हमको वेद शास्त्र से विरुद्ध मन्तव्य व० आ० स० का वा स्वामीदयानन्दजी का ज्ञात होगा तो हम उसको भी प्रकाशित न करेंगे॥

समीक्षा—यह उत्तर बाल लालनार्थ नहीं तो और क्या है पण्डित जीने अपने समान सब लोगो को संशय सागर की लहर में निमग्न देखकर यह समझा है कि कुछ न कुछ लिख दो न लिखने से तो अच्छा ही है और नहीं तो द्वेषाग्नि के धूम से दूषित नयन वाले आग्रह मात्र के सनातनी तो इसको समर्थन करेंगे ही, पर यह नहीं सोचा कि हम अपनी प्रतिज्ञा समर्थन में यह क्या लिखते हैं॥

प्रतिज्ञा यह थी कि "स्वयं प्रति पक्षी न बनेंगे प्रतिपक्षियों को सहायता न देंगे, यदि देंगे तो कृतघ्नता का दोष लगेगा," अब उत्तर यह है कि हम शास्त्र की मीमांसा करते हैं आर्य्यसमाज वा स्वामीदयानन्द सरस्वती जीके साथ कोई विरोध नहीं। "पौराणिक मूर्त्तिपूजा, गंगास्नान से मुक्ति, तीर्थावतारादि वेद बाह्य अंशो को मैं वैदिक नहीं मानता, वा मूर्त्तिपूजा भी वैदिक धर्म नहीं, इस कारण उसके मान्य होने का अनुमोदन मैं नहीं करता। इत्यादि कारण तो पौराणिक मेरे अनुकूल नहीं। आ० सि० भा० १० अं० ७।८।९ क्यों पण्डित साहब अब तो आपके लेखों में उक्त बातों का भी अनुमोदन होने लगा और यदि नहीं तो क्या कारण है कि अब आपकी सारी मीमांसा आर्य्यसमाज के प्रतिपक्ष में क्यों होती

है ? पौराणिक पक्ष के प्रति पक्ष में क्यों नहीं ? आपकी प्रतिज्ञाओं में तो यह भी है कि इससे आगे मैं आ० स० के प्रति पक्ष में कुछ नहीं लिखुंगा, क्या अब भी आप कुछ नहीं लिखते, ? और यदि आपका दोषदर्शी होकर ही भलाई करने का स्वभाव है तो क्या ऐसा प्रेम सनातनधर्मियों से भी पालते हैं ? सचतो यह है आप अपने सौदे को सौ वर्ष तक छिपाएं वा किसी से विगाड़ें और किसी से बनाएं, अपने आपको शास्त्रज्ञ कहकर सौ प्रकार के गीत गाएं, पर अब आपकी महिमा किसी से छिपी नहीं ॥

हां अब आपकी मीमांसा का सौदा सनातनियों से बनगया है इस लिये अब उनके भले बुरे की मीमांसा से आपका क्या काम । अब तो आप अपने पूर्व लेखों पर चौका फेरने से ही चतुर कहलायंगे, आर्य्यसमाज को ब० आ० स० बतायंगे, और आर्य्यसमाज छोड़ने की एक नई भूमिका वनायंगे। इत्यादि भीमसेनी विचारों के सारासार की अधिक समीक्षा करने से ग्रंथ ग्रंथसाहब के समान बृहत् होता है अतएव इस समीक्षा की समाप्ति करके हम पं० भीमसेन के श्राद्ध विषयक आधुनिक विचारों की समीक्षा करते हैं इस विषय में आप अभिमान पूर्वक यह लिखते हैं कि "अब हम मंत्र संहितादि के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करेंगे कि श्राद्ध जीवितों का नहीं किन्तु मृतकोंकाहोताहै" ब्रा०स०१-३पृ० ९३ और यहां यह भी लिखा है कि "जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है" ब्रा० स० १-२पृ० ९२ पहलेआप "देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्" तै० शिक्षा

वल्ली में देव के अर्थ अध्यापक और पितृ के अर्थ मनन शील ज्ञानी के कर आए हैं फिर कैसे कहते हैं कि जीवित मनुष्यों का पितर मानना सर्वथा युक्ति प्रमाण शून्य है। क्या उस समय के युक्ति और प्रमाण अब पुराने हो गए॥

मृतक श्राद्ध में संहिता का आप यह मंत्र प्रमाण देते हैं:—

उदन्वतीद्यौरवमापीलुमतीतिमध्यमा। तृतीयाह प्रद्यौरितियस्यांपितरआसते॥ अ० १८।२।४८

इसके यह अर्थ करते हैं कि तीन प्रकार का द्यौ लोक है एक उदन्वती द्यौ है जिसमें यह नीलापन दीखता है। दूसरी मध्यमा उस नीलेपन से ऊपर पीलुमती द्यौ है। तीसरा भाग जो सबसे ऊपर है वह प्रद्यौ कहलाता है जिस में पितर लोग रहते हैं, इन्हीं पितरों का श्राद्ध होता है। स्थूल देहधारी पितर पृथिवी में रह सक्ते हैं तृतीयाकाश में नहीं इससे जीवितों का पितर होना और उनकाश्राद्ध मानना दोनों अंश खण्डित हो जाते हैं ब्रा स० १।३पृ९४

समीक्षा—पण्डित साहब की प्रतिज्ञा यह है कि जिनका वर्णन यहां तृतीयाकाश में कियागया है वही पितर हैं, उन्हीं का श्राद्ध होता है। पर पण्डित साहब को इतनी प्रतिभा नहीं कि आगे के मंत्र ४७ में यह लिखा है कि "अधिक्षयन्तिपृथिवीमुत" जो पितर पृथिवी में रहते हैं। अब बतलाएं कि यदि इनके अशरीरी पितर देवलोक मेंही रहते थे तो वेदने पृथिवी में रहने वालों को पितर क्यों कहा?

और पुष्ट प्रमाण यह है कि अथर्व०१८।२।२९ मंत्रमें हमने पितरों में दस्युओंका मिलजाना पीछे दिखलाया है उससे स्पष्ट सिद्ध होगया कि पितर जीवित हैं जिनमें उनकी आकृति के दस्यु मिलजाते हैं।

और जो प० भीमसेनजी जीवितमृत की परिभाषा में यह लेख लिखते हैं "कि जो मृत हैं वे भी जीवित और जो जीवित हैं वे भी मृत हैं"। ब्रा०स० १-३ पृ० ९४ इसमें तो पण्डित साहब ने अपूर्व फ़िलासफ़ी छांटी है यदि ऐसाही है तो जीवितों के श्राद्ध से रोष क्यों? फिर आगे जाकर यह लिखते हैं कि "आत्मावाचित्त्वञ्च" न मरता है न जन्म लेता है किन्तु भूतात्मा मरता जन्मता है। इसकी पुष्टिमें यह प्रमाण देते हैं कि "अधा मृता पितृषुसंभवन्ति" अथर्व० १८।४।४८ और मरे हुए प्राणी (भूतात्मा) पित्रयोनि में उत्पन्न हों॥ ब्रा०स० १-३-९४॥

समीक्षा—उक्त वेद वाक्य के तो यह अर्थ हैं कि जो लोग मृत होते हैं वह पितृनाम ज्ञानी पुरुषों की योनि में जन्मलें, पितृ शब्द का यहां कोई नया अर्थ नहीं, तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में इस अर्थको प० साहब मान आए हैं अब रही यह बात कि क्षेत्रज्ञ का जन्म प० साहब नहीं मानते और भूतात्मा का मानते हैं, यही भाव आपने इस वेद वाक्य से निकाला है, भला वेद वाक्य में क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा कहां हैं? लो वेद को जानेदो इसी बात को बतलाओ कि क्षेत्रज्ञ तो आप जीवात्मा को मानते हैं, गीता० १३।१ में आप इसके अर्थ जीवात्मा के कर आए हैं फिर उस क्षेत्रज्ञ जीवात्मा का जन्म क्यों नहीं होता? यदि आपका

आशय यह है कि भूतात्मा लिंग शरीर विशिष्ट को कहते हैं और क्षेत्रज्ञ शुद्ध चेतन को कहते हैं तो बतलाइये "तदन्तर प्रतिपत्तौरंहतिसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" ब्र० सू० ३।१।१ में जीवात्मा का जन्म क्यों लिखा है, क्या अब आप व्यासजी से भी बढ़गए जो क्षेत्रज्ञ के जन्मका निषेध करते हैं अथवा सनातनी बनतेही शङ्करमत की हवा लगगई जिससे जीवात्मा के जन्म मरण को भी जलांज्जली देबैठे, पर क्या अब आप अपने लेखों को मिटा सक्ते हैं, और उनको फेर फार के शङ्करमत से मिला सक्ते हैं कदापि नहीं। पर यहां फेर फार होही क्या सक्ती है स्वामी शङ्कराचार्य्य तो उसीको जीव मानते हैं जो लिङ्ग शरीर विशिष्ट है फिर आपने क्षेत्रज्ञ के जन्मका निषेध कहां से निकाल लिया, मालूम होता है कि जैसे २ आप पश्चिमावस्था में पहुंचते जाते हैं वैसेही पूर्व २ बातों को भूलते चले जाते हैं इसलिये आपकी फ़िलासफ़ी बड़ी टेढ़ी होती चली जाती है क्यों पं० साहब भूतात्मा के अर्थ तो बतलाइये कि भुतात्मा शब्द के क्या अर्थ हैं भूतानां आत्मा–भूतात्मा अर्थात् भूत नाम प्राणियों का आत्मा? अथवा भूत पृथिव्यादि तत्व उनका आत्मा? इन विकल्पों में भूतात्मा के अर्थ परमात्मा वा जीवात्मा के ही होते हैं, फिर यह फ़िलासफ़ी आपने कहांसे निकाली कि जीवात्मा का जन्म नहीं होता भूतात्मा का होता है। आगे आप लिखते हैं कि मैत्रेयी उपनिषद् में इसका अच्छे प्रकार से वर्णन है मालूम होता है कि आपने मैत्रेयी उपनिषद् का पाठ किया है वरन ऐसा भूतात्मा कहांसे निकल आता कि जो मरता जन्मता है और क्षेत्रज्ञ नहीं, अस्तु आप लिखते हैं कि

हम उस भूतात्मा का श्राद्ध करते हैं। तो अब बतलाओ कि उस का तो आप जन्म मरण मानते हैं जन्म समय में जन्मा और मृत्यु काल में मरजायगा फिर श्राद्ध किसको पहुंचेगा? अधिक क्या आपके क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा में भेद करने से भान यह होता है कि आप दर्शनशास्त्र को कभी देखते ही नहीं, इसलिये मनमानी फ़िलासफ़ी घड़लेते हैं जैसाकि यह लिखा है "कि इस कुतर्क को पहले से ही निर्मूल काट देने के लिये हम अपने साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा का स्पष्ट व्याख्यान कर देते हैं" श्रा० स० १-३-२५

समीक्षा—इस लेख मे तो आपने भाषा का पाण्डित्य और तर्क का पाण्डित्य प्रकट कर दिया जो निर्मूल के लिये फिर काटना लिख दिया, अर्थात् भावाभाव प्रतियोगी रूप से अपना अर्थ ही बिगाड़ दिया और साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा लिखकर तो तर्क का तर्पण कर दिया। क्यों पण्डितजी साध्य प्रक्षस्थ प्रतिज्ञा के क्या अर्थ हैं! साध्य का जो पक्ष अर्थात् जिसमें साध्य रहता है उस पक्ष में रहने वाली प्रतिज्ञा? क्या प्रतिज्ञा भी साध्य के समान पक्ष में रहा करती है जो आपने साध्य पक्षस्थ प्रतिज्ञा लिखा? अधिकक्या इस समीक्षण से समय व्यर्थ जाता है यह तो हम प्रथम ही लिख आए हैं कि आप दर्शन शास्त्र का दर्शन नहीं किया करते, इस लिये आपके लेख पौराणिक दिव्य दृष्टि से देखने योग्य होते हैं जैसा कि आप यह लिखते हैं कि "आर्य्यसमाज का श्राद्ध ही मुर्दों का श्राद्ध है जो चारवाक मत से मिलता है और

हम लोग सूक्ष्म भूतात्मा चेतन मात्र का श्राद्ध मानते करते हैं” ब्रा० स० १।३।८५॥

समीक्षा–यदि आप चेतन मात्र का श्राद्ध करते हैं तो “येअग्निष्वात्तायेअनग्निष्वात्ता” यजु० १९।६० “येअग्नि दग्धा येअनग्निदग्धा” अथर्व० १८।२।३५ इत्यादि मंत्रों में अग्नि से दाह क्या उस चेतन मात्र का मानते हो? यह बात तो मोटी समझ वालों की समझ में भी आती है कि अग्निष्वात्तादि पितर आपके मत में स्वर्ग में रहते हैं, स्वधारूप अन्न का भोजन करते हैं फिर यह चेतन मात्र का श्राद्ध कैसे हुआ? यह हम पहले भी लिख आए हैं कि यदि अग्निष्वात्तादि शब्दों का लक्ष्यार्थ लेकर मृत जीवों का श्राद्ध सिद्ध करते हो तो जहां २ तात्पर्य्यानुपपत्ति हो वहां २ सभी जगह लक्षणा क्यों नहीं करते? अस्तु दर्शन शास्त्र के अभ्यास से विना लक्ष्यार्थ का विचार तो सूक्ष्म है इसको जाने दो पर यह बतलाओ कि:—

“येनिखाता येपरोप्ता येदग्धा येचोद्धिता” इत्यादि मंत्रों के जो ये अर्थ करते हो कि मरने पर जिनको खोदके गाढ़ दिया, जो बन वा जंगल में छोड़ दिये गए, जो अग्नि में जला दिये गए, ब्रा० स० १।३।९८ क्या यह भी चेतन मात्र थे? जिनको गाढ़ दिया गया, जला दिया गया, जंगल में फेंक दिया गया, यह तो स्थूल दर्शी की भी समझ में आता है कि इन पृथिवी में गाढ़े हुए और अग्नि में जलाए हुओं को ही आपका अग्नि देवता इकट्ठे करके लाता है और इन्हीं को श्राद्ध का भोजन खिलाता है, अब बतला

ओ कि मुर्दों का श्राद्ध यह हुआ या जिसको आ० स० बतलाता है वह हुआ। आप "अग्निष्वात्ता" शब्द पर बहुत बल देते हैं और अर्थ यह करते हैं कि अग्निनास्वादिता अग्निष्वाता,पर आपको यह मालूम नहीं कि इस अर्थ करने से पत्व नहीं होता, अस्तु। पर आपके चेतन मात्र का श्राद्ध तो इस अर्थ से भी सिद्ध नहीं होता, अब बतलाओ कि पाणिनीय व्याकरण से, संहिता से, तर्क से, किसका अर्थ विरुद्ध हुआ, और जो आप बार २ शतपथ की शरण लेते हैं क्या आप भूल गए, आ०सि० भा०१० अं०१२ में आप यह लिखआए हैं कि स्वामीजी से पौराणिकों का सिद्धान्त इसलिये भिन्न है कि "पौराणिक लोग सब ब्राह्मणों, सब शाखाओं को और सब उपनिषदों वा आरण्यकादि अनेक वा अपरिमित पुस्तकों को वेद मानते हैं" इस लेख में आपने अपने मुख से ही सब ब्राह्मण ग्रंथों को वेदवत् मानना पौराणिक लोगों का मन्तव्य ठहराया है, फिर बार २ शतपथ को स्वतः प्रमाण बनाकर हमारे गले क्यों मढ़ते हो। और यदि शतपथ का कथन वेदानुकूल है तो सिद्ध करो ? यह वही शतपथ है जिसमें मत्स्यकी कथामें यह लिखा है कि मत्स्य ने प्रलयकाल में सब ब्राह्माण्ड को अपनी पीठपर उठाकर बचाया और मत्स्य के सींग में रस्सा डालकर हिमालय की चोटी वाले वृक्षके साथ जाबांधा। ऐसी गप्पों के श्रद्धालु तो आजकल आप ही बने हैं जो इन सबको सिद्ध करने के लिये कटिबद्ध हैं, अस्तु फिर एवंविध शतपथ के वेद विरुद्ध स्थलों का हम को उपालम्भ क्यों ?

आप लिखते हैं कि "शतपथ० २–३–४–२–३ में पितरों के लिये प्रत्येक महीने में एक बार और मनुष्यों के लिये प्रतिदिन सायं प्रातःकाल दोबार भोजन प्रजापतिने नियत किया है" श्रा०स०१–३–९९ इससे आपने हमारे जीवित श्राद्ध पक्षमें तो ये आपत्ति दी कि जीवित पितर ऐसे कब हो सकते हैं कि जो एक महीनेमें एकदिन ही खाकर रहें। और अपने पक्षका समाधान यह किया है कि पितृ योनिमें ऐसा सामर्थ्य होजाता है जो महीनेमें एक दिन खाने से महीने भर की तृप्ति रहे। यहां आप इतनी छोटी और थोड़ी तृप्ति सेही तृप्त क्यों होगए, आपके यहां तो १२ वर्ष की तृप्ति लिखी है उसके आगे यह एक महीने वाली शतपथ की तृप्ति क्या अस्तित्व रखती है, अस्तु ऐसे अर्थवादों के अर्थ से व्यर्थ ग्रंथ बढ़ता है, हम आपके संहिता विषयक बल का ही अधिक समीक्षण करते हैं।

संहिता विषय के जो आपने "ये अग्निष्वात्ता:" "ये अग्नि दग्धाः" "ये निखाताः" इत्यादि मंत्र प्रमाण दिये हैं इनके अर्थाभासों का खण्डन तो हम पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की समीक्षा में सम्यग् रीति से कर आए हैं, आपका प्रथम मंत्र "उदन्वती द्यौ" के तीन प्रकार के स्वर्गों का समाधान करना है।

स्वर्ग नरक वाची शब्द देश विशेष के वाचक नहीं किन्तु दशा विशेष के वाचक होते हैं। जैसा कि केनोपनिषद् के अन्त में "स्वर्गे लोके" के आपने यह अर्थ किये हैं (स्वर्गे) सुख स्वरूप (लोके) सूक्ष्म बुद्धि व ज्ञान दृष्टि से देखने जानने योग्य। इस स्थल में

आपने सुख की दशा विशेष का नाम ही स्वर्ग माना है और फिर कठोपनिषद् के १२वें श्लोक में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि जिसमें सुख विशेष हो ऐसे स्थान विशेष को भी स्वर्ग कह सक्ते हैं। जैसे कि "**जिसमें दुःख की सामग्री का प्रायः अभाव तथा सुख सामग्री की अधिकता हो ऐसे विशेष स्थान सब पृथिव्यादि में हो सक्ते हैं**" आ० स० १। ३। भा० १० यहां तो आपने सब स्थान कहके पितृ लोक को भी भीतर सम्मिलित कर दिया कि वह भी पृथिवी लोक में ही हो सक्ता है किसी अन्य स्थान में नहीं। फिर आपका पितृ लोक आकाश में कहां जावेगा? यदि आप यह कहें कि जिस समय हमने यह उपनिषद् भाष्य किया था उस समय हमको लोक लोकान्तर नहीं सूझते थे अब पौराणिक धर्म की दिव्य दृष्टि से सूझने लगे हैं तो इसका उत्तर—यह है कि शब्दार्थ करने का साधन जो व्याकरण है वहतो आपका उस समय भी यही था और अब भी वही है फिर यह आप कब कह सक्ते हैं कि लोकवाची शब्द दशा विशेष के अर्थ नहीं दे सक्ते, देखो अथर्व० १८। ३। २ में सायणाचार्य्य यह अर्थ करते हैं कि "**लोक्यतेऽनुभूयते जन्मान्तर कृत धर्माधर्मफलं सुखदुःखात्मकम् अस्मिन्निति लोकः**" अर्थ—लोक्यते नाम अनुभव किया जाता है और जन्मों से किया हुआ धर्माधर्म का फल जिसमें, उसको लोक कहते हैं। इस अर्थ में दशा विशेष के अर्थ लोक शब्द देता है, हमको आपके समान यह आग्रह नहीं कि स्थान विशेष के अर्थ लोक शब्द नहीं देता किन्तु यह अर्थ भी देता है, पर योग्यता के अनुसार अर्थों का निर्णय होता है जैसाकि

"सप्रजापतिरात्मनोवपामुत्खिदत्" इसके यह अर्थ नहीं हो सक्ते कि ब्रह्मा ने अपनी चर्वी को उखाड़ डाला किन्तु तात्पर्य्य विषयीभूत जो अन्यार्थ है उसी की प्रतीति यहां उचित है, सो यहां आपके पशुयज्ञ के स्वाध्यायी लोग तात्पर्य्य विषयीभूत पशु प्राशस्त्य लेते हैं अर्थात् ब्रह्मा ने हवन के लिये वपा नाम अपने मेद को उखाड़ डाला, इस अर्थवाद वाक्य में यह तात्पर्य्य है कि यज्ञ में पशु डालने की श्रेष्ठता है। अस्तु यह उदाहरण आपके मत का है विवक्षितांश यह है कि योग्यता के अभाव में तात्पर्य्य विषयी भूतार्थ का ही बोध होता है अन्यार्थ का नहीं, एवं तीन प्रकार के द्यौ का भी यहां योग्यतानुसार ही अर्थ लिया जायगा ॥

यह वात सर्व सम्मत है कि पितृ शब्द रक्षाकरने, पालनकरने केही अभिप्राय से आता है फिर ऐसे पितरों के निवासकी योग्यता ऐसे प्रद्यौ में कैसे पाई जाती है जिसको आप सबसे ऊपर अन्तरिक्ष का तीसरा भाग सूर्य्य के समान प्रकाश वाला मानते हैं। पितरों के निवास की योग्यता वक्ष्यमाण अर्थों में पाई जाती है। प्रकर्षेण दीव्यतीति–प्रद्यौः, अर्थात् जो अत्यन्त प्रकाश वाली दशा है उसमें पितर रहते हैं। इसी अभिप्राय से पितृयाणमार्ग को चन्द्रलोक की प्राप्ति कहते हैं अर्थात् वह चन्द्रलोक के समान प्रकाशवाली दशा में रहते हैं, और यही अर्थ आपने भी गी०८।२५ में किये हैं जैसे कि "चान्द्रमसंज्योतिप्राप्यनिवर्तते" चन्द्रमा सम्बन्धि सोम तत्व प्रधान सर्वोत्तम स्वर्गादि नामक सुख को प्राप्त होकर

संसार मेंही निवृत्ति हुआ रहता है किन्तु शरीरान्त के पश्चात् मुक्त नहीं होता। क्यों पण्डितजी यहां आपका अन्तरिक्ष का तीसरा भाग कहां गया, यहां तो पितृयाण के यात्रियों को सर्वोत्तम सुख में ही प्राप्त कराके छोड़ दिया अन्तरिक्ष के तीसरे भाग में क्यों न पहुंचाया। इस प्रकार पितरों के निवासस्थान की योग्यता से उक्तार्थ ही पाए जाते हैं अन्तरिक्ष का तीसराभाग नहीं। एवं तीन प्रकार का द्यौ उत्तम, मध्यम, मन्दावस्था के अभिप्राय से कहा गया है, मध्यमा द्यौ पीलुमती कहलाती है अर्थात् उसका प्रद्यौ की अपेक्षासे मध्यम प्रकाश है। "उदन्वती द्यौ" एक प्रथमावस्था की द्यौ है उसका जल के समान प्रकाश है जैसाकि जल शुभ्रवर्ण का होता है, पर इन तीनों अवस्थाओं में से (पितर) ज्ञानी लोगों की प्रद्यौ अवस्था है, राजसों की मध्यमा द्यौ अवस्था है, और तामसों की अवमा द्यौ अवस्था है अर्थात् मन्दावस्था है। उक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं में से प्रद्यौ को पं० भीमसेनजी ने यमराज का पितृलोक बनाकर अतिभयानक बनादिया।

उक्त प्रकारसे इनके श्रीमुखसे निकले हुए आक्षेपों का इन्हींके श्रीमुखसे समाधान कियागया। अब औरलो अथर्व० १८। ४।७८ मंत्र में आप "स्वधा पितृभ्यःपृथिवीसद्भ्यः" इस मंत्र की प्रतीक देकर पण्डितजी ने अपने प्रद्यौ अन्तरिक्ष के तीसरे भागमें रहने वाले पितरों को फिर उठाकर पृथिवी पर फेंक दिया, अस्तु पितर आकाश में रहें वा पाताल में रहें वा पृथ्वी में रहें हमें इससे क्या, हमने तो पं० जी के मृतकश्राद्ध का बल देखना था सो आप

गन्धमात्र भी नहीं निकाल सके ॥

सप्तविंशति मन्तव्ये मृतकश्राद्ध खण्डनं समाप्तम् ॥

—०:०—

(२८) इस में स्वामीजीने विद्वानों का सत्कार पदार्थ विद्या से उपयोग और अग्निहोत्रादिकों से जल वायु की शुद्धि इत्यादि अनेक कर्म प्रधान यज्ञ माने हैं, वास्तव में वैदिक यज्ञ यही थे इसी अभिप्राय से गीता में लिखा है कि:—

एवंबहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे ॥ गी० ४।३२

अर्थ—एवं बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्मणोमुखे नाम वेद में कथन किये गए हैं उन सबको कर्म प्रधान ही समझो, उक्त यज्ञों के यथार्थ ज्ञान से तुम मुक्त हो सक्ते हो। वास्तव में यज्ञ यह थे जिनको अब पौराणिक लोगों ने हिंसा प्रधान बना दिया, जैसाकि "हृदयस्याग्रे वद्यति" इत्यादि वाक्यों में यह लिखा है कि पहले पशु का हृदय काटे फिर अन्य अंगों को काटे, पर वेद में इसका गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, प्रत्युत निषेध पाया जाता है देखो:—

"मुग्धादेवाउतशुनायजन्तोतगोरङ्गैः पुरुधायजन्त"

अथर्व० १७।८।८ अर्थ—वे मूर्ख यजमान हैं जो कुत्तों से लेकर गौओं के अंगों तक यज्ञ में डालते हैं ॥

निन्दित से निन्दित यहां कुत्ता लिया और उत्तम से उत्तम गौ. इससे यह सिद्ध किया कि किसी प्राणी मात्र का यज्ञ में बध नहीं

करना चाहिये। इसी लिये जिन ग्रंथों में पशुवध यज्ञ लिखे हुए हैं उनका निषेध महाभारत में इस प्रकार है "धूर्तैप्रकल्पितंह्येतन्नैतद्वेदेषुकल्पितम्" अर्थ—यह पशुयज्ञ सब धूर्त्तों ने कल्पना किये हैं वेदों में नहीं। उक्त भाव श्रीस्वामीजीने अपने (२८) मन्तव्य में प्रकाशित कर दिया जिससे भविष्यत् में कोटी २ प्राणियों के प्राण बचेंगे॥

(२९) इसमें यह लिखा है कि वेद विद्या विहीन दुष्टाचारी मनुष्यों का नाम दस्यु है, और आर्य्य वह हैं जो श्रेष्ठ हैं।

(३०) में आर्य्यवर्त्त देश की सीमा का वर्णन है इसमें कोई पूर्वोत्तर पक्षकी आवश्यकता नहीं। एवं (३०) से (४६) तक सब स्पष्ट मन्तव्य हैं जिनमें व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

(४७) इस मन्तव्य में नियोग का वर्णन है "जो विवाह के पश्चात् पति के मरजाने आदि वियोग में हुआ करता है"। आदि शब्द के अर्थ यहां देशत्याग आश्रमत्याग के हैं, "अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना" नपुंसकत्वादि रोगों से तात्पर्य्य उन रोगों का है जिनसे मनुष्य स्पर्श के योग्य नहीं रहता।

इस विषय में बहुत लोग विप्रतिपन्न हैं कोई इसको व्यभिचार बतलाता है, कोई इसको अनाचार बतलाता है, कोई इसको देश काल के अनुकूल अकर्तव्य बतलाता है, कोई इसको सामाजिक मन्तव्य बतलाता है एवं विध अनेक संशयों को दूर करने के लिये हम इसकी सविस्तार व्याख्या करते हैं!

पहले उन लोगों का उत्तर देते हैं जो अपने आपको वैदिक कहकर हमसे विरोध करते हैं।

कुहस्विद्दोषाकुहवस्तोरश्विनाकुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। कोवांशयुत्राविधवेवदेवरं मर्यंनयोषाकृणुतेसधस्थआ॥ ऋ० १०।४०।२

इस मंत्रमें (कोवांशयुत्राविधवेव देवरं) यह वाक्य सनातन धर्मियों को नियोग से नहीं निकलने देता। सायणाचार्य्य इसके यह अर्थ करते हैं कि "शयुत्राशयनेविधवेव व यथा मृतभर्तृकानारीदेवरंभर्तृभ्रातरंअभिमुखीकरोति" अर्थ-शयन में विधवा नाम मरे हुए भर्ता वाली स्त्री जिस प्रकार देवर को वर लेती है, इस प्रकार हे अश्विनी कुमारो तुमको किसने वर लिया। इस कथन से सायणाचार्य्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि विधवा स्त्री देवर के साथ नियोग कर सक्ती है, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र इसके यह अर्थ करते हैं कि "हे अश्विनौ तुम दोनों रात्रि में कहां थे और (वस्तोः) नाम दिन में कहां थे जिससे न रात्रि में न दिन में तुम्हारा दर्शन हमें मिला, स्नान भोजनादि की प्राप्ति कहां की कहां निवास किया सर्वथा तुम्हारी आगमन प्रकृति नहीं जानी जाती (कोवांशयुत्रा विधवा इव देवरम्)शयन में देवरको विधवावत् कौन यजमान तुमको परिचरण करता हुआ क्योंकि परकीय पति होने से दुराराध्य देवर को मृतभर्तृका यत्न से आराधन करती है (इस कर्म को निन्दितजान छिपकर बड़े यत्न से उससे मिलती है) तद्वत् तुमको किस यजमान ने आराधान किया यथा एकान्तस्थान

में मृतभर्तृका नारी मनुष्यको अपने शरीर के साथ संबन्धकर परि-चरण करती है तद्वत् तुम्हारी किसने सेवा की जो हमें दर्शन नहीं प्राप्त हुए, इस मंत्र में अल्प देवर कर महान्त अश्विनी कुमार उपमेय होते हैं और विधवा शब्द मे यजमान उपमेय होता है द० ति० भा० पृ० १४६ समीक्षा—पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तो बिना ननु नच से इस बात को मान लिया कि विधवा नाम उसी का है जिस का पति मर चुका हो, और जो अश्विनी कुमारों को देवरस्थानी बनाया और यजमान को विधवास्थानी, इस उपमान उपमेय पर तो पं० जी ने अपने पाण्डित्य की समाप्ति करदी, धन्य हैं ऐसे देव और उपासकों को। अस्तु विवक्षितांश यहां यह है कि सायणा-चार्य्य और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने विधवा स्त्री और देवर के सम्बन्ध का दृष्टान्त इस मंत्र में स्वीकार किया, पर पं० भीमसेन शर्म्मा जिनको अब नई ही सनातनधर्म की हवा लगी है उन्होंने सनातन सायण की शरण छोड़कर यह अर्थ किये हैं कि जिस स्त्री का वाग् दान के अनन्तर पति मर गया हो उस स्त्री का विधवा शब्द से यहां ग्रहण है, इस बात को पुराने सनातनधर्मी सभी भूल गए थे जिसको अब पण्डित जी ने निकाला,

पं० जी कहते हैं कि कन्या भी विधवा होती है, सायण और पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने तो "विधवेवदेवरम्" इस वाक्य में विधवा नारी के अर्थ किये हैं और पं० भीमसेन "यस्याम्रियेतक न्यायावाचासत्येकृतेपतिः" इस श्लोक का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि जिस कन्या का वाग् दान करने के अनन्तर

पति मर जाता है वह भी विधवा कहलाती है। यह भीमसेनी परिभाषा अब निकली है कि कन्यात्व और वैधव्य यह दोनों धर्म एक धर्म्मी में रह सक्ते हैं पर यह कठिनाई पड़ेगी कि जिन मनु के श्लोकों में इनके मतानुकूल विधवा विवाह का निषेध लिखा है उनके अर्थ भीमसेनी परिभाषा में कन्या विवाह निषेध के होजावेंगे।

"विधवेवदेवरम्" इस वाक्य के कारण उक्त मंत्र में सनातन धर्मियों को बड़ी फेर फार करनी पड़ती है, अश्विनी कुमारों को देवर बनाना पड़ता है, विचारे यजमानों को विधवा स्त्री बनाना पड़ता है। मंत्र के अर्थ सीधे यह हैं कि (अश्विनौ) हे विवाहित स्त्री पुरुषो तुमने (दोषा) रात्रि को कहां निवास किया और (वस्तोः) नाम दिन में कहां निवास किया, (कुहाऽभितीत्वम्) नाम कहां तुमने खान पान किया और (कोवांशयुत्राविधवेवदेवरम्) नाम विधवा और देवर के समान तुम्हारा शयन स्थान कौन है, अर्थात् जैसे विधवा देवर की सहधर्मिणी होती है इस लिये उनका शयन स्थान और खानपानादि व्यवहार पृथक् नहीं होता इस प्रकार विवाह सम्बन्ध से तुम्हारा भी पति पत्नि भाव स्थिर हो गया, इस लिये तुम्हें भी पृथक् नहीं रहना चाहिये, इस भाव को दृढ़ करने के लिये प्रश्नकी रीतिसे रात्रि दिन का निवास और खानपानादि व्यवहार पूछा गया है, जैसे कि विवाह के मंत्रों में प्रतिज्ञाएं हैं, उन प्रतिज्ञाओं के दृढ़तार्थ यह मंत्र है। जो इस में वादी यह प्रश्न करते हैं कि रात्रि दिन का निवास स्थान किसी स्त्री से पूछना सभ्यता की बात नहीं? इसका उत्तर यह है कि जैसे विवाह की

प्रतिज्ञाएं ईश्वर गृहस्थ सम्बन्ध की दृढ़ता के अभिप्राय से करवाता है उसमें कोई असभ्यता नहीं समझी जाती, इस प्रकार यहां भी असभ्यता का दोष नहीं, प्रत्युत असभ्यता तो यह है कि जो विचारे अश्विनी कुमार देवताओं को विधवा रूपी यजमानों के शयन स्थान में सुलाने की चेष्टा की गई है। और जैसे इसी मंत्र में "मर्यंनयोषाकृणुतेसधस्थआ" इस वाक्य में मर्य नाम मनुष्य को और योषा नाम उसकी स्त्री जिस प्रकार शयन में सेवन करती है, अर्थात् जिस प्रकार स्वपत्नी अपने पति को सेवन करती है इस प्रकार तुम भी इस गृहस्थ धर्म का पालन करो। हमारे सिद्धान्त पर जो यह प्रश्न किया गया है कि यह कौन पूछता है कि तुम दोनों दिन रात को कहां रहे? इसका उत्तर यह है कि जो "मर्यंनयोषाकृणुते" इस वाक्य को कहता है वही पूछता है अर्थात् उपदेश रूप से यह ईश्वर की उक्ति है इस लिये कोई दोष नहीं। दूसरा मंत्र यह है कि जिसमें आधुनिक सनातनधर्मी नियोग से भयभीत होकर भिन्न २ मति वाले हो जाते हैं॥

उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकंगतासुमेतमुपशेषएहि। हस्तग्राभस्यदिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ॥ ऋ० १०।१८।८

इस मंत्रमें "दिधिषु" शब्द आया है जिसके अर्थ दूसरे पति के हैं इस भयसे पं० भीमसेन ने यह लिखा है कि "वेदे रूढ़ार्थो न कस्यापि विदुषोऽभिमतोऽपितुयौगिकार्थः सर्वमीमां

सादिशास्त्रकारानुमत:" ब्रा० स० १-११-४६७ अर्थ-वेद में (रूढ़ार्थः) नाम किसी वस्तु विशेष का ग्रहण संज्ञामात्र से किसी विद्वान् को अभिमत नहीं किन्तु (यौगिकार्थः) नाम जो शब्द के अवयवों से अर्थ कियाजाता है वह सब मीमांसादि शास्त्रकारों को अभिमत है अर्थात् यहां दिधिषु शब्द से दूसरा पति नहीं लियाजाता किन्तु धारक व पोषक लियाजाता है, उक्त लेखसे पं० भीमसेन ने अपनी सम्पूर्ण सनातन पुजीशन पर पोचा फेर दिया, क्योंकि यौगिकार्थ करने से न आपके ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यह देव त्रयी रहेगी और न वरुणादि देव विशेष रहेंगे न यमपुरी का राजा यम रहेगा, फिर तो वरुणादि शब्द अपने अवयवार्थों से वरुणादि देवताओं से दूर चले जावेंगे, इस प्रकार पं० भीमसेन के माने हुए कर्मकाण्ड का गन्धमात्र भी न रहेगा। पर क्या करें अर्थी दोषं न पश्यति, इस न्यायानुकूल पं० जी को वेदों के सब अर्थ यौगिक मानने में स्वमत का दोष दृष्टि नहीं पड़ा, और अभ्युपगम विरोध की पं० जी ने यहां किञ्चन्मात्र भी अपेक्षा नहीं की, अर्थात् यह नहीं सोचा कि अमरकोष में दिधिषु के अर्थ नियुक्त पति के हैं, फिर हम स्वमत विरुद्धार्थ क्यों करते हैं। अमरकोष द्वितीयकाण्ड मनुष्यवर्ग श्लो० २३ में दिधिषु पति का वर्णन है।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने यहां स्वामीजी के अर्थपर यह आक्षेप किया है कि जब पति मरा पड़ा है तब यह उपदेश उसको कैसे हो सक्ता है कि तू इसको छोड़कर दिधिषु पति के सन्मुख हो, मिश्रजी के विचार में वेद स्थायी दृढ़ उपदेशों को लौकिक लज्जा

और भयसे छोड़देता है यदि ऐसाही होता तो 'विधवेवदेवरम्' यह मंत्रमें दृष्टान्त क्यों दिया जाता।

और "उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं" इस वाक्यमें जीवलोकको लक्ष्य रखकर यह क्यों कथन कियाजाता कि तू यहां से जीवलोक का ध्यान धरके उठ, क्योंकि यह कथन भी तो आपके विचार में प्रेम को कम करता है, आपका सनातन प्रेम तो तभी स्थिर रहता है कि "इयंनारीपतिलोकंवृणाना" अथर्व० १८।३।१ इस मंत्रके सायण भाष्यानुकूल उस विचारीका मृत पति के साथ अग्निमें प्रवेश कर दियाजाय।

सायणाचार्य्य इस मंत्रके भाष्यमें लिखते हैं कि प्राचीनधर्म को पालनकरती हुई स्त्री मृत पति के साथ मरण को प्राप्त होती है। इस अर्थ को स्मृति से इस प्रकार दृढ़ करते हैं कि:—

भर्तारम् उद्धरेन्नारी प्रविष्टा सहपावकम्।
व्यालग्राही यथा सर्पं बलाद् उद्धरेत् बिलात्॥

अर्थ–मृत भर्त्ता के साथ चितामें प्रविष्ट हुई नारी उसके उद्धार करने की इच्छा करे, जिस प्रकार सांपके पकड़ने वाला सांप को बिलसे निकाल लेता है इस प्रकार वह बलसे उद्धार करे।

इत्यादि प्रेमपालन तो आपके मतमें तभी हो सक्ता है जब इसका अनुष्ठान किया जाता सो अब आपका यह वैदिक अनुष्ठान राजधर्म से विरुद्ध है इसलिये प्रेम पालन तो मनोरथ मात्र है फिर जब उक्त प्रेम में ऐसी लाचारी है तो स्वामीजी का यह कथन कि तू इस

मृत पति को छोड़ कर दिधिषु पति के अभिमुख हो क्यों बुरा लगता है।

इस मंत्रके सत्यार्थ यह हैं कि हे नारी (जीवलोकं) नाम जीवन लोक का विचार के (उदीर्ष्व) नाम इस पति के पाससे उठखड़ी हो जो यह प्राण रहित मृत पड़ा हुआ है (हस्तग्राभस्यदिधिषो) नाम यह नियुक्तपति जो तुम्हारा हस्त ग्रहण करने वाला है इस पति के (जनित्व) नाम स्त्रीत्वभाव को (संवभूथ) नाम सन्मुख हो। अर्थात् मृत पति के अनन्तर अपने जीवन का विचार करके दिधिषु पति की शरण को प्राप्त हो।

जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र इसमें यह आशङ्का करते हैं कि श्मशान भूमि में यह मंत्र पढ़ा जाता है उस समय नियोग का कौनसा अवसर है? इसका उत्तर यह है कि यह मंत्र सिद्ध वस्तु प्रतिपादकत्वेन नियोग की विधि का बोधक है फिर इसपर यह प्रश्न नहीं हो सक्ता कि यह शोक समयमें नियोगका विधानकरता है॥

और सनातनधर्म के मन्तव्यानुकूल भी उक्त प्रश्न कुछ अस्तित्व नहीं रखता क्योंकि उन्होंने इस मंत्र का अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग किया है और यह उनके मत में नियम नहीं कि जो मंत्र जिस कर्म में विनियुक्त हो अर्थ भी वही रखता हो, जैसेकि "इदं विष्णु र्विचक्रमे" यह मंत्र शकट मार्गस्थ सुवर्ण पर आहुति देने में विनियुक्त है और अर्थ अवतार के देता है एवं "उदीर्ष्व नारी" यह मंत्र अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग वाला होकर अर्थ नियोग के दे तो क्या दोष है? उक्त प्रकार से नियोग विषय में दो पुष्ट प्रमाण दिये

गए (१) "विधवेवदेवरम्" (२) "दिधिषुपतिः"
(३) "यापूर्वंपतिंवित्त्वाऽथाऽन्यंविन्दतेपरम्" अथर्व० १।५।२७॥
(४) "समानलोकोभवतिपुनर्भुवीपरः पतिः" अथर्व० १।५।२८॥

अर्थ–(३) जो पूर्व पति के वियुक्त होने के अनन्तर अन्यपति को लाभ करती है॥

अर्थ–(४) (पुनर्भू) स्त्री का दूसरा पति (समानलोकः) नाम समान गुणों वाला (भवति) होता है॥

उक्त मंत्रों की प्रतीकों को वैदिक नियोग के खण्डन करने वाले आधुनिक सनातनियों का विधाता भी अन्यार्थ वा उपचारार्थ नहीं कह सक्ता। फिर कैसे कहा जाता है कि वैदिक नियोग में कोई वेद मंत्र प्रमाण नहीं॥

इयंनारीपतिलोकंवृणानानिपद्यत उपत्वामर्त्यप्रेतम्। धर्मंपुराणमनुपालयन्ती तस्यैप्रजां द्रविणां चेहधेहि अथर्व० १८।३।१॥

अर्थ–मृत पति को छोड़कर पतिलोक की इच्छा वाली जो यह स्त्री है हे परमात्मन् इसको सन्तति और धन दो। इस मंत्र में सन्तति की प्रार्थना इस बात को सिद्ध करती है कि वह सन्तति नियुक्त पति से ही अभिप्रेत है न कि मृत पति से, मृत पति में सन्तति की योग्यता नहीं॥

सायण इससे सती की रसम निकालते हैं, और पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र इसके यह अर्थ करते हैं कि मृत पति का धन और प्रजा इसकी है, पर यह नहीं सोचते कि यहां तो भविष्यधन और भविष्य प्रजा के लिये प्रार्थना है फिर कैसे कहा जा सक्ता है कि प्रथम पति की सन्तान और धन इसको दो। क्या सनातनधर्म्म के दायभागानुकूल प्रथम पति की सन्तति इससे कोई छीनता था जो इस मंत्र ने अपूर्व विधान किया। पं० भीमसेन इसके यह अर्थ करते हैं कि जो इसके पास सन्तति और धन है वह नाश न हो किन्तु स्थिर रहे॥

और सायण यह अर्थ करते हैं कि इस लोक और परलोक के लिये इसको सन्तति और धन दो। सच्चाई यह है कि "तस्यै प्रजांद्रविणञ्चेधेहि" इसके लिये प्रजा और धन धारण कराओ अर्थात् दो। इस वाक्यार्थ में सब सनातनधर्मी खण्ड २ हो जाते हैं कोई परलोक के लिये धन की प्रार्थना मानता है, कोई पहले पति के धन और सन्तति मिलने की प्रार्थना करता है, कोई धन सन्तति को स्थिर रखने की प्रार्थना करता है। पर उनके मतानुकूल इस अनिष्ट चिन्तन को कोई स्मृति पथ में नहीं लाता कि विधवा के लिये सन्तति की प्रार्थना उनके मत में ऐसी ही अनिष्ट है जैसे कोई कन्या को कहे कि पुत्रवतीभव। फिर कैसे कहा जाता है कि इस मंत्र की सङ्गति स्वामी जीके मत में नहीं लगती। स्वामी जीके मत में तो उक्त मंत्र नियोग को विधान करता है और नियोगाभिप्राय से विधवा के लिये भी सन्तति की प्रार्थना की जाती है। ननु इस मंत्र में "धर्मंपुराणमनुपालयन्ती"

यह लिखा है कि जो प्राचीन धर्म को पालन करती है। धर्म का पालन तो सती होने से अथवा पति मरणानन्तर यावदायुषं तुलसी की माला पहनकर रहना अन्यपति की इच्छा न करना यही धर्म का पालन हो सक्ता है फिर इस मंत्र मे नियोग के अर्थ कैसे निकलते हैं ?

उत्तर–पहली बात तो यह है कि 'धर्मंपुराणमनुपालयन्ती' यह कहकर फिर इसके लिये सन्तान की प्रार्थना की गई है इससे पाया जाता है कि यहां धर्म का पालन नियोग धर्म के अभिप्राय से आया है ॥

दूसरी बात यह है कि यदि यह शङ्का की जाय कि धर्म का पालन तो पतिब्रतधर्म कहलाता है नियोग कौन धर्म हुआ ? इसका उत्तर यह है, म० भा० आ० प० अ० १०३ श्लो० १० में यह लिखा है कि :—

तयोरुतपादयापत्यं सन्तानाय कुलस्यनः
मन्नियोगान्महावाहो धर्मंकर्त्तुमिहार्हसि ॥

अर्थ–इनमें नियोग से सन्तति उत्पन्न करो, इस धर्म करने के लिये तुम योग्य हो ॥

इससे आगे श्लोक १३ में भीष्मजीने सत्यव्रती से यह कहा है–

असंशयं परोधर्मस्त्वया मातर उदाहृतः ।

अर्थ–इसमें संदेह नहीं कि हे मातः तुमने यह नियोग रूपी परंधर्म मुझको कहा । इत्यादि

महाभारतमें तो अध्यायोंके अध्याय नियोगको धर्म कहते हैं,

फिर तुम इसको अधर्म कैसे कह सक्ते हो और इन वाक्यों में ननु नच कैसे कर सक्ते हो, क्योंकि यह वाक्य तुम्हारे मतमें साक्षात् व्यास भगवान् के मुख से निकले हैं जो चौबीस अवतारों में से एक जीता जागता अवतार है। यहां यह भी याद रहे कि नियोगका वियोग करनेके लिये महाभारतादि पुस्तकों से सनातनभाइयों को पहले वियुक्त होना पड़ेगा, पर यह वियोग दुर्घट काम ही नहीं अपितु असम्भव है॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधिशिवापशुभ्यःसुयमासुवर्चाः। प्रजावती वीर सूर्देवृकमास्यो नेममग्नि गार्हपत्यं सपर्य॥ अ० १४। २। १८

इस मंत्र में पहले तो पं० ज्वालाप्रसादमिश्र ने स्वामीजीकी यह गल्ती निकाली है कि स्वामीजीने ह्रस्व अकार के स्थान में दीर्घ आकार लिखा है, इसका उत्तर तो मिश्रजीको मिलजाता यदि मिश्र स्वामीजीकी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका देखते, वहां यथाव स्थित ह्रस्व अकार है, जब प्रथम पुस्तक में यह पाठ लिखा गया तो फिर सत्यार्थप्रकाशमें स्वामीजीका दोष क्या। पर इनको इस बात से क्या इन्होंने तो छिद्रान्वेषी होकर वैदिकधर्म के एकत्व को छिन्न भिन्न करना है॥

हमारे सनातनभाइयोंको यहां यहभी स्मर्ण रहे कि हम पौराणिक व्यासके समान स्वामीजीको चौबीस अवतारों में सम्मिलित करके ऐसा सर्वज्ञ नहीं मानते कि वह मात्राकीभी अशुद्धि न करते हों। इस मंत्र के वादीकृत अर्थों में और स्वामीजीके अर्थों में और

कोई भेद नहीं केवल "देवृकामा" शब्द में विवाद है सो इस बात से निवृत्त होजाता है कि जब निरुक्तकार देवर को दूसरा वर मानते हैं तो फिर नियोगाभिप्राय से यदि कामना लीजाय तो क्या दोष है?

और जो पं० ज्वालाप्रसादमिश्रने इस मंत्र के अर्थ में "भ्रातृकामा" शब्द लिखकर "देवृकामा" के साथ मेल किया है यह सनातनधर्म के अर्थों से अत्यन्त चिन्तनीय है क्योंकि जिसमें यमयमीकी कथा भाई बहनकी "भ्रातृकामा" के अर्थ भी "देवृकामा" के समान ही देती है तो फिर अत्यन्त भेद प्रदर्शनार्थ उक्त दृष्टान्त क्यों? यदि यह कहा जाय कि उक्त यमयमीकी कथा भी भाई बहनके संयोग प्रतिषेध के लिये है तो फिर इस मंत्रार्थका क्या उत्तर?

अघातागच्छानुचरायुगानियत्रजामयः कृणववन्न जामि। उपबर्बृहिवृषभायबाहुमन्यमिच्छस्वसुभगेपतिंमत्॥ ऋ० १०। १। १०। १०

सायणाचार्य्य के अनुयायी इसके यह अर्थ करते हैं कि यमकी बहन जो यमी थी उसने जब यमसे पतिभाव की प्रार्थनाकी तो यम ने यह उत्तर दिया कि ऐसे युग आयेंगे जिनमें (जामयः) नाम भगनियें (अजामि) नाम और स्त्रियों का काम करेंगी, अर्थात् स्वस्त्रीवत् व्यहार करेंगी। इसलिये हे सुभगे इस समय तू मेरे को अन्यपति की इच्छाकर। पं० ज्वालाप्रसादमिश्र भी इसके यही अर्थ करते हैं॥

यदि आजकल विनयपूर्वक किसी सरल सनातनधर्मी पण्डित से पूछाजाय कि भगवन् वह उत्तर युग आगए हैं अब यमके बचन का अनुष्ठान क्यों नहीं कियाजाता, तो वह उत्तर यही देता है कि हिन्दुओं से भिन्न इतर जातियों में ऐसा होता है। फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वैदिक अनुष्ठान तो फिर इतर जातियों में ही हुआ नकि वेदाभिमानी पौराणिकों में ॥

ननु–तुम इस पर क्या आक्षेप करते हो तुम्हारे मतमें भी तो यह दोष समान ही है, क्योंकि तुम भी तो इस कथा के अर्थ भाई बहन से भिन्न कुछ नहीं कर सक्ते। प्रत्युत "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्" इतनी प्रतीक लिखकर तुम्हारे स्वामीजीने इसके अर्थ और भी बुरे कर दिये कि असमर्थपुरुष अपनी स्त्री से यह कहे कि तू मेरे से भिन्न किसी अन्यपतिकी इच्छाकर. इसमें तो एक नहीं दो दोष आए–(१) बहन का भाई से पतिभाव की प्रार्थना करनेका (२) प्रकरण विरुद्ध नियोग के अर्थ करने का ॥

उत्तर–पहली बात जो यह कही गई है कि तुम भी यम यमी की कथा के दोष से दूर नहीं हो सक्ते? इसका उत्तर यह है कि यह यम यमी सूक्त भाई बहन के अभिप्राय से नहीं लिखा गया किन्तु यमी पुरुष की यमों में दृढ़ता बोधन करने के अभिप्राय से लिखा गया है। जो स्त्री उक्त पुरुष को यमों से गिराना चाहती थी उसका नाम यहां यमी है। "यमस्यस्त्रीयमी" व्याकरण से यह अर्थ लाभ होता है। यहां "ङीसप्रत्यय है" व्याकरण से भाई बहन के अर्थ यम यमी शब्द से किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होते। यम से पतिभाव की प्रार्थना करने के अभिप्राय से उसको

यमी कथन किया गया है अर्थात् "यमस्यस्त्रीयमी" इस लिये इसको यमी लिखा ॥

यम शब्द के अर्थ यहां "यमोविद्यतेयस्यसयमः अर्शाद्यच से यह अर्थ हो जाते हैं कि जो यमों वाला हो उसकोयम कहते हैं" यम यह हैं:—

अहिंसा सत्यस्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहायमा । यो० स० । पा० । सू० । ३० ॥

अहिंसा–प्राणियों का हनन न करना ॥

सत्य–सत्यवाणीवाला होना ।

स्तेय–चोरी न करना ।

ब्रह्मचर्य्य–स्त्री स्पर्श न करना ।

अपरिग्रह–आवश्यकता से अधिक वस्तु पास न रखना । उक्त पांच यम हैं यह जिस में घटते हो उसको यम कहते हैं, ऐसे दृढ़ व्रतधारी पुरुष का इस सूक्त में वर्णन है ॥

इस भाव को स्पष्ट करने के लिये हम यहां सम्पूर्ण सूक्त के अर्थ लिखते हैं ।

ओचित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त दृढ़ व्रती यम को प्रलोभन करने वाली यमी स्त्री (तिरःपुरूचिदर्णवं जगन्वान्) जो एक बड़ेभारी निर्जन देश

समुद्र के किसी एक द्वीपको प्राप्तथी (चित्सखायं) उस पूज्य यम के सन्मुख (सख्यावव्रतां) नाम मैत्रीवृत्ति के भाव से जो स्थिरहुई, और जाकर कहा कि परमेश्वर ने हम दोनों को सुन्दर पुत्रकी सन्तानोत्पत्ति के लिये ध्यान किया है, अर्थात् मुझे और तुम्हें सन्तानोत्पत्ति के लिये बनाया है ।

नते सखा सख्यं वष्टये तत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति । महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्त्तार उर्विया परिख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ—हे यमी (तेसखा) नाम ब्रह्मचर्य्य अवस्था में तुम्हारे समान धर्मवाला होने से तुम्हारा सखा मैं तुम्हारे साथ (सख्य) नाम सहवासरूपी मैत्रीभाव की (वष्टि) नाम कामना (न) नाम नहीं, अर्थात् मैं तुम्हारी पत्नीभाव से कामना नहीं करसकता, क्यों कि (सलक्ष्मा) नाम ब्रह्मचर्य्य के चिन्होंवाली होने से (यद्विश्वरूपा) नाम विषमरूपवाली (भवाति) है । यह लेट लकार का प्रयोग है अर्थात् मैं (यम) नाम ब्रह्मचर्य्य प्रधान पांचयमों से सम्पन्न हूं और तू ब्रह्मचारिणी है इस लिये मैं तुम्हें स्वीकार नहीं करसकता । ऐसा असुर करसक्ते हैं कि जो (उर्विया) नाम निन्दित से निन्दित स्त्रियों से रमण करना (परिख्यन्) नाम कथन करते हैं । सार यह निकला कि यम नियम सम्पन्न ब्रह्मचारी और यती लोकों का यह काम नहीं ।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य । निते मनो मनसि धायस्मे जन्युः पतिः

तन्व माविविश्याः ॥ ३ ॥

अर्थ—यमी कहती है कि (अमृतास) नाम देवलोक (ते) तुम्हारे अर्थात् तुम्हारे देवलोगभी (एतत्) नाम इस कामकी (उशन्ति) इच्छा करते हैं, (एकस्यचित्मर्त्यस्य) नाम मरण धर्मा जो यह पुरुष है उसके लिये (त्यजसं) नाम यह त्याग इष्ट नहीं, इस लिये तुम अपना मन मेरे मनमें धारण करो, (जन्युः) नाम प्रजा उत्पन्न करने वाला जो पति उसभाव को ग्रहण करके तुम (तन्वं) नाम मेरे शरीरको (आविविश्याः) नाम संभोगादि भावों से स्वीकार करो।

सायणाचार्य्य ने इसके यह अर्थ किये हैं कि यमी यह कहती है कि हे यम प्रजापति आदिकों ने भी लड़की और भगिनी आदिकों को भी अगम्य नहीं समझा फिर तुम क्यों मुझे अगम्या समझते हो। ब्रह्मा और ब्रह्मा की लड़की की पौराणिक कहानी का इस मंत्र में गंधमात्र भी नहीं पाया जाता, फिर न जाने उस समय के भाष्यकारों ने ऐसे निन्दित अर्थों को क्यों स्वीकार किया।

नयत्पुराचकृमाकद्धनूनमृतावदन्तोअनृतंरपेम। गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सानो नाभिः परमं जामितन्नौ ॥ ४ ॥

अर्थ-(यत्) जो (पुरा) पूर्वकाल में (नचकृमा) नाम हमने पूर्वकाल में नहीं किया (कद्ध) कत् ह नाम कदापि (नूनं) निश्चय करके (ऋतावदन्तो) नाम सत्य कथन करने वाले हम (अनृतंरयेम) नाम झूंठ नहीं कहते अर्थात् यह कदापि नहीं हुआ कि ब्रह्मचारी

और यति ब्रह्मचर्य्य व्रत भङ्ग करके संसारी हो जायं ॥

(गन्धर्वः) नाम परमात्मा "गान्धर्तीति गन्धर्वः, उणादि प्रकृति प्रत्यय से उक्तार्थ की सिद्धि हो सक्ती है अथवा गवांरश्मीनां धारयिता गन्धर्वः" एवं सूर्य्य का नाम गन्धर्व है, (अप्सु) नाम जलों में जो गन्धर्व है और (अप्याच योषा) जलों में होने वाली उसकी योषा नाम स्त्री (सानो नाभिः) वह हमारा (परमं) परम उत्पत्ति स्थान है । हे (जामि) कुलस्त्री (तत्) इस लिये (नौ) हम दोनों का स्त्री पुरुष भाव रूपी सम्बन्ध नहीं हो सक्ता क्योंकि (गन्धर्वः) नाम परमात्मा रूपी पिता से (अप्या) नाम परमात्मा रूपी माता से हमारी उत्पत्ति है अर्थात् ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करने के समय जो हम दोनों में द्विजन्मा होने का धर्म आया है उसका परमात्मा ही पिता और परमात्मा ही माता गिना जाता है । इस लिये उक्त ब्रह्म व्रतधारी हम दोनों का भ्राता भगिनी भावका सम्बन्ध है, इस लिये हे यमी तू मेरे लिये अगम्या है, इस मंत्र से यह भी सूचित कर दिया कि जिस प्रकार भाई के लिये बहन अगम्या है इस प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष के लिये स्त्री मात्र अगम्या है ॥

सायणादि सनातनी लोग जो इस सूक्त में यम यमी के अर्थ भाई बहन के करते हैं तो वह गन्धर्व पिता और अप्या माता किसको बनाते हैं क्योंकि किसी भाई बहन का गन्धर्व पिता और अप्या माता नहीं यदि यह कहा जाय कि यह अलङ्कार से कथन किया गया है तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि इस सूक्त में भाई बहन की कथा है ॥

गर्भेनुनौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। न किरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेदना वस्य पृथिवी उतद्यौः ॥ ५ ॥

अर्थ—यमी कहती है कि (त्वष्टा) नाम परमात्मा (गर्भे) नाम गर्भ में (नौजनिता) हम दोनों को जो उत्पन्न करने वाला है उसने हम को गर्भ में स्त्री पुरुष बनाया है उस परमात्मा के कर्मों को (प्रमिनन्ति) नाम हनन करना (नकि) नहीं अर्थात् उसके कर्मों का कोई नाश नहीं कर सक्ता, इस प्रकार हमारे स्त्री पुरुष भाव को पृथिवी द्यौ लोक जानते हैं ॥

को अस्य वेदप्रथमस्याह्नः कईंददर्शकइह प्रवोचत्। बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धामकदुब्रव आह नो वीच्यान्हन् ॥ ६ ॥

अर्थ—(को अस्यवेद) नाम प्रथम दिन का हाल कौन जानता है (कई ददर्श) नाम किसने देखा है (कइह प्रवोचत) नाम किसने कथन किया है अर्थात् कोई भी नहीं जान सक्ता, इस लिये हे यम फिर तुम क्या कहते हो कि पहले किसी ने ऐसा काम नहीं किया।

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समानेयोनौसहशेय्याय। जायेवपत्येतन्वं रिरिच्यां विचिद् बृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥

अर्थ—यमी कहती है कि हे यम तुम्हारी कामभिलाषा मुझ पर

हो (समानेयोनौ सहशेय्याय) नाम एक स्थान में एक शय्या पर सोने के लिये, फिर पूर्ण मनोरथ वाली मैं (जायेवपत्ये) नाम जैसे स्त्री अपने पति के लिये प्रीति से अपने शरीर को प्रकाश कर देती है अथवा रथ के अवयव भूत चक्रों पर जैसे रथ अपने आप को रख देता है इस प्रकार मैं भी अपने आपको आपके अर्पण करूंगी।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति । अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृहि रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ—फिर यम बोला कि सूर्य्य चन्द्रमादि जो देवताओं के दूत विचरते हैं वह सब जानते हैं इस लिये मैं इस अनुचित कर्म को नहीं करता ।

छटे मंत्र में जो यह था "को अस्य वेद" यह उसका उत्तर है इस आठवें मंत्र में यम का आशय यह है कि यद्यपि हमको कोई मनुष्यादि प्राणी नहीं देखता तथापि सूर्य्य चन्द्रमादिकों का नियन्ता सर्वान्तरयामी सर्वकाल में देखता है, इस लिये ब्रह्मचर्य्य व्रत भङ्गरूप अनुचित कर्म करना मैं उचित नहीं समझता ।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् । दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्यविभृयादजामि ॥ ९ ॥

अर्थ–इस मंत्र में ईश्वर यह कथन करता है कि (रात्रीभिः) और (अहोभिः) नाम दिन रात से (अस्मै) इस यम के लिये सब

यजमान यज्ञ का भाग (दृशस्येत्) देवें, और (सूर्य्यस्य चक्षुः) नाम सूर्य्य सम्बन्धि चक्षु (मुहुः) बारंबार (उन्मिमीयात) नाम उदय हो अर्थात् यम के चक्षु इन्द्रिय बारंवार दिव्य दृष्टि को प्राप्त हों, और यह यमी यम के अजामि नाम भ्रातृ भाव को धारण करे अर्थात् यद्यपि वास्तव में यह यम की भगिनी नहीं तथापि यमने जो इसको भगिनी कह दिया है इस लिये यह भगिनी भाव को दृढ़ रखे ॥

यह उक्त मंत्र न यम की ओर से है और न यमी की ओर से किन्तु मध्यस्थ की ओर से पाया जाता है इस लिये इस मंत्र में ईश्वर का उपदेश सिद्ध होता है और प्रयोजन इसका यह है कि जब अहिंसा, सत्य स्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह इन पांच नियमों के सेवन करने वाले यम की दृढ़ता दिखलाने के अभिप्राय से यह यम यमी की कथा है। इस लिये ईश्वर ने यह कथन किया कि सब यजमान उक्त दृढ़ ब्रतधारी यम को यज्ञोंका फलदें अर्थात् उसको पूज्य समझें ॥

सत्य भी यही है कि इस ब्रत के तुल्य अन्य कोई ब्रत नहीं है और इसके भङ्ग के बराबर और कोई दुर्गति नहीं है। इस आशय को प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में एक कवि ने इस प्रकार ग्रंथ कियाहै

सवैया

डार पटम्बर अम्बर डार सुदीर्घ जा बनवास करें हैं।
माहिं अरण्य करें तपसा अरु भोग महानल पार परें हैं।
धन्य यमी जिनके यम से डर कांपत भूप न पांव छुएं हैं।
नारी सुषुम्मन घेर विषय पड़ फेरि रसातल मांहिंगए हैं॥

इस भाव को यह यम यमी सूक्त कथन करता है कि यम व्रत धारण करने से जिससे राजा महाराजा सब कांपते हैं वह यदि गिर जाता है तो उसकी अत्यन्त अधोगति हो जाती है एवं उक्त व्रत की दृढ़ता के लिये यम यमी सूक्त है जिसको बिगाड़कर सायणादि आधुनिक भाष्यकारों ने भाई बहन की कथा वर्णन करके वेदोंका महत्व नष्ट करादिया, इस निम्नलिखित दशवें मंत्र के सायणादि भाष्यकार यह अर्थ करते हैं कि उत्तर युग आयंगे जिनमें बहनें भाइयों को पति वनालेंगी, यह अर्थ करके और भी अनर्थ करादिया।

पं०ज्वालाप्रसादमिश्र ने स्वामीजीकृत नियोग के अर्थों का खण्डन करते हुए इस मंत्रके अर्थ और भी विगाड़ दिये हैं कि (यमी कहती है यम से हम दोनों समागम करें) यम इस मंत्र से उत्तर देता है कि हे यमी वे उत्तर युग आवेंगे जिन युगों में (जामयः) भगनियां (अजामिकृण्वन्) भगिनी से भिन्न सम्बन्धित कर्मों को करेंगी, भाव यह है कि कलियुगान्त मेंही यह संकरता होगा जिसकाल में भगिनी से भिन्नस्त्री योग्यकर्मों को भगिनिये करें गी।

समीक्षा—पण्डित साहिबने वैदिक अर्थों से लाभ उठाने का उपाय तो कलियुग में अच्छा सोचा, पर यह नहीं सोचा कि जब कलियुग में यह विधि हो जावेगी तो अगम्या गमन का विचार कैसे रहेगा, सच है इनको क्या ? इनको तो विधवा विवाह व नियोग से द्वेष है और कोई कितना ही बड़ा अनर्थ क्यों न हो इनको नहीं दुखता, अन्यथा यम यमी सूक्त में भाई बहन के उक्तार्थ

कास्वीकार निरुक्त में भाई बहन विषयक इस कथा के लापनका स्वीकार इत्यादि अनुचित सब बातों का स्वीकार और "अन्य मिच्छस्वसुभगेपतिंमत्" इस प्रतीक में नियोगार्थ का अस्वीकार क्यों ?

आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्रजामयः कृणव न्नजामि । उपबर्ब्हृहि वृषभाय बाहुमन्य मिच्छस्व सुभगे पतिंमत् ॥ १० ॥

अर्थ—यम कहता है कि हे यमी (आगच्छानुत्तरायुगानि) नाम उत्तर युग आयेंगे जिनमें (जामयः) नाम कुलीन स्त्रियें (अजामि) नाम अकुलीन स्त्रियों का काम करेंगी अर्थात् उत्तर युगों में (यम व्रतधारी) नाम ब्रह्मचारी तथा यती लोगों को स्त्रियें मोहित कर लेंगी, इस समय ऐसा नहीं हो सक्ता, इस लिये "अन्यमिच्छस्व सुभगेपतिंमत्" ब्रह्मचारी कहता है कि हे सुभगे मेरे से भिन्न अन्य पति की इच्छा कर ॥

स्वामी जी का अर्थ इस लिये युक्त है कि यह उपलक्षण है अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी वा यती यम नियम सम्पन्न होने से यह कहता है कि "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्" इस प्रकार सामर्थ्य रहित क्लीव भी यह कहता है कि "अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिंमत्"

जैसेकि :—

मृतेनष्टे परिव्रजिते क्लीवेच पतिते पतौ । पञ्चस्वा

पत्सुनारीणां पतिरन्यो विधीयते। प०स्मृ० ४। ३०

जो लोग इस श्लोक में पतौ इस सप्तमी के अर्थ फेरना चाहते हैं वह पराशर माधव अपने सनातन टीका को पढ़ें और इस में शेखरकार का समाधान भी पढ़ें॥

यह पराशर स्मृति का कथन है इसमें पति के क्लीव होने पर नियोग का विधान किया गया है, इस लिये स्वामी जीके लेख में कोई प्रकरण विरोध नहीं। उपलक्षण की रीति से इस दशम मंत्र में नियोग विषय में क्लीव का भी ग्रहण हो सक्ता है इस लिये कोई दोष नहीं॥

और जो जामि शब्द के अर्थ सायणाचार्य्य और आधुनिक सनातनी भगिनी के करते हैं यह सर्वथा वेदाशय से विरुद्ध है, क्योंकि उणादिगण में या प्रापणे से इस शब्द की सिद्धि की गई है "यातीति जामि" जो प्राप्त हो उसका नाम जामि है आदि जो य है उसको जकार हो जाता है और मि प्रत्यय हो जाता है, और उक्त कथा में यम ब्रह्मचारी को प्राप्त होने से उस स्त्री का नाम "जामि" कहा गया, यदि सनातनी लोग यहां योग्यता का ध्यान रखते तो भाई बहन के अर्थ कदापि न करते, क्योंकि योग्यता बल से सैंधवमानय इत्यादिवत् उसी का ग्रहण होता है जिसकी योग्यता पाई जाती है जैसे कि भोजन काल में कोई सैंधवमानय कहता है तो नमक का ग्रहण होता है और प्रस्थान के लिये कटिबद्ध होकर सैंधवमानय कहता है तो घोड़े का ग्रहण होता है, इसी प्रकार उनके अमरकोष के कथनानुकूल यदि जामि

के अर्थ भगिनी और कुलस्त्री दोनों के माने जायें तब भी योग्यता बल से यहां कुल स्त्री का ही ग्रहण होता है भगिनी का नहीं। इस प्रकार मीमांसा करने से इस सूक्त में भगिनी का वाचक कोई शब्द नहीं पाया जाता। और जो पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र यह लिखता है कि निरुक्त में भी जामिके अर्थ भगिनी के किये गए हैं यह बात निरुक्त को न समझकर कथनकीगई है निरुक्त यह है।

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामि कर्माणि। जाम्यतिरेक नाम वालिशस्य वा समान जातीयस्य वोपजनः। उप धेहि वृषभायवाहुमिच्छस्व सुभगे पतिंमदिति व्याख्यातम्॥ निरुक्त नैगमकाण्ड अं० ४ पा० ३ खं० ४।

अर्थ—उत्तर युग आयंगे जिनमें (जामयः) कुलीन स्त्रियें (अजामि कर्माणि) नाम अकुलीन स्त्रियों के कर्मों को करेंगी। और जामि मूर्खकाभी नाम है। यम कहता है कि हे यमी-कुलस्त्री तू (समान जातीयस्य पुंसः) नाम समान जातिवाले पुरुष के उपजने नाम समीप में स्थिति को धारण कर अर्थात् तेरे जैसे बल वीर्य्य वाला जो समान जातीय पुरुष है उसको तू प्राप्त हो। जाति नाम सामान्य का है और "समानानांभाव: सामान्यं" समानोका जो गुणकर्म हो उसका नाम यहां जाति है। इसलिये यम ब्रह्मचारी ने यह कहा कि समान जाति वाले अर्थात् जो तुम्हारी तरह ब्रह्मचर्य्य व्रतभङ्ग करना चाहता हो उसको जाकर प्राप्त हो।

और इसी प्रकार क्लीबभी यह कहसक्ता है कि तू अन्य पुरुष को प्राप्त हो, इसलिये यह कहा "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" इस निरुक्त के लेख से भाई बहनके नाम का गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, फिर न जाने हमारे सनातन भाईयों को इस अपूर्व अर्थकी सूझ किस मार्ग से सूझी।

ननु तुम कहते हो कि इस में सहोदर भाई बहन की कथा का गन्धमात्र नहीं तो फिर मंत्र ११ में भ्राता और स्वसा शब्द क्यों आए हैं?

समाधान—भ्राता और स्वसा शब्द वहां आरोपित भ्रातृ भगिनीभाव के अभिप्राय से आए हैं, और इस आरोपित भ्रातृ भगिनी भाव में अगम्यागमन के दोष को दर्शाने के अभिप्राय से ईश्वर ने इस सूक्तमें ११ मंत्र से १४ मंत्रतक लिखा है।

किंभ्राताऽसद्यदनाथं भवाति किमुस्वसा यन्नि-र्ऋतिर्निगच्छात्। कामभूताबह्वे तद्रपामि तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि ॥ ११ ॥

अर्थ—यमी फिर बोली तुमने जो भगिनी भाव आरोप करके मुझे छोड़ दिया है, वह क्या भाई है जिसके होने पर बहन अनाथा होती है और वह क्या बहन है जिसके होने पर भाई दुखी हो, इस लिये तुम मुझ से सम्बन्ध करो ॥

नवाउते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अन्येनमत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते

भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥

अर्थ–यम यमी को बोला कि हे यमी मैं तुम्हारे शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं करता, क्योंकि मैं तुमको भगिनी कह चुका, जो भाई बहन के साथ संग करता है उसको शिष्ट लोग महापापी कहते हैं, इस लिये हे यमी तुम अन्य की इच्छा करो ॥

वतो वतासियमनैवते मनो हृदयं चाविदाम । अन्याकिलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेववृक्षम् ॥ १३ ॥

अर्थ–यमी यम को बोली हे यम (वतो) नाम तुम बड़े दुर्बल हो, (वत) नाम बड़ा खेद है जो तू मेरी इच्छा नहीं करता, ज्ञात होता है कि तुम किसी और बन्धन से युक्त हो, जैसे कि घोड़ा अपनी रासों से बंधा हुआ होता है वा बृक्ष किसी लता के बंधन से बंधा हुआ होता है ॥

अन्यमूषुत्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् । तस्यवा त्वं मन इच्छासवात वाधा कृणुष्वसंविदं सुभद्राम् ॥ १४ ॥

अर्थ–यम यह बोला कि हे यमी तू (अन्यं उ) नाम अन्य पुरुष को (परिष्वज) मिल और अन्य पुरुष तुमको (परिष्वजाते) मिले, दृष्टान्त यह है कि जैसे लिबुजा नाम लता बृक्ष से संग करती है इस प्रकार तू अन्य पुरुष का संग कर और उसके मन को वशीभूत करने की तू इच्छा कर, और वह तुम्हारे मन को

वशीभूत करने की इच्छा करे इससे तू (सुभद्राम्) नाम कल्याण को अनुभव कर। इस प्रकार यम व्रतधारी यम ने उसके प्रलोभनं कर्तृ यमी स्त्री को यह उत्तर दिया ॥

इस सूक्त पर प्रति पक्षी लोग बहुत आक्षेप किया करते हैं पर हमारे विचार में इस प्रकार मीमांसा करने से इस में कोई दोष नहीं आता ॥

इति नियोग विषयः

(४८) "स्तुति" जिसमें गुणों का कीर्तन किया जाता है वह स्तुति कहलाती है । इस में यथावस्थित गुणों का कीर्तन किया जाता है, इस का फल गुणी में प्रेम की दृढ़ता है । इस वैदिक मन्तव्य में पौराणिक स्तुति से भेद यह है कि इस में यथावत् गुणों की स्तुति की जाती है न कि पौराणिक स्तोत्रों के सम असम्भव गुणों की ॥

वैदिक मंत्र इस विषय में निम्न लिखित हैं:—

विष्णोनुकं प्रावोचं वीर्याणि यः पार्थिवानिविममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमा णस्त्रेधोरुगायः ॥ अथर्व० ७ । ३ । १ ।

अर्थ-(विष्णो) नाम व्यापक परमेश्वर के (नु) शीघ्र (वीर्याणि प्रावोचं) नाम बलों को कथन करता हूं (यः पार्थिवानि विममे) नाम जिस विष्णु परमात्मा ने पर्थिव द्रव्या को बनाया है, और (रजांसि) नाम रजोगुण सम्बन्धि लोकों को बनाया है और (अस्कभायत्) नाम जो सब को स्वाश्रित करता है वह विष्णु

(विचक्रमाणस्त्रेधा) नाम तीन प्रकार से गति करता हुआ, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूप गति करता हुआ (उर्गायः) महात्मा लोगों से स्तुति किया जाता है। उस विष्णु के वीर्यों को मैं कथन करता हूं॥

प्रतद् विष्णुस्तवते वीर्य्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः॥ २
यस्योरुषत्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो विक्रम स्वोरुक्षायाय नस्कृधि घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३॥

अर्थ—(प्रतद्विष्णुः) इस मंत्रका भाव आर्य्यमन्तव्यप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखागया है, पर इस अथर्व के मन्त्र के उत्तरार्द्ध में भेद है इसलिये हम फिर व्याख्या करते हैं।

(प्रतद् विष्णुः) नाम वह विष्णु यहां वैदिक होनेसे लिङ्ग का वित्यय है अर्थात् "सविष्णु" के स्थान में "तद् विष्णु" है। (प्रस्तवते) नाम स्तुति किया जाता है वह विष्णु (मृग॰) नाम सिंह है पर (न भीमः) नाम भयानक सिंह नहीं, अर्थात् "सिंहो माणवकः" के समान उसको उपचार से सिंह कहा गया है, (कुचरः) पृथिवी में विचरता हुआ (गरिष्ठाः) गिरिके शिखर परभी स्थिर है अर्थात् सर्वव्यापक होने के कारण उसके पृथिवी में रहने और पर्वत शिखरमें रहने का निरोध नहीं आता। और वह विष्णु (परस्याःपरावत) नाम दूरसे दूर देशसेभी (आजगम्यात्)

नाम हमारे पास आता है। अर्थात् सर्व व्यापक होनेसे उसमें देशकृत परिच्छेद नहीं। जिस विष्णु के (त्रिषुविक्रमणेषु) नाम उत्पत्ति स्थिति प्रलय का हेतु जो शक्ति उसमें सम्पूर्ण भुवन स्थिर हैं। और फिर वह कैसा है जो पृथिवी, अन्तरिक्ष, और द्यौ लोक में अपनी (पाद) नाम स्वरूपभूत शक्ति को स्व सत्ता से दृढ़ रखता है, फिर वह विष्णु कैसा है कि जो (घृतयोनि) नाम दीप्ति की योनि है घृ—भासे से घृत शब्द सिद्ध होता है जिसके अर्थ दीप्ति के हैं अर्थात् वह स्वतः प्रकाश है। उससे प्रार्थना है कि हे घृत योने तू सम्पूर्ण दीप्तिवाले पदार्थों को (पिव) नाम ग्रहणकर और (प्रयज्ञपतिंतिर) नाम प्रकर्षेण यजमान को वढ़ा।

उक्त दूसरे मंत्र से आधुनिक सनातनी नृसिंहावतार निकालते हैं जिसका समाधान हम आर्य्यमन्तव्यप्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास में कर आए हैं। यहां इतना और लिखते हैं कि इसके सायण में नृसिंहावतार का गन्धमात्र भी नहीं।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधेपदा। समूढमस्य पांसुरे॥ ४॥

अर्थ—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (इदंविचक्रमे) नाम इस विश्वको वनाया और (त्रेधानिदधेपदा) नाम तीन प्रकार से इस प्राप्तप्रकृति को रक्खा अर्थात् परमात्माका साधनरूप जो यह प्रकृति है इसको तीन प्रकार से रक्खा। पृथिवीरूपसे, अन्तरिक्ष-रूपसे, और द्यौरूपसे। (समूढमस्यपांसुरे) नाम इसके स्वरूप में यह सम्पूर्ण विश्व स्थिर है।

यह मंत्र यजुर्वेद में भी आया है महीधर इसके वावनावतारके अर्थ करते हैं, यहां स्तुति विषय में यह दुवारा इस अभिप्राय से लिखागया है कि स्तुतिविधायक पूर्वोक्त तीन मंत्रों में इसकी सङ्गति तभी रहती है जब यह निराकार का प्रतिपादक मानाजाय। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भेद इतना है कि वहां "त्रेधानिदधे पदम्" है और यहां "त्रेधा निदधे पदा" है जिसके अर्थ प्रकृति के स्पष्टरीति से हो सकते हैं, यदि पद के अर्थ पैर भी माने जायें तबभी विष्णुके पदके अर्थ विष्णु के स्वरूप के होते हैं। जैसा कि निर्विशेषवादी मधुसूदन स्वामी ने संक्षेप शारीरक की टीकामें यह लिखा है :—

पदत्वं चाविद्यातिरोधानापनयनाय सर्वपद नीयत्वेन स्वरूपस्य द्रष्टव्यं। तद्विष्णोः परमं पदमिति श्रुतेः।

अर्थ—(पद) नाम विष्णु के स्वरूप का है क्योंकि अविद्या रूपी जो तिमिर उसके दूर करनेवाला व्यापक परमात्मा का स्वरूपही हो सक्ता है अथवा सब लोगों का प्राप्य होने से विष्णु के स्वरूप को पद कहागया है और यह बात "तद्विष्णोपरमं पदम्" इस श्रुति में प्रसिद्ध है। इस प्रकार पद नाम विष्णु के स्वरूप का होसक्ता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि उस स्वरूप को उसने तीन प्रकार से कैसे रखा ? तो इसका उत्तर यह है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, इसलोक त्रय में व्यापक होनेके अभिप्राय से उसमें तीन प्रकार से रखना उपचार से कथन किया गया है

अथवा "तद्विष्णो:परमंपदम्" इस मंत्र मे पद शब्द के अर्थ योग्यता के बलसे स्वरूप के हैं और "त्रेधानिदधेपदम्" यहां योग्यता के बल से प्रकृति के हैं।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

अर्थ—(विष्णुर्गोपा) नाम रक्षा करनेवाला विष्णु (त्रीणिपदा विचक्रम) नाम तीन प्रकार से संसार की उसने स्थिति की और इस से सब धर्मों को स्थिर किया।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

अर्थ—हे उपासको तुम (विष्णोः) व्यापक परमात्मा के (कर्माणि) नाम गति रूप क्रियाओं को (पश्यत) नाम देखो (यतो) नाम जिन कर्मों से वह परमात्मा (व्रतानि) नाम तुम्हारे कर्तव्यों को (पस्पशे) नाम बांधता है अर्थात् स्थिर करता है, फिर वह परमेश्वर कैसा है (इन्द्रस्ययुज्यः सखा) नाम प्रजा पालनकर्ता राजा का योग्य सखा है अर्थात् जो धर्म पूर्वक प्रजा पालन करता है उसको सहायता देता है॥

तद्विष्णोः परमंपदं सदापश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(तद्विष्णोः) नाम पूर्वोक्त व्यापक परमात्मा के (परमंपदं) नाम स्वरूप को (सदा पश्यन्ति सूरयः) सदा बुद्धिमान लोग